उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

# MAHI-106
रीडर
हिन्दी भाषा और
साहित्य का इतिहास

# हिन्दी भाषा और साहित्येतिहास विवेचना
(आलोचनात्मक लेखों का संग्रह)

**संकलन और संपादन**
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी
**सहयोग**
संजीव कुमार

MAHI-106/1

## पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

| | |
|---|---|
| प्रो. ओम अवस्थी | संकाय सदस्य |
| प्रो. गोपाल राय | प्रो. वी. रा. जगन्नाथ |
| प्रो. रामवर सिंह | (कार्यक्रम संयोजक) |
| प्रो. नित्यानंद तिवारी | डॉ. जवरीमल्ल पारख |
| प्रो. निर्मला जैन | डॉ रीता रानी पालीवाल |
| प्रो. प्रेम शंकर | डॉ.सत्यकाम |
| प्रो. मुजीब रिजवी | डॉ.राकेश वत्स |
| प्रो. मैनेजर पाण्डेय | डॉ. शत्रुध्न कुमार |
| प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी | डॉ. नीलम फारूकी |
| प्रो. लल्लन राय | सुश्री स्मिता चतुर्वेदी |
| प्रो. शिवकुमार मिश्र | डॉ. विमल खांडेकर |
| प्रो. शिव प्रसाद सिंह | |
| प्रो. सूरजभान सिंह | |

अप्रैल 2003 (पुनः मुद्रित)

© इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय,2002

ISBN-81-266-0408-5

सर्वाधिक सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण)द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नही है। इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय मैदान गढ़ी नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की और से प्रो. पी. एन. पंडित निदेशक ( मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

आवरण : श्री पंकज खरे

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय प्रयागराज की ओर से विनय कुमार कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित वर्ष–2023
2021

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा. लि. 42/7 जवाहर लाल नेहरू रोड, प्रयागराज, 211002

MAHI-106/2

# अनुक्रमणिका


| | | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|
| 1) | इतिहास का नया दृष्टिकोण : डॉ. नामवर सिंह | 9 |
| 2) | हिंदी साहित्य के इतिहास का महत्व : डॉ. रामविलास शर्मा | 27 |
| 3) | समाज, जनता और साहित्य का इतिहास : डॉ. मैनेजर पांडेय | 40 |
| 4) | अपभ्रंश और हिंदी का साहित्यिक सम्बन्ध : डॉ. नामवर सिंह | 49 |
| 5) | उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन में कबीर और उनके निर्गुणपंथ की स्थिति : डॉ. लल्लन राय | 79 |
| 6) | मध्ययुगीय भक्ति-आन्दोलन का एक पहलू : गजानन माधव मुक्तिबोध | 88 |
| 7) | भक्ति आन्दोलन की क्रांतिकारिता बनाम् जनवादी चिन्ताधारा की विरासत : डॉ. लल्लन राय | 99 |
| 8) | रीतिकाल : एक क्षयी युग : त्रिलोचन शास्त्री | 128 |
| 9) | रीतिकाल का नया मूल्यांकन : रामधारी सिंह दिनकर | 135 |
| 10) | खड़ी बोली की कविता : पृष्ठभूमि : सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन | 158 |
| 11) | द्विवेदीयुग की सामाजिक चेतना और कविता : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य : डॉ. रामविलास शर्मा | 187 |
| 12) | छायावाद : शक्ति काव्य : डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी | 200 |
| 13) | नाट्य समीक्षा और कथा समीक्षा : डॉ. निर्मला जैन | 212 |
| 14) | हिन्दी : डॉ. मलिक मोहम्मद | 229 |
| 15) | हिंदी, उर्दू हिंदुस्तानी : ऐतिहासिक संदर्भ : रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव | 250 |
| 16) | मानक हिन्दी वर्णमाला तथा अंक | 271 |


XTERM-020

# आभार

इस पुस्तकों में संग्रहीत रचनाओं के प्रकाशन की अनुमति प्रदान करने हेतु लेखकों, प्रकाशकों और कॉपीराइट धारकों के प्रति इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय आभार व्यक्त करता है। "मानक हिन्दी वर्णमाला एवं अंक" के लिए भी विश्वविद्यालय केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय को आभार व्यक्त करता है।

# भूमिका

एम. ए. (हिन्दी) के पाठ्यक्रम-6 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' से संबंधित पाठ्य सामग्री के अध्ययन के एक अंग के रूप में यह आलेख संग्रह तैयार किया गया है। अब तक आपने आठ खण्डों में प्रस्तुत हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास से संबद्ध 32 इकाइयों का अध्ययन कर लिया होगा। पाठ्यक्रम के प्रथम छह खण्ड हिन्दी साहित्य तथा अंतिम दो खण्ड हिन्दी भाषा के इतिहास पर आधारित हैं। सभी खण्डों के अंत में उस खण्ड के विषयों से संबंधित उपयोगी पुस्तकों की सूची भी हमने दी है, जिनका आप अतिरिक्त अध्ययन सामग्री के रूप में अध्ययन कर सकते हैं। विषय विशेष की अधिक जानकारी के लिए संभव है कि आपको सभी उपयोगी पुस्तकें या ग्रंथ उपलब्ध न हो सकें। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए हमने यह संग्रह तैयार किया है। इस संग्रह को तैयार करते समय हमने यह प्रयत्न किया है कि हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास एवं विकास से संबंधित जो सामग्री हम इस पुस्तक में शामिल करें उनसे आपको इस पाठ्यक्रम के विषयों को समझने में अधिक सहायता मिले।

इस पुस्तक के पहले तीन निबंध हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका से संबद्ध हैं। पहला आलेख 'हिन्दी साहित्य के इतिहास का महत्व' है, जिसके लेखक डॉ. रामविलास शर्मा हैं। लेखक का कहना है कि साहित्य के इतिहास द्वारा ही जाति अपने अस्तित्व को पहचानती है। इतिहास साहित्य और समाज के गतिशील स्वरूप को पहचानने का साधन है। अपने लेख में वे यह भी मानते हैं कि सृजनशील अभिव्यक्ति (साहित्य) किसी सामाजिक अथवा साहित्यिक आन्दोलन से जुड़ी होती है। लेख में आगे उन्होंने कला के विविध रूपों का, विकास और सामाजिक गतिशीलता के संदर्भ में विवेचन किया है। दूसरा आलेख डॉ. नामवर सिंह का है। इस लेख में नामवर जी ने इतिहास विरोधी शक्तियों को पहचानते हुए इतिहास की वास्तविकता का विवेचन किया है। इतिहास की वास्तविकता को उन्होंने सामाजिक संदर्भों के साथ विकसित इतिहास दृष्टि से प्रमाणित किया है। साथ ही हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक की अंतर्दृष्टि का विवेचन करते हुए उसकी विसंगतियों को रेखांकित किया है। नामवर जी भौतिकवाद को ज्यों को त्यों साहित्य के इतिहास के लिए आरोपित करना उचित नहीं समझते हैं। वे साहित्य के रूपगठन के बुनियादी नियमों की पहचान और परख को आवश्यक मानते हैं। लेख में आगे उन्होंने भाववादी और भौतिकवादी दृष्टि के अंतर्विरोध को गहराई से पकड़ा है। उन्होंने समाज और साहित्य के जैविक संबंधों को भी प्रस्तावित किया है। तीसरा आलेख डॉ. मैनेजर पांडेय का है। डॉ. पांडेय का मानना है कि समाज में होने वाले परिवर्तन साहित्य को प्रभावित करने के साथ-साथ उसे प्रेरित भी करते हैं। इस निबंध में लेखक ने आ. रामचंद्र शुक्ल की इतिहास

दृष्टि पर चर्चा की है। निबंध के अंत में डॉ. पांडेय ने आचार्य शुक्ल के दृष्टिकोण को ऐतिहासिक और वस्तुवादी माना है। उनका यह भी मानना है कि आचार्य शुक्ल सामंती और पूँजीवादी जीवनमूल्यों का विरोध करते हैं तथा जनवादी संस्कृति और कलामूल्यों के पक्षधर हैं।

पाठ्यक्रम में हमने आपको आदिकाल की पृष्ठभूमि तथा आदिकालीन साहित्य की इकाइयों के अंतर्गत अपभ्रंश भाषा और साहित्य की संक्षिप्त जानकारी दी है। इस विषय की अधिक समझ तथा अपभ्रंश और हिन्दी के साहित्यिक संबंध को स्पष्ट रूप से जानने और समझने के लिए हमने इस पुस्तक में डॉ. नामवर सिंह का लेख 'अपभ्रंश और हिन्दी का साहित्यिक संबंध' शामिल किया है। नामवर जी का मानना है कि अपभ्रंश और हिन्दी के ऐतिहासिक संबंध को विस्तार से समझने की आवश्यकता है। इस निबंध को पढ़कर आपको यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि हिन्दी के लिए अपभ्रंश ने किस प्रकार एक पृष्ठभूमि तैयार करने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

अगले तीन आलेख भक्तिकालीन साहित्य से संबंधित हैं। एक आलेख मुक्तिबोध का तथा दो डॉ. लल्लन राय के हैं। 'उत्तर भारतीय भक्ति आंदोलन में कबीर और उनके निर्गुण पंथ की स्थिति' के लेखक डॉ. लल्लन राय हैं। इस लेख में डॉ. राय ने यह बताने की चेष्टा कि है कि उत्तर भारत का भक्ति आंदोलन यदि एक सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलन था तो उसमें कबीर तथा उनके निर्गुण पंथ की भूमिका उस विरोधी शक्ति की है, जिसने 'हिन्दू, मुस्लिम, सामंती शोषण और उसकी सामाजिक धार्मिक कट्टरता' का खुलकर विरोध किया। लेख के अंत में लेखक ने यह आह्वान किया है कि वर्णाश्रित व्यवस्था के विरोध में भक्ति युग में जो संघर्ष किया गया उसे आज फिर से छेड़ने की ज़रूरत है। भक्ति-आंदोलन से संबंधित इन आलेखों के अध्ययन से आप भक्ति आंदोलन तथा उसकी निर्गुण एवं सगुण शाखा के विशिष्ट पक्षों से परिचित हो सकेंगे। निर्गुण भक्ति एवं सगुण भक्ति के अंतर्गत चारों शाखाओं पर हमने खण्ड में एक-एक इकाई रखी है। भक्ति काव्य से संबंधित तीनों आलेख यह समझ स्पष्ट करते हैं कि ये भक्त कवि समाज के किस से आए और उनके भक्ति साहित्य पर उसका क्या प्रभाव पड़ा?

रीतिकालीन साहित्य पर हमने इस संग्रह में दो आलेख संग्रहीत किए हैं । पहला 'रीतिकाल : एक क्षयी युग' है जिसके लेखक त्रिलोचन शास्त्री जी हैं। रीतिकाल के अधिकांश कवि दरबारी थे। उन्होंने साधारण जनता के कष्टों और त्रासदियों को अपने साहित्य में कहीं स्थान नहीं दिया। इस युग के पहले और बाद के युग का साहित्य जनता से पूरी तरह जुड़े होने का साहित्य है। इस लेख में लेखक रीतिकाल को 'दो उजालों (भक्तिकाल एवं

भारतेन्दु युग) के बीच अंधेरे ' का युग मानते हैं। दूसरा आलेख डॉ. रामधारी सिंह दिनकर का 'रीतिकाल का नया मूल्यांकन' है। उनका कहना है कि रीतिकाल को जितना भी कोसें रीतिकालीन साहित्य का हिन्दी काव्य के इतिहास में एक विशेष महत्व है। लेख में आगे उन्होंने रीतिकालीन कवियों के साहित्य की कुछ प्रमुख विशेषताओं पर ध्यानाकर्षित किया है।

पाठ्यक्रम के खण्ड चार की इकाइयों के अन्तर्गत हमने आधुनिक काल की पृष्ठभूमि की चर्चा करने के साथ-साथ भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और छायावाद का परिचय दिया है। इस पुस्तक के अगले तीन आलेख इन्हीं विषयों से सम्बद्ध हैं। 'खड़ी बोली की कविता : पृष्ठभूमि' में अज्ञेय जी ने खड़ी बोली के उदय और उत्थान के कारणों को स्पष्ट किया है। लेख में आगे चलकर उन्होंने द्विवेदी युग, छायावाद और उत्तर छायावादी कवियों की विशेषताओं का अंकन किया है। दूसरा आलेख द्विवेदी युग से संबंधित है। इसके लेखक डॉ. रामविलास शर्मा हैं। लेखक ने द्विवेदी युग की विचारधारा को महत्वपूर्ण सिद्ध किया है। यह आलेख द्विवेदीयुगीन साहित्य के प्रति एक नवीन दृष्टि से परिचित कराता है। 'छायावाद' से संबंधित लेख डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी का है। लेखक ने छायावाद को 'शक्ति काव्य' माना है। अपने आलेख में उन्होंने छायावाद की कुछ प्रमुख कृतियों एवं कविताओं पर इसी दृष्टि से विचार किया है।

हिन्दी गद्य साहित्य के अन्तर्गत हमने पाठ्यक्रम के खण्ड छह में कथा साहित्य, नाट्य साहित्य, आलोचना, संस्मरण, रेखाचित्र, आत्मकथा, जीवनी आदि गद्य विधाओं के इतिहास और विकास पर चर्चा की है। इस पुस्तक में हमने डॉ. निर्मला जैन की पुस्तक 'हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी' से एक लेख का संग्रह किया है। इसमें लेखिका ने नाट्य समीक्षा तथा कथा समीक्षा पर विविध समीक्षकों एवं उनके समीक्षात्मक लेखों पर चर्चा की है। सातवें दशक के कुछ उदीयमान आलोचकों तथा उनकी कृतेयों के विषयों का भी परिचय दिया है।

पाठ्यक्रम के अंतिम दो खण्ड हिन्दी भाषा के इतिहास से संबद्ध हैं। इस पाठ्यक्रम में हमने भाषा के इतिहास को इस कारण जोड़ा है कि भाषिक परम्पराएँ साहित्यिक सृजन को भी प्रभावित करती हैं। साहित्यिक विधाओं और धाराओं कों हम भाषा के परिप्रेक्ष्य में अच्छी तरह समझ सकते हैं। आप तो जानते ही हैं कि साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन में हम उसकी भाषा शैली की विशेषताओं की भी चर्चा करते हैं।

पाठ्यक्रम में हमने संस्कृत से आधुनिक हिन्दी तक के विकास क्रम को देखा और साथ में

आधुनिक हिन्दी के प्रकार्यों और प्रयोजनों की भी चर्चा की। पाठ्यसामग्री के अतिरिक्त हम यहाँ दो आलेख भी अतिरिक्त पठन के लिए जोड़ रहे हैं। इन आलेखों की प्रस्तुति की अपनी दृष्टि है और लेखक अपने ढंग से उस बात को सामने रखते हैं, जिसे हमने तटस्थ दृष्टि से पाठ्य सामग्री में प्रस्तुत किया था। डॉ. मलिक मोहम्मद के आलेख में भाषा के उद्‌भव के संदर्भ में लोकभाषा, साहित्यिक भाषा और शिष्ट भाषा की चर्चा की गई है और इनमें प्राप्त अंतर को लेखक ने व्यापकता; स्थिरता आदि कारकों के संदर्भ में देखने की कोशिश की है। इसी प्रकार दूसरे आलेख 'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के ऐतिहासिक संदर्भ' में डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने इन तीनों रूपों के विकास क्रम को सामाजिक अस्मिता के संदर्भ में देखने की कोशिश की है और उन्होंने विविध विद्वानों के विचारों को भी विस्तार से प्रस्तुत किया है।

स्थान की सीमा के कारण हम चाहते हुए भी और आलेख नहीं दे पाए है। लेकिन हमने यह आवश्यक समझा कि हिन्दी वर्णमाला, अंक तथा वर्तनी के मानकीकरण के लिए केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने जो महत्वपूर्ण कार्य किया है, उससे आप परिचित हों। हम निदेशालय के मानकीकृत संबंधी पत्रक को यथारूप आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

पाठ्यक्रम के विभिन्न खण्डों के साथ ही आप इस पुस्तक का अध्ययन करें। हमें आशा है कि खण्डों में दी गयी पाठ्यसामग्री को अधिक गहन और विस्तार से समझने में यह पुस्तक आपकी सहायता करेगी।

स्मिता चतुर्वेदी

# 1. इतिहास का नया दृष्टिकोण

डॉ. नामवर सिंह

मनुष्य अपने इतिहास का ही नहीं, इतिहास विधायक दृष्टिकोण का भी निर्माण करता है और 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' जीवन-जगत् के प्रति ऐसा ही सर्वव्यापी दृष्टिकोण है जिसे आधुनिक युग की इतिहास शिल्पी शक्तियों ने गढ़कर अस्त्र के रूप में अपनाया है। परंतु अभी तक इसे संपूर्ण मानव जाति नहीं अपना सकी है; कुछ इतिहास विरोधी शक्तियाँ इसकी प्रगति में बाधा डालने के लिए नित्य नए शगूफे छोड़ रही हैं – कभी खंडन तो कभी संशोधन; कभी परंपरा के नाम पर उसका बहिष्कार तो कभी उसके पुराने पड़ जाने की शिकायत, आदि आदि। इस तरह के प्रयत्न दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, भाषा-विज्ञान आदि अन्य विचार प्रणालियों की तरह साहित्य में भी हो रहे हैं। तैयार तो हर क्षेत्र में हर पहलू से भ्रांति-निवारण के लिए रहना है, परंतु इस समय मानवात्मा के शिल्पी साहित्यकारों के लिए आवश्यक हो उठा है कि साहित्यिक इतिहास के क्षेत्र में भी उस ऐतिहासिक दृष्टिकोण का निर्वचन करें। इतिहास का वह दृष्टिकोण लोगों के लिए अब अपरिचित नहीं रहा कि उसके मौलिक सिद्धांतों को दुहराया जाए; प्रत्येक आवश्यकता के सम्मुख उसे प्रस्तुत करना ही प्रयत्न की नवीनता है। आज ऐसे ही प्रयत्न की आवश्यकता है।

परंतु इतिहासलेखन का कार्य एकदम नए सिरे से नहीं शुरू करना है। ऐतिहासिक अध्ययन की हमारी अपनी परंपरा है। जब तक हम उस परंपरा का विश्लेषण नहीं कर लेते, हमारा नया प्रयत्न अपूर्ण होगा। नई परिस्थिति में इतिहास का उपयोग करते समय पूर्ववर्ती इतिहासकारों का अनुशीलन अत्यंत आवश्यक है।

पिछले सौ वर्षों से हिंदी साहित्य के तथाकथित इतिहास-ग्रंथ निकलते आ रहे हैं और समयानुसार उनके दृष्टिकोणों तथा प्रणालियों में विभिन्नता रही है। उन्नीसवीं सदी के प्राय: सभी इतिहास-ग्रंथ संग्रह हैं। ये संग्रह भी तरह-तरह के किए गए हैं। फ्रांसीसी लेखक गार्सा द तासी ने इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई ऐं ऐंदुस्तानी (1839 और 1846 ई.) में 70 कवियों का संग्रह वर्णानुक्रम से किया तो शिवसिंह सेंगर ने शिवसिंह सरोज (1877 ई.) में यों ही एक सहस्र कवियों का वृत्त एकत्र कर दिया है जिसमें संक्षिप्त जीवनवृत्त के साथ कविताओं के उदाहरण भी हैं। ग्रियर्सन ने माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव नॉर्दर्न हिंदोस्तान (1889 ई.) में शिवसिंह सरोज की ही सामग्री को कालक्रम से इतिहास का रूप देने की चेष्टा की। इन संग्रहों का प्रयोजन शायद हिंदी साहित्य का केवल

परिचय देता था और जैसा प्रयोजन वैसा निर्वचन। उन्होंने कुछ प्रसिद्ध और ज्ञात कवियों की सूची छाप दी। यह प्रवृत्ति साहित्य के इतिहास में ही नहीं थी बल्कि उस युग के समस्त ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अंग-मात्र थी। इतिहास का अर्थ था व्यक्तियों की सूची और उसका उपयोग था कोरी जानकारी प्राप्त करना अथवा अधिक-से-अधिक काव्य के उदाहरणों का रसास्वादन।

आज ऐसे ऐतिहासिक दृष्टिकोण के उपयोग का सवाल उठाना तो दूर, उसके कुछ दिनों बाद ही समाज ने उसे छोड़ दिया। सांस्कृतिक पुनरुत्थान की लहर ने हमारे देश में नई चेतना ला दी। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीयता की भावना उमड़ी। विदेशियों के विरुद्ध अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की आकांक्षा हुई। वर्तमान तो उनका दास था, इसलिए अतीत का सहारा लिया गया। स्वतंत्रता के संग्राम में इतिहास का उपयोग पहली बार करने की चेष्टा की गई। इस प्रवृत्ति ने एक ओर अतीत के छिपे रत्नों को खोजने के लिए प्रेरित किया तो दूसरी ओर उन रत्नों को पुराने-से-पुराना सिद्ध करने तथा विदेशी प्रतिभाओं की तुलना में गौरवशाली दिखाने का प्रोत्साहन दिया। इस भावना ने पूर्ववर्ती इतिहासों के तथ्यपरक कंकाल को त्वचा से ढँककर आकार प्रदान किया। उस युग के साहित्य ही नहीं, सभी विषयों के इतिहासों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। नागरी प्रचारिणी सभा ने व्यापक रूप से (1900-1911 ई.) कवियों की खोज का काम शुरू किया और उसके द्वारा आठ जिल्दों में प्रकाशित रिपोर्टों के आधार पर मिश्रबंधुओं ने लगभग 5000 कवियों का विशाल वृत्त-संग्रह मिश्रबंधु विनोद तीन भागों में (1913 ई.) लिख डाला। हिंदी नवरत्न इसी का सार तथा पूरक बनकर सामने आया। इन प्रयत्नों ने ढंग तो पुराना ही रखा, परन्तु यह दिखा दिया कि कवि-संख्या की दृष्टि से हिंदी साहित्य का इतिहास किसी साहित्य से हीन नहीं है और इसमें ऐसे नवरत्न भी हैं जो ऊँचाई में उन्नीस नहीं हैं।

शीघ्र ही पुनर्जागरण की भावना वैयक्तिक धरातल से आगे बढ़कर व्यापक सामाजिक क्षेत्र के रूप में उतरी और गाँधीजी के साथ राष्ट्रीयता की भावना ने विकास का नया चरण रखा। विचारों में सामाजिक चेतना आई। इतिहास में व्यक्तियों के सहारे समूची जाति का कार्यकलाप दिखाने की चेष्टा होने लगी। व्यक्ति अपनी समस्त परिस्थितियों के साथ वर्णित हुआ। साहित्य का इतिहास अलग-अलग कवियों की समीक्षाओं का संग्रह था, अब विभिन्न युगों की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों के वर्णन से भी संवलित हो उठा। एक युग तथा एक प्रकार की रचना करनेवाले कवियों की सामान्य विशेषताओं के अनुसार प्रवृत्तियों तथा युगों का विभाजन किया गया और इन साहित्यिक प्रवृत्तियों को तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक घटनाओं से सम्बद्ध करने का प्रयत्न हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास (1929 ई.) और डा. श्यामसुन्दरदास का हिन्दी भाषा

और साहित्य (1930 ई.) इस युग के प्रतिनिधि इतिहास हैं। इन दोनों में भी शुक्ल जी के इतिहास को अग्रणी तथा पथप्रदशक मानना चाहिए।

मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी साहित्य के जिस कंकाल को आकार-भर दिया था उसमें शुक्लजी ने रक्त-संचार किया और साथ ही उसे मांसल भी बनाया। ढाँचा मिश्रबन्धु विनोद का ही था; सामग्री भी वही थी। शुक्लजी ने उस संग्रह से संकलन किया; खोज से प्राप्त नयी सामग्री के अनुसार यत्र-तत्र तिथि, स्थान तथा ग्रन्थ-संख्या सम्बन्धी संशोधन और विचार भी किया, लेकिन उनका मन तथ्यों की छानबीन की ओर उतना नहीं रमा। उनकी रस-दृष्टि तथा विवेचनशील प्रतिभा कवियों के मूल्यांकन से अधिक खुली। कवियों के जीवनवृत्त, ग्रंथ-सूची आदि से आगे बढ़कर उन्होंने कवियों के साहित्यिक सामर्थ्य का उद्‌घाटन किया। सबकी रचना का नमूना देने का ढंग तो ज्यों-का-त्यों रहने दिया, परन्तु नमूनों को अधिक प्रतिनिधि तथा उत्कृष्ट बनाने की चेष्टा की। कवियों के नाम के पहले क्रम-संख्या देने का ढंग भी वही रहने दिया, परन्तु प्रवृत्ति-साम्य और युग के अनुसार कवियों को समुदायों में रखकर उन्होंने सामूहिक प्रभाव डालने की ओर ध्यान रखा। इसीलिए कुछ प्रवाह-पतित विशिष्ट कवियों को भी फुटकल खाते में डाल देना पड़ा। इस तरह इतिहास के आदि, मध्य, आधुनिक जैसे कोरे कालपरक विभाजन को उन्होंने वीरगाथा, भक्ति रीति और गद्य-काल की भावपरक क्यारियों में पुनः रोपने का उद्योग किया; साथ ही इन सबका सामान्य परिचय देकर एक ऐतिहासिक प्रवाह दिखाना चाहा। उन्होंने प्रवाह की गति का उत्थान-पतन भी दिखाया और 'लोक-संग्रह' की कसौटी पर इतिहास के समाजोन्मुख और समाज-पराङ्मुख युगों में अन्तर बतलाया। कुल मिलाकर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि शुक्लजी को जो इतिहास पंचांग के रूप में प्राप्त हुआ था उसे उन्होंने मानवीय शक्ति से अनुप्राणित कर साहित्य बना दिया।

बाबू साहब यह गहराई और बारीकी तो न निभा सके, लेकिन उन्होंने शुक्लजी के इतिहास के विच्छिन्न प्रवाह को क्रम-संख्या, रचनाओं का नमूना आदि बातें घटाकर अविच्छिन्न-सा दिखलाना चाहा। हाँ, उन्होंने शुक्लजी की अपेक्षा राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का खाता और लम्बा कर दिया।

फिर तो इन इतिहासों के पीछे लगी संक्षिप्त, मध्यम, सरल और सुबोध अनेक छात्रोपयोगी इतिहास-पुस्तकें आयीं जिनमें नकल छिपाने के लिए यत्किंचित् शुक्लजी की तथ्य-सम्बन्धी भूलों का सुधार और अधिक-से-अधिक कालों के नाम-परिवर्तन का सुझाव मिलता है। ये सभी प्रयत्न उसी सीमा में हुए, क्योंकि वह सीमा ऐतिहासिक और युगीन थी।

युग-परिवर्तन के साथ ही शुक्लजी के ऐतिहासिक दृष्टिकोण तथा पद्धति की सीमाएँ स्पष्ट होने लगीं। वस्तुत: इतिहास की वह प्रणाली उनके जीवन-जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण से ही निर्धारित हुई थी। उनके बाद वाली पीढ़ी को 'शुक्ल-इतिहास' में सामाजिक परिस्थितियों, साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा साहित्यिक व्यक्तियों के बीच जो कार्य-कारण सम्बन्धी असंगति दिखायी पड़ने लगी वह उनके और उनके युग के जीवन-जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण की असंगति थी। राष्ट्रीय आन्दोलन का वह गांधी-युग था जिसमें व्यक्ति और समाज में यथोचित घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित न हो सका था। मध्यवर्गीय व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के पीछे शेष जन-समूह नत्थी-भर था। विचार व्यापक जन-समाज से भिन्न थे। यही कारण है कि शुक्लजी के इतिहास में सामाजिक परिस्थितियाँ तथा साहित्यकार साथ-साथ रखे जाने पर भी एक-दूसरे से अलग हैं। जिस युक्ति से वे परिस्थितियों से उत्पन्न बताये जाते हैं वह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती, जैसे भक्त कवियों को मुसलमानी शासन की दासताजन्य निराशा से उत्पन्न बताना। युग-विभाजन करने में उनका 'औसतवाद' वाला सिद्धान्त भी इसी अलगाव का परिणाम है और उनके दृष्टिकोण की असंगति को और भी उभारकर रखता है। एक ही परिस्थिति में विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियों के अस्तित्व की संगति बैठाने में वे असमर्थ थे, क्योंकि उन्हें उन परिस्थितियों में पलनेवाली परस्पर-विरोधी विविध सामाजिक शक्तियों के अन्तर्विरोध का पता न था। इसीलिए उन्हें अपने इतिहास के हर युग में एक फुटकल खाता खोलना पड़ा। दृष्टिकोण की इसी सीमा के कारण उनके मूल्यांकन की पदावली भी सीमित अथवा आवृत्तिमयी रही। इसीलिए अपने युग का प्रतिनिधित्व करता हुआ भी शुक्लजी का इतिहास आगामी युग के लिए अपूर्ण प्रतीत हुआ।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की हिन्दी साहित्य की भूमिका (1940 ई.) ऐसे ही समय नवीन युग की भूमिका बनकर प्रकाश में आयी। पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी इतिहास-प्रणाली के स्थान पर सामाजिक अथवा जातीय ऐतिहासिक प्रणाली का आरम्भ करने वाली यह पहली हिन्दी पुस्तक है। अनेक साहित्यकारों का वैयक्तिक परिचय देने का मोह छोड़कर इस पुस्तक ने हिन्दी साहित्य के विराट् पुरुष और उसके सामूहिक प्रभाव तथा साहित्यिक इतिहास के माध्यम से युग-युगान्तर से आती हुई अबाध हिन्दी जाति की विचार-सरणी और भाव-परम्परा का दर्शन कराया। हिन्दी जाति तथा हिन्दी साहित्य के सम्यक् स्वरूप का परिचय देने के लिए आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी-पूर्व सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के सहज विकास के रूप में हिन्दी साहित्य का निरूपण किया। परम्परा के इतने विराट् परिदृश्य में हिन्दी साहित्य को रखकर देखने का यह पहला प्रयत्न था। इस नैरन्तर्य-निरूपण में समाज-साहित्यकार तथा साहित्य की परस्पर सम्बद्धता, क्रमबद्धता तथा गतिशीलता ऐसे सजीव और अंगांगिभाव से निभायी गयी कि अतीत वर्तमान की चेतना बन गया। यहाँ

सामाजिक परिस्थितियाँ घटनाओं के द्वारा सतही ढंग से वर्णित न थीं, बल्कि सजीव सामाजिक शक्तियों के क्रियाकलापों के माध्यम से अभिव्यक्त की गयीं। इसीलिए समाज और साहित्यकार में कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित करने में चूक नहीं हुई। हिन्दी साहित्य को संस्कृत और अपभ्रंश के ह्रासशील रूढ़ साहित्य के गर्भ से उत्पन्न लोकशक्ति की नवीन आकांक्षा कहना इसी सामाजिक दृष्टिकोण का परिणाम था। जो लोग केवल ऊपरी राजनीतिक परिवर्तनों के प्रभाव के अनुसार हिन्दी के भक्ति काव्य को निराशा से उत्पन्न कहते थे उनके लिए यह बहुत बड़ी चुनौती थी। इतना ही नहीं, सन्त और भक्ति काव्य को जाति-विरोधी तथा वर्ण-विरोधी दिखलाकर आचार्य द्विवेदी ने वस्तुत: अपने युग में प्रचलित प्राचीन सामन्ती जीवन-मूल्यों पर प्रहार किया। कुल मिलाकर यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के उद्गम-स्थलों का पता देते हुए रूढ़ि और नवीनता के ह्रास-विकास का संक्षिप्त रचनात्मक कोश है। आधुनिक युग के साहित्य की विधायक शक्तियों को पहचानते हुए भी भूमिका लेखक ने केवल गतिविधि का संकेत करके सन्तोष किया है। निस्सन्देह हिन्दी साहित्य की भूमिका नवीन युग और साहित्य के नवीन इतिहास की भूमिका है।

असंगतियाँ तो यहाँ भी हैं; जैसे सामाजिक ढाँचे के विवेचन में आर्य-अनार्य-मूलक जातिगत (रेशल) सिद्धान्तों का सहारा, जो 19वीं सदी के यूरोप का पूर्वग्रह था और जिसके कारण आगे चलकर 'फासिज्म' का उदय हुआ था। किन्तु उक्त ग्रन्थ से यह युक्ति हटा देने पर भी मूल स्थापना में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। इसी तरह, परम्परा-निर्वाह पर सम्भवत: अधिक बल प्रतीत होता है। इन कारणों से नवीन इतिहास की पृष्ठभूमि के रूप में इसे स्वीकार करते हुए भी हम इसके भाववादी दृष्टिकोण तथा प्रणाली को स्वीकार करने में असमर्थ हैं।

अब तक इतिहास के जिन दृष्टिकोणों और प्रणालियों की चर्चा हुई उनसे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि हर नये युग में समाज ने सामूहिक रूप से एक ही दृष्टिकोण का अवलम्बन किया। यह प्रतीति प्राय: उचित और सत्य है। इस बीच थोड़ा-बहुत अन्तर होते हुए भी स्वतन्त्रता के संघर्ष में भारतीय समाज के सभी स्तर प्राय: संयुक्त-से थे। इसलिए इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण और प्रणाली में भी आधारभूत मतभेद न था। परन्तु पाँचवें दशक से उक्त संयुक्त मोर्चे के स्तरों में मतभेद प्रकट होने लगा और यहीं से इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा प्रणालियाँ भी परस्पर-विरोधी आने लगीं। ऐसे दृष्टिकोणों में सबसे पहले जो सामने आया वह यह है कि इतिहास में 'दृष्टिकोण' के लिए कोई स्थान नहीं है; घटनाओं की खोज ही इतिहास है। इतिहास के इस तथ्यपरक दृष्टिकोण को 'वैज्ञानिकता' के नाम पर प्रचारित किया गया। इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास सम्बन्धी कुछ खोज-ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए। कुछ विश्वविद्यालयों ने इसी प्रणाली को शिक्षोपयोगी (ऐकैडेमिक) कहकर खोज का अधिकांश कार्य करवाया है।

इतिहास के प्रति ऐसा तथ्यपरक और नकारात्मक दृष्टिकोण अपने साहित्य का नया अनुसन्धान नहीं है, यूरोप में पिछले कई दर्शकों से बुर्जुआ इतिहासकार इस मत का प्रचार कर रहे हैं। वहाँ जब दार्शनिक और वैज्ञानिक स्तर पर ऐतिहासिक भौतिकवाद' का विरोध करते न बना तो बुर्जुआ इतिहासकारों ने इतिहास की प्रणाली को सर्वथा दृष्टिकोणरहित करने का नारा लगाया और तर्क दिया कि दृष्टिकोण-विशेष से इतिहास लिखने के कारण वह पूर्वग्रहस्त अथच विकृत हो जाता है। कहना न होगा कि यह भी एक दृष्टिकोण है। ऊपर से दृष्टिकोण का निषेध करते हुए भी दृष्टिकोण अपनाने की यह चाल आत्म-निषेध द्वारा अपनी सत्ता स्थापित करने के प्रयत्न जैसा है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि अपने यहाँ भी इतिहास का यह 'वैज्ञानिक' दृष्टिकोण उसी उद्देश्य से प्रयुक्त हुआ (क्योंकि यूरोप के हर नये विचार को बिना परख के अनजान भाव से अपनाया 'शुद्ध' विद्या-व्यसन भी तो हो सकता है), फिर भी यह दृष्टिकोण नकारात्मक तो है ही। तथ्य और विचार एकदम अलग नहीं किये जा सकते। जिस तथ्य-संग्रह में हम किसी योजना अथवा दृष्टिकोण का अभाव देखते हैं, वस्तुत: वह भी एक दृष्टिकोण ही है। 'हम किसी सामाजिक प्रयोजन के लिए ऐतिहासिक तथ्यों का उपयोग न करेंगे', यह 'शुद्ध' उद्देश्य समाज-निरपेक्षता तथा पराङ्मुखीनता का ही परिणाम है। आँकड़ों और घटनाओं की ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों तथा सामाजिक शक्तियों के प्रयत्नों के रूप में व्याख्या न कर सकना असमर्थता भी हो सकती है, लेकिन व्याख्या करने से इनकार करना शरारत है अथवा अपनी कमजोरी छिपाने का स्वाँग। तटस्थता और निष्पक्षता का अभिनय पर-प्रवंचना ही नहीं आत्म-प्रवचना भी है। मानव-इतिहास की प्रवहमान धारा और किनारा सब-कुछ मनुष्य ही है; तटस्थ कोई नहीं। जो विरोधी धाराओं के संघर्ष से घबड़ाकर निष्पक्षता में विश्राम करना चाहता है वह प्रवाह-पतित होकर अनजाने ही इतिहास-विरोधी धारा में जा पड़ता है। यद्यपि इन विद्वानों के तथ्य-संग्रह नए इतिहास के लिए उपयोगी हो सकते हैं, फिर भी आज ऐसे नकारात्मक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से काम नहीं चल सकता।

अब तक की समूची इतिहास-सम्पदा–खोज, मूल्यांकन आदि–को हम उत्तराधिकार के रूप में स्वीकार करते हैं और अपने पूर्ववर्ती इतिहास-शिल्पियों के ऋणी हैं कि उन्होंने हमारा भार बहुत-कुछ हल्का कर दिया है। हमारे लिए उनके तथ्य ही उपयोगी नहीं हैं, बल्कि

उनका वह उत्साह प्रेरणादायक है जिससे उन्होंने साम्राज्यवादी शक्तियों से संघर्ष करने में इतिहास का उपयोग किया और मानव-मुक्ति के अन्तिम लक्ष्य को निकट लाने में यथाशक्ति योग दिया। पिछली पीढ़ियों के निरन्तर प्रयत्न ने ही हमें इस ऐतिहासिक भूमिका में पहुँचाया है और अब हमारा कर्तव्य है कि आवश्यकता के वास्तविक रूप को पहचानकर इतिहास की व्याख्या और परिवर्तन का विधान करें। सौभाग्य से इसी आवश्यकता से उत्पन्न और साथ ही इसकी पूर्ति करने वाला वैज्ञानिक जीवन-दर्शन हमें उपलब्ध है। यह जीवन-दर्शन है: द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद यानी भौतिकवादी दृष्टिकोण और द्वन्द्वात्मक प्रणाली। सामाजिक जीवन के अध्ययन के लिए इसका विस्तार किया गया है और उसी विस्तार को ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं।

हमें यह उपलब्ध है, इसका यह अर्थ नहीं है कि 'रेडीमेड' की तरह इस्तेमाल करें। उपलब्ध वस्तु या विचार को भी प्राप्त करना पड़ता है और उसे हर आदमी स्वयं अपने लिए प्राप्त करता है। प्राप्त करने के लिए अध्ययन-मनन ही काफी नहीं है, बल्कि उसे जीवन-संघर्ष के हर क्षेत्र में कार्य-निर्देशक तथा अस्त्र के रूप में इस्तेमाल भी करना पड़ता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के प्रवर्त्तकों और योग्य अनुयायियों के साहित्य-विषयक बिखरे हुए विचारों को सी-तागकर सुथना तैयार करने से हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं ढँक सकता। हमें उन सूत्रों को केवल पथ-निर्देशक के रूप में सामने रखना चाहिए। ऐतिहासिक भौतिकवाद की यह पहली सीख है। अस्तु, सबसे पहले हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए द्वन्द्वात्मक प्रणाली का प्रयोग।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली की पहली विशेषता है–किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना या विचार को अन्य वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों के अविभाज्य प्रसंग में देखना। हिन्दी साहित्य कोई सर्वथा स्वतन्त्र, विच्छिन्न और असम्बद्ध इकाई नहीं है। वह अन्य विचार-प्रणालियों, साहित्यों और परिस्थितियों से परस्पर-सम्बद्ध है। यह सम्बन्ध सजीव है, मशीन के पुर्जों की तरह एक जगह फिट किया हुआ नहीं है। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य को पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य तथा समसामयिक अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य से अलग करके देखने की भूल की थी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसी भूल-सुधार के लिए मध्ययुग के हिन्दी साहित्य का पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य तथा समसामयिक अन्तर्प्रान्तीय साहित्य के परिवेश में अध्ययन किया। इसी तरह प्रत्येक साहित्यिक प्रवृत्ति के साथ राजनीतिक-सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए भी पूर्ववर्ती इतिहासकारों की परिस्थितियों और साहित्यिक प्रवृत्तियों का सजीव सम्बन्ध नहीं दिखलाया। ये सभी भूलें आध्यात्मिक प्रणाली के कारण हुईं।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली की दूसरी विशेषता है–वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों को गतिशील, परिवर्तनशील और क्रमबद्ध रूप में देखना। घटनाओं के सजीव सम्बन्ध का अर्थ ही यह है कि सम्बन्ध स्थिर नहीं है। हिन्दी साहित्य के विभिन्न युग और व्यक्तियों के सम्बन्धों में एक क्रम है; यह क्रम केवल कालानुक्रम ही नहीं है। इस क्रम में आन्तरिक विकास की गति का पता चलता है। क्रम गति से ही सम्भव है और गति का स्पष्ट अर्थ है उद्‌भव और नाश की कड़ी। एक साहित्यिक प्रवृत्ति के अन्त से ही दूसरी साहित्यिक प्रवृत्ति की उत्पत्ति जुड़ी हुई है। कुछ पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास बतलाते समय इस सिद्धान्त को भुलाकर एक ही प्रवृत्ति को शाश्वत और सनातन रूप में दिखलाने की चेष्टा की है। जैसे सन्त-परम्परा को उठाया तो नामदेव से लेकर गाँधी तक पहुँचा दिया और दिखलाया कि एक ही प्रवृत्ति शताब्दियों से अविकल रूप में चली आ रही है। हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों का इतिहास लिखनेवालों ने प्राय: इस उत्थान-पतन के गतिशील क्रम को भुला दिया है। बाबू साहब ने हिन्दी भाषा और साहित्य में वीरगाथाओं की परम्परा दिखाते समय यही भूल की है। यह भी आध्यात्मिक प्रणाली का दोष है।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली की तीसरी विशेषता है–विकास-क्रम को ऊर्ध्वोन्मुख और अग्रसर रूप में देखना। विकास का अर्थ पुनरावृत्ति अथवा वृत्ताकार परिक्रमा नहीं है। पुनरूत्थान युग के इतिहासकारों ने बहुत-सी वर्तमान प्रवृत्तियों को ज्यों-की-त्यों अतीत में खोज दिखाया और अतीत के स्वर्ण-युग के पुनरागमन की कल्पना की। छायावादी कविता की 'रोमाण्टिक भावना' को कुछ विचक्षणों ने रीतिकाल के घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि कवियों पर आरोपित कर दिया। इसी तरह बिहारी सतसई को गाहा सत्तसई के नजदीक बैठाया गया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की स्वच्छ दृष्टि ने इस तरह के भ्रमों का उच्छेद हिन्दी साहित्य की भूमिका में किया है। इतिहास में कोई प्रवृत्ति दुहरायी जाने पर उपहासास्पद हो जाती है जैसे रामायण के वजन पर आधुनिक युग में लिखा हुआ कृष्णायन। यह ऊर्ध्वोन्मुख विकास-क्रम सोद्देश्य है और निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। यदि इस बात को भुला दिया जायेगा तो फिर इतिहास के अध्ययन और निर्माण का प्रयोजन ही क्या होगा? पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने इसे लक्षित नहीं किया था, इसीलिए वे इतिहास के केवल स्याहानवीस बने रहे।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली की चौथी विशेषता है–वस्तुओं, व्यक्तियों, घटनाओं और विचारों में असंगति अथवा अन्तर्विरोध को पहचानना। उदाहरणस्वरूप भक्ति काव्य के लोकोन्मुखी यथार्थ और अलौकिकता में आश्रय लेनेवाले आदर्श में अन्तर्विरोध था। इस अन्तर्विरोध के समझने पर ही स्पष्ट हो सकता है कि किस प्रकार उनके अलौकिक तत्त्वों को लेकर पीछे सम्प्रदाय और मठ खड़े हो गये और लोकोन्मुखी यथार्थ ने 19वीं सदी के सांस्कृतिक

पुनर्जागरण को बल दिया। इसी तरह नायिकाभेद-परक रीतिवादी काव्य का उद्‌गम समझने के लिए कृष्णकाव्य के अन्तर्विरोधों का ज्ञान आवश्यक है। आधुनिक युग में छायावाद के अन्तर्विरोधों ने ही प्रगतिशील सामाजिक यथार्थ भावना को जन्म दिया। असंगतियों अथवा अन्तर्विरोधों के सहारे ही एक युग में पायी जाने वाली अनेक प्रवृत्तियों का कार्य-करण सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इसी प्रणाली के अभाव में शुक्लजी को अपने इतिहास में औसतवाद' का सहारा लेना पड़ा। युग-विशेष की प्रवृत्ति ही नहीं बल्कि प्रत्येक साहित्यकार तथा साहित्यिक कृति में यह असंगति मिलती है, क्योंकि वह असंगतिवाले समाज की उपज है। कभी-कभी लेखक के राजनीतिक-सामाजिक दृष्टिकोण तथा साहित्यिक चित्रण में असंगति दिखायी पड़ती है। इसीलिए इन बातों को ध्यान में रखने पर ही इतिहास का सम्यक् अध्ययन तथा साहित्यकारों का सही मूल्यांकन सम्भव है।

ऐसी ऐतिहासिक प्रणाली का सही उपयोग भौतिकवादी दृष्टिकोण से ही हो सकता है; क्योंकि साहित्य के इतिहास को परस्पर सम्बद्ध, क्रमबद्ध, गतिशील आवृत्तिहीन ऊर्ध्वमुख ढंग से वही देख सकता है जो उसे मूर्त्त और ठोस रूप में देखे। मनोलोकवासी आदर्शवादी विचारक इसे उक्त ढंग से नहीं देख सकते। यदि देखने की चेष्टा भी करें तो तस्वीर उन्हें उल्टी दिखायी पड़ेगी। इसलिए द्वन्द्वात्मक प्रणाली भौतिकवादी दृष्टिकोण का अनिवार्य अंग है।

साहित्य के इतिहास में भौतिकवाद का प्रयोग करते समय ऐतिहासिक भौतिकवाद' की पहली चेतावनी यह है कि विज्ञान, दर्शन, संगीत, चित्रकला आदि की भाँति साहित्य के भी अपने नियम हैं इसलिए उन नियमों की जानकारी पहले होनी चाहिए। यदि हम साहित्य की रूपतत्त्व सम्बन्धी विशेषताएँ नहीं जानते, तो भौतिकवाद के सामान्य सिद्धान्त इस दिशा में कोई सहायता नहीं कर सकते। साहित्य का भी अपना शास्त्र है और उस शास्त्र की महान् परम्परा है—रस-विवेक, अलंकार-विधान, पदचयन, छन्दोज्ञान, शैली-सिद्धि, नाट्य-विधान, औपन्यासिक कला, कहानी-कौशल आदि विविध अवयव है। साहित्य के इतिहासकार के लिए इनकी बारीकियों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन इन बारीकियों का जानना अपने-आपमें साध्य नहीं है। इन नियमों की जानकारी साधन ही हो सकती है—रचयिता के लिए भी और पाठक के लिए भी। केवल इसी हद तक साहित्य तथा उसके नियमों की सत्ता स्वतन्त्र है।

इसके अतिरिक्त साहित्य तथा उसके नियम अन्य वस्तुओं और विचारों से सम्बद्ध हैं। इसलिए साहित्य तथा उसके नियमों की जड़ें स्वयं साहित्य में ही नहीं हैं, बल्कि उसके बाहर हैं; बाहर का अर्थ है वातावरण, परिस्थिति और समाज। नहीं आदर्शवाद और भौतिकवाद में मतभेद है। भाववादी विचारक साहित्य की जड़ें व्यक्ति साहित्यकार के मन में खोजते

हैं जबकि भौतिकवाद उन जड़ों को उस समाज और परिस्थिति में खोजता है जिससे स्वयं व्यक्तिमन भी विकसित और निर्धारित हुआ है। समाज ने साहित्य को उत्पन्न किया है, साहित्य ने समाज को नहीं। इसलिए साहित्य का इतिहास समझने के लिए समाज के विकास का ज्ञान आवश्यक है।

परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि समाज से एक बार उत्पन्न हो जाने के बाद साहित्य स्वयं सामाजिक शक्ति बन जाता है और समाज के विकास में योग देता है। यदि ऐसा न हो तो फिर साहित्य की उपयोगिता ही क्या रहे। इसलिए मुख्य समस्या यही है कि कोई साहित्यिक कृति प्रभावशाली होने से पूर्व उत्पन्न कैसे हुई। इसके लिए हमें सामाजिक नियमों की ओर जाना होगा। किन्तु यहाँ भी यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि सामाजिक पृष्ठभूमि का अनुसन्धान साहित्य के अध्ययन का साधन मात्र है, साध्य नहीं। साहित्यिक विवेचन को समाजशास्त्रीय विवेचन बना देना अवैज्ञानिक है। सामाजिक पृष्ठभूमि का उपयोग साहित्यिक समस्याओं को समझने की कुंजी के रूप में होना चाहिए, इससे अधिक जोर देना गलत है।

भाववादी इतिहासकारों ने भी हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय भक्ति-काव्य, रीति-काव्य, छायावाद आदि की सामाजिक पृष्ठभूमि दी है और उससे उन काव्य-धाराओं का उत्पन्न अथवा प्रभावित होना भी दिखलाया है। किन्तु उनका सारा प्रयत्न चौखट में 'फिट' करने जैसा लगता है। वे ऐतिहासिक घटनाओं का हवाला देकर सीधे-सीधे लेखक तथा उनकी कृतियों को उसमें ला बिठाते हैं। कहना न होगा कि इस साँचेबाजी में लेखक और कृति की दुर्गति हो जाती है। यदि वह साँचे से बड़ा हुआ तो उसके अंग काट दिये जाते हैं और यदि वह छोटा पड़ा तो खींचकर बढ़ाने की चेष्टा की जाती है। अक्सर महान् साहित्यकार अपने युग के घटना-लेखकों के आँकड़ों से अधिक व्यापक और गहरे यथार्थ का अंकन करते हैं। वे उन घटनाओं के मूल तत्त्व को पकड़कर वास्तविकता की अभिव्यंजना करते हैं। इसलिए घटनाओं में 'फिट' करने का प्राय: उनका कटा-छँटा और एकांगी रूप ही सामने आता है। तुलसीदास को सामान्य इतिहास में वर्णित घटनाओं के अनुसार देखने पर उनकी यही दशा हुई है। दूसरी ओर कभी-कभी टुटपुँजिए साहित्यकारों को घटनाओं के अनुसार दिखाने में बढ़ा-चढ़ाकर चित्रित किया जाता है। छोटे साहित्यकारों को ही नहीं बड़े साहित्यकारों को भी खींचतान की दुर्दशा सहनी पड़ती है। ऐसा तब होता है जब समीक्षक इतिहास में स्वयं अपने स्थान तथा आलोच्य साहित्यकार के स्थान में अन्तर करना भूल जाता है। फलत: वह उक्त साहित्यकार को उसके युग में 'फिट' करने के बदले अपने ही युग में 'फिट' करने लगता है। तुलसीदास को शाश्वत और युग-युग का सिद्ध करने के लिए भाववादी इतिहासकारों ने प्रत्येक आधुनिक समस्या के चौखटे में

कसा है और उनके मुँह से अपने युग की-अपनेपक्ष में-बातें कहलायी हैं। यह कार्य पुनरूत्थानवादी सुधारकों ने तो किया ही, आरम्भिक प्रगतिशील समीक्षकों ने भी किया। अपने वर्तमान से अत्यधिक ग्रस्त होने पर अतीत भी उसी रंग में रंगा दिखता है और काल-विवेक तिट जाता है । ऐतिहासिक भौतिकवाद इस भ्रम को दूर करता है।

वस्तुतः साहित्य का इतिहास लिखते समय ये समीक्षक भूल बैठते हैं कि वे साहित्य का इतिहास लिख रहे हैं। आलोच्य वस्तु साहित्यिक कृति और उनमें अंकित सामाजिक यथार्थ है। सामाजिक पृष्ठभूमि का उपयोग उस सामाजिक यथार्थ को समझने तथा परखने के लिए होना चाहिए। किन्तु यहाँ तो दूसरे साधनों से जुटायी हुई सामाजिक सामग्री ही प्रधान हो जाती है और साहित्यिक कृति का उपयोग उक्त सामग्री के समर्थन के लिए होने लगता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि साहित्यिक प्रवृत्ति का विवेचन करने से पूर्व वे लोग सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि विवेचन करते हैं। जिस तरह अधपकी दाल में दाल अलग और पानी अलग रहता है उसी तरह एक पुस्तक मे साथ-साथ छपने के अतिरिक्त इन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं रहता । सही तरीका यह है कि साहित्यिक कृति के सामाजिक यथार्थ के विश्लेषण के सिलसिले में यथास्थान अन्य साधनों द्वारा प्राप्त सामाजिक सामग्री का उपयोग किया जाये। ऐतिहासिक भौतिकवाद यही सिखलाता है।

साहित्य और समाज को इस तरह अलग-अलग रखकर देखने का मूल कारण यही है कि ये भाववादी इतिहासकार समाज और साहित्य का ठीक-ठीक सम्बन्ध नहीं समझ पाते। के शुद्ध साहित्यवादी होते हुए भी साहित्य को सामाजिक घटनाओं के अनुवाद रूप में देखते है। यह उनकी असंगति है। मूलत: तो वे भाववादी हैं, लेकिन भौतिकवाद के दबाव के कारण समाज की उपेक्षा करने में असमर्थ हैं इसलिए जिस तरह उनके दिमाग में भाववाद और भौतिकबाद अलग-अलग पड़े हैं, उसी तरह उनकी समीक्षा में भी साहित्य और समाज परस्पर विच्छिन हैं। विवेचन का सारा ढाँचा भौतिकवादी-सा प्रतीत होते हुए भी उनका दृष्टिकोण भाववादी है। फिर चाहे वे आर्यसमाजी हों, चाहे किताबी मार्क्सवादी। साहित्य अनुकृति नहीं, रचनात्मक कृति है। सामाजिक सत्य को साहित्यकार नवीन चित्रों, मूर्तियों और मर्मछवियों में गढ़ता है; मृत व्यक्तियों और घटनाओं को भी पुनर्जीवित करता है; जड़-पदार्थों को भी सजीव करता है, पेड़ के पत्तों को जुबान बना देता है और स्थिर पत्थर को भी स्पंदनशील। इसलिए जितनी बड़ी साहित्यिक कृति होती है, उसमें वास्तविकता की रचनात्मक शक्ति भी उतनी ही अधिक होती है तथा अनुकृति उतनी ही कम। श्रेष्ठ राष्ट्रगीत वे नहीं हैं जो राष्ट्रीय सग्राम की घटनाओं की सूची बनाते हैं, बल्कि वे हैं जो उस संघर्ष की आग को देशप्रेम की स्निग्धता से दीप्त करते हैं। ऐसी दशा में श्रेष्ठ कृतियों में अंतर्निहित सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण करना मुश्किल हो जाता है। जिस रचना में

वास्तविकता तथा प्रतिकृति का सामंजस्य जितना ही प्रगाढ़ होता है, उसके प्रति समीक्षक का उत्तरदायित्व भी उतना ही बढ़ जाता है। रामचरितमानस के कलिकाल-वर्णन के आधार पर तत्कालीन सामाजिक दशा का खाता खड़ा करना आसान है, किंतु भरत की भक्ति में व्यंजित होनेवाले सामाजिक सत्य का विश्लेषण कितने लोग कर पाते हैं ? वहाँ तो बस सेवक-सेव्य भाव की शास्त्रीय चर्चा तक ही पण्डित लोग हाथ-पाँव मारते रहते हैं। कवितावली उत्तरकाण्ड के 'महामारी-वर्णन' का यथार्थ तो शब्दार्थ करने वाला भी बता सकता है, किंतु विनय-पत्रिका की मार्मिक वेदना का यथार्थ आधार कौन ढूँढ़ने की चेष्टा करता है? तुलसी के 'लोकसंग्रह' की लंबी-चौड़ी चर्चा करनेवाले भी बस उनके वर्णाश्रम संबंधी विचारों को ही उछालते रह जाते हैं, लेकिन क्या कभी उन्होंने तुलसी के अंतर्विरोधों की ओर भी ध्यान दिया है; उनके शूद्र-विरोधी विचारों और निषाद, गुह, शबरी आदि के मार्मिक चित्रणों का अंतर्विरोध तथा उसके कारणों की खोज हुई है? तुलसीदास में तो फिर भी सामाजिक आधार अपेक्षाकृत सहज ही मिल सकता है, परंतु 'सूरदास' के लीला-पद में जहाँ वास्तविकता का चित्रण और भी गहरे स्तर पर हुआ है, ये समाजशास्त्री खूब गोता खाते हैं और इस तरह का फतवा देते हैं कि उन्होंने केवल मनोरंजन किया, समाज का मन बहलाया। ये हैं सूर को हिंदी साहित्य के आकाश का सूर्य कहनेवाले! इनका 'सूर्य' केवल बच्चे बहलाने का कार्य करता है। श्रद्धा और युक्ति में यह संबंध है ! कस्तूरी की गंध शपथ द्वारा नहीं बताई जा सकती, फिर मूल्य तो और भी नहीं।

समाज से साहित्य का संबंध कुछ-कुछ वही है जो धरती से फूल का है। फूल धरती से उत्पन्न होता है, इसका मतलब यह नहीं है कि उसके डाल, पात, पंखड़ी, वर्ण, गंध आदि मिट्टी के हैं, कि उससे मिट्टी की-सी ही सोंधी गंध आती है और रंग भी मटमैला होता है। धरती का रूप-रस फूल में नया वर्ण, गंध उत्पन्न करता है। इसी तरह साहित्य में भी समाज ज्यों-का-त्यों नहीं झलकता, बल्कि रूपांतरित रूप में अंतर्निहित रहता है।

साहित्य और समाज के वास्तविक संबंध को न समझ सकने का मूल कारण है समाज के नियमों को ठीक-ठीक न समझना। भाववादी इतिहासकार साहित्य में या तो केवल विचार-ही-विचार ढूँढ़ते हैं या फिर हवाई ढंग से समाज और परिस्थिति। इसी तरह साहित्य को भी बड़े अस्पष्ट और खयाली समाज में टटोलते हैं। समाज में साहित्य का स्रोत खोजने का मतलब है मनुष्य के मूर्त्त पारस्परिक संबंधों में उसकी जड़ें खोजना। मनुष्य ही साहित्य का रचयिता भी है और वर्ण्य वस्तु भी। मनुष्य का मतलब कोई अस्पष्ट 'मनुष्य' नहीं है, बल्कि वह क्रियाशील प्राणी जो परिवार, राज्य, धर्म, विद्यालय आदि संस्थाओं के रूप में शतधा-सहस्रधा अभिव्यक्त है। साहित्य में यही मूर्त्त मनुष्य एक व्यक्ति-पात्र के रूप में

अभिव्यक्त होते हुए भी अपने समस्त सामाजिक संबंधों के साथ आता है। साहित्यिक कृति में सामाजिक संबंधों को बहुत सरल बनाकर देखना गलत होगा। जो लोग रामचरितमानस के राम-रावण युद्ध को तत्कालीन हिंदू-मुस्लिम संघर्ष के रूप में चित्रित करते हैं तथा सीता-हरण को हिंदुस्तान की धरती का अपहरण बतलाते है वे मानस में बिम्बित सामाजिक संबंधों को गहराई से नहीं देखते। मानस के राम, भरत, कैकेई वशिष्ठ आदि उस युग की पारिवारिक, धार्मिक आदि अनेक संस्थाओं के गूढ़ संबंधों की ओर संकेत करते हैं।

परंतु विविध संस्थाओं में बिखरे हुए सामाजिक संबंधों का भी निश्चित आधार है। इसी आधार को भाववादी विचारक नहीं समझ पाते और तरह-तरह के खयाली कानूनों का सहारा लेते हैं। ऐतिहासिक भौतिकवाद' इस आधार को बहुत ठोस रूप में समझता है। इन संस्थाओं के पीछे अलग-अलग व्यक्ति नहीं, बल्कि एक प्रकार के व्यक्ति काम करते हैं और इस तरह सामाजिक शक्तियों के रूप में कार्यरत दिखाई पड़ते हैं। सामाजिक शक्तियाँ ठोस विश्लेषण करने पर 'उत्पादन की शक्तियों' पर आधारित मालूम होती हैं--उत्पादन की शक्तियाँ यानी यंत्र-प्रणाली, मनुष्य और उसका श्रम। इस तरह सामाजिक संबंध मूलत: उत्पादन संबंध है। उत्पादन–भौतिक या आध्यात्मिक-जब तक मनुष्य समभाव और सहभाव से करता है, सामाजिक संबंध भी समता और सहकारिता के होते हैं, परंतु ज्यों ही मनुष्य अपने बंधुओं को उत्पादन-शक्ति के रूप में इस्तेमाल करने लगता है संबंध विषम अर्थात् शासक और शासित, स्वामी और दास, के हो जाते हैं। यह मौलिक उत्पादन-संबंध समस्त सामाजिक संस्थाओं के ढाँचे को निर्धारित करता है। उसी मौलिक संबंध को जानना समाज के मौलिक नियम को जानना है और उसे जानकर इतिहास की व्याख्या तथा परिवर्तन का विधान करना इतिहासकार का मुख्य कर्तव्य है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि समाज में मनुष्य व्यक्ति ही नहीं बल्कि वर्ग भी है। व्यक्ति साहित्यकार के भी यही दो रूप हैं और उसकी कृति में अभिव्यक्त पात्रों के भी यही दोनों रूप आते हैं। इसी को 'विशेष' और 'सामान्य' (टाइप) का सिद्धांत कहा जाता है। 'होरी' व्यक्ति के साथ ही भारतीय किसान का प्रतिनिधि भी है; वह 'विशेष' होने के साथ 'सामान्य' भी है। उसकी 'विशेषता' में सजीवता है और सामान्यता में व्यापक अपील। 'होरी' के इन दोनों रूपों को समझना ही गोदान की सच्ची आत्मा को समझना है।

जहाँ तक साहित्यकार के वर्ग-प्रतिनिधि तथा व्यक्ति-विशेष रूपों का संबंध है, बड़ा ही जटिल है। प्राय: कहा जाता है कि सत्ताधारी वर्ग ही उस युग की विचार-प्रणालियों का नियामक होता है और साहित्यकार उसका गायक। परंतु यह बात विश्लेषण-सापेक्ष है। सत्ताधारी वर्ग की शक्ति के घटाव-बढ़ाव के अनुसार ही विचार-प्रणालियों पर उसके प्रभाव

का विचार हो सकता है। समाज में केवल प्रभुवर्ग ही नहीं रहता जो मनमाना किया करे; प्रभुवर्ग की आकांक्षाएँ सामान्य जन-समूह द्वारा बाधित होती रहती हैं और आकांक्षाओं के इस संघर्ष से प्राय: ऐसा नया परिणाम निकल जाया करता है जो दोनों शक्तियों के लिए अचिन्त्य होता है। इस तरह वर्ग-समाज में साहित्य का नियमन प्रभुवर्ग ही नहीं करता, बल्कि सामान्य जन भी करते हैं। सामान्य जन प्रभुवर्ग की आकांक्षाओं में जिस हद तक बाधा डालते हैं अर्थात् अपनी मुक्ति के लिए लड़ते हैं, साहित्य का उत्थान भी उसी हद तक होता है और साहित्यकार का पक्षधर-पक्ष भी उसी के अनुसार बढ़ता-घटता रहता है। प्राय: साहित्य के महान् युगों में सामान्य जन का जागरण भी महान् रहा है। हिंदी के भक्ति-काव्य के पीछे सामान्य जन का यही जागरण था। रीति-काव्य के पीछे जनसाधारण का यह सामान्य जन का यही जागरण था। रीति-काव्य के पीछे जनसाधारण का यह सहयोग न्यूनातिन्यून था। इसलिए यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि साहित्यकार किस वर्ग का प्राणी है और न तो उसे रँगे हाथों पकड़ने में ही कोई साहस है। मुख्य प्रश्न है उसकी सहानुभूति को तत्कालीन जन-जागरण के परिदृश्य में परखने का।

महान साहित्यकार को किसी वर्ग-विशेष का गायक कहने पर प्राय: भाववादी विचारक बिगड़ खड़े होते हैं। यदि वे यह समझकर बिगड़ते हैं कि उसे शासकवर्ग का गायक कहा जा रहा है तो उनका बिगड़ना वाजिब है। लेकिन बात कुछ और है। वर्ग-विशेष का गायक कहने का यही मतलब है कि उसका काव्य उसके पाठकों और श्रोताओं द्वारा निर्धारित होता है। जिनके लिए वह लिखता है उनसे परोक्षत: प्रभावित भी होता है। तुलसी ने साधारण जनों के लिए लिखा, इसलिए उनके काव्य में ग्रामीण व्यापकता, सहजता, संवेदनशीलता तथा उत्फुल्लता आई; इसके विपरीत बिहारी ने दरबार के शिष्ट लोगों के लिए लिखा, इसलिए उनमें दरबारी कीमियागीरी, चटक-मटक, चमत्कार आदि खुल पड़ा। इसके सिवा प्रयोजन से भी साहित्य निर्धारित होता है। रोजी के लिए लिखा साहित्य रोजी चलानेवाले के अनुसार होगा और 'स्वात: सुखाय' लिखा साहित्य अपने आदर्शों के अनुसार। रोजी के लिए लिखने में भी फर्क है। गरीब कलाकार जब रोजी के लिए भी कलम चलाता है तो अपनी आत्मा नहीं बेच देता; लेकिन दरबारों से महज खिलअत की उम्मीद में लिखनेवाला खुशनसीब कलाकार अपनी आत्मा पहले ही गिरवी रख चुका होता है। मध्ययुग की उर्दू शायरी के इतिहास में दोनों तरह के नमूने ढेरों मिलेंगे। यहाँ पुराने बादशाहों के संरक्षण और आज के महाजनों की छत्रछाया का अंतर समझने की जरूरत है। पुराना सामत अपने कवि से अधिक-से-अधिक कुछ विरुद सुन लेता था; उसके शेष काव्य के विषय में वह सावधान न था। लेकिन नया महाजन अपने पत्रों और प्रकाशनों से लेखक की समूची कलम पर हावी रहता है। पुराना छत्रसाल अपने कवि की पालकी में कंधा भी लगा सकता था, लेकिन

नया व्यवसायी केवल चाँदी की जूतियाँ लगाना जानता है। यह सब कहने का मतलब इतना ही है कि रीति-काव्य के कृतिकारों की परख करते समय सामंती अर्थव्यवस्था को ही ध्यान में रखना चाहिए। उन्हें दरबारी कहने का मतलब बिलकुल खरीदा हुआ नहीं होता । वे दरबार के गुलाम नहीं, अलंकार थे; उनकी भी शान थी।

इससे स्पष्ट होता है कि उत्पादन-संबंध भी बदलते रहे हैं। साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन इन्हीं संबंधों के परिवर्तन के अनुसार होना चाहिए। अनुसार का मतलब दो त्रिभुजो की अनुरूपता नहीं, बल्कि उसे पथ-निर्देशक रेखा के रूप में इस्तेमाल करना। उत्पादन-संबंध बदलते ही साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं बदल जाती। साहित्य में परिवर्तन अपेक्षाकृत धीरे-धीरे होता है और साहित्य के रूप-विधान मे तो और भी धीरे-धीरे। जहाँ तक हिंदी साहित्य के इतिहास के विभिन्न कालों के नामकरण का सवाल है, कोई जरूरी नहीं कि उन्हें उत्पादन-संबंधों के सामंती और पूँजीवादी कालों के नाम के अनुसार ढाला जाये। नाम तो साहित्य की अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ही होना चाहिए; लेकिन उन प्रवृत्तियों के पीछे उक्त सामाजिक ढाँचे और काल-विभाजन का स्पष्ट आधार अवश्य हो। काल-विभाजन अध्ययन की सुविधा-मात्र है। काल-विभाजन से साहित्य की अखण्ड धारा बाधित न होनी चाहिए। नैरंतर्य में कालांतर और कालांतर में नैरंतर्य देखना तथा उसका नर्वाह करना इतिहासकार का कर्तव्य होना चाहिए।

परंतु नैरंतर्य किस बात का? साहित्यकार के बाद साहित्यकार उत्पन्न होते रहे और एक पुस्तक के बाद दूसरी पुस्तक निकलती गई—यह दिखाना ही नैरंतर्य नहीं है। नैरंतर्य उस मूल मानववादी धारा का दिखाना चाहिए जो यत्र-तत्र यदा-कदा क्षीण-स्रोत होने पर भी प्रधान रूप से स्रोतस्विनी रही । जिस प्रकार सामाजिक इतिहास में विविध सत्ताधारी वर्गों का उत्थान-पतन होता गया, लेकिन आधारभूत जनता कभी खुले रूप में और कुछ चुपचाप अपने अधिकारों के लिए लड़ती चली आ रही है, उसी तरह हिंदी साहित्य की मूल धारा हिंदी-जनता के सतत संघर्ष की कहानी है। भावी इतिहास के निर्माता को साहित्यिक इतिहास के इस जीवंत नैरंतर्य पर काफी जोर देने की जरूरत है, साथ ही यह भी बताने की जरूरत है कि यह अनंत और निरुद्देश्य नहीं है।

इतिहास का यह नैरंतर्य 'आवृत्ति' के साथ गड्डमड्ड न कर दिया जाये, इसके लिए कालांतर का बोध कराना आवश्यक है। इतिहास के काल-विभाजन की आवश्यकता इसीलिए पड़ती है। काल-विभाजन में मध्ययुग और आधुनिक युग के बीच विभाजन-रेखा खींचना ही काफी नहीं है, बल्कि उत्पादन-शक्तियों के आधार पर इनमे से प्रत्येक युग के उत्थान-पतन का भी निदर्शन होना चाहिए। एक प्रकार की व्यवस्था होते हुए भी भक्ति-काव्य क्यों उत्थान

का प्रतीक है और रीति-काव्य पतन का। इसी प्रकार छायावादी काव्य और प्रेमचन्द-साहित्य में मध्यवर्गीय राष्ट्रीय जागरण की जो उत्थान-भावना व्यक्त हुई है वह परवर्ती काव्य और उपन्यास में ह्रास की दशा पर पहुँची लगती है। जनसाधारण के धरातल पर उठने-गिरनेवाले ऊपरी वर्ग साहित्य के उत्थान-पतन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, यह बतलाना उतना ही आवश्यक है जितना यह बताना कि जनसाधारण साहित्य के उत्थान-पतन में कितना योग देता है। एक युग के पतन और दूसरे युग के उत्थान के साथ पूर्ववर्ती युग की सभी साहित्य-प्रवृत्तियाँ समाप्त नहीं हो जातीं। होता इतना ही है कि उनकी प्रधानता समाप्त हो जाती है, जैसे ब्रजभाषा की पुराने ढंग की रचनाएँ छायावाद-युग में भी होती रहीं और रत्नाकर जैसे सिद्ध कवि इसी युग में हुए। कारण स्पष्ट है–ब्रजभाषा-काव्य जिस पुराने सामंती ढाँचे से संबद्ध था वह ढाँचा आधुनिक समाज-व्यवस्था में भी कुछ-न-कुछ बना हुआ था। इसी तरह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में भी यह अंतर्विरोध मिलता है। भारतेन्दु एक ओर तो आधुनिक युग के प्रतीक खड़ी बोली हिंदी-गद्य को स्थापित कर रहे थे और दूसरी ओर मध्ययुग के प्रतीक ब्रजभाषा-पद्य भी लिखते रहे।

जिस तरह एक युग के पतन के साथ पुरानी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ समाप्त नहीं हो जातीं, उसी तरह नये युग के आरंभ के साथ नई साहित्यिक प्रवृत्ति भी आकार ग्रहण नहीं कर पाती। उत्पादन का ढंग बदलते ही साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं बदलती। हिंदी साहित्य में आधुनिक युग का आरंभ दिखलाते समय यह चूक प्राय: होती है। लोग सोचते हैं कि जिस दिन से भारत में प्रेस की मशीन आई, साहित्य का नया ढाँचा भी शुरू हो गया। पर हम जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ। प्रेस के आगमन और नागरी टाइपों के ढलाव (1787 ई.) के बहुत दिनों बाद हिंदी साहित्य में आधुनिकता आई। ऐतिहासिक भौतिकवाद' यहाँ स्पष्ट कहता है कि प्रेस' मूलत: पुनरुत्पादक (री-प्रोडक्टिव) शक्ति है, उत्पादक शक्ति नहीं। इसलिए यंत्र-प्रणाली उत्पादन के समूचे ढाँचे के सजीव संबंध से ही साहित्य का इतिहास बदलने में कारगर होती है, अकेली नहीं। उदाहरणस्वरूप चीन में अत्यंत प्राचीन युग से प्रेस था, फिर भी चीनी साहित्य में आधुनिकता यूरोप में प्रेस आविष्कृत होने के बाद आई। जब चीन में यूरोपीय तथा आधुनिक ढंग की यंत्र-प्रणाली का आगमन हुआ, तब नई साहित्यिक प्रवृत्ति उगी।

ऐतिहासिक भौतिकवाद' साहित्य के इतिहास में विषयवस्तु के ही परिवर्तन की कुंजी नहीं देता, बल्कि 'रूपतत्त्व' के विकास का भी सूत्र बताता है। एक ओर यदि वह हिंदी साहित्य के मध्ययुग से आज तक की बदलती हुई प्रेम-भावना' के क्रमिक सोपानों को स्पष्ट करता है तो दूसरी ओर स्वयं उस भाव को वहन करनेवाली भाषा, अलंकार-विधान, शैली-शिल्प,

छंद आदि के विकास की भी व्याख्या करता है। इस क्षेत्र में उसकी पहली चेतावनी यह है कि विषयवस्तु के साथ ही रूपतत्त्व नहीं बदलता चलता।

रूपतत्त्व का पहला और प्रधान अवयव है भाषा। स्पष्ट है कि सूर-तुलसी की भाषा से भारतेन्दु, प्रेमचन्द, प्रसाद की भाषा तत्त्वत: भिन्न नहीं है। हिंदी दोनों ही हैं, क्योंकि 'आधारभूत शब्द-समूह' और 'व्याकरणिक गठन' दोनों का लगभग एक है। परिवर्तन उसमें अवश्य हुआ है और परिस्थितियों के कारण हुआ है, परंतु उसका मूल आधार वही है। 19वीं सदी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने पुरानी हिंदी में अनेक तद्भव शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्द भर दिये। 16वीं सदी के सांस्कृतिक जागरण ने भी कुछ हद तक यही कार्य किया था। इधर बीसवीं सदी के तीसरे दशक से जनतांत्रिक आंदोलन ने पुन: ग्रामीण तद्भव शब्दों के प्रयोग को प्रोत्साहन दिया और प्रेमचन्द ने उसका उत्कृष्ट रूप दिखलाया। नित्य व्यवहार की नवीन वस्तुओं के आगमन से अनेक नए शब्द साहित्य की भाषा में आए। छायावाद तथा उसके बाद के कवियों ने नए ऐन्द्रिय बोधों तथा अनुभूतियों के लिए नई पदावली अपनाई। इसी तरह मध्ययुग की साहित्यिक भाषा का वाक्य-गठन भी आधुनिक युग में कुछ हद तक बदल गया। नवीन परसर्गों और पदमात्रों के अतिरिक्त क्रियापदों में भी खड़ी बोली का रंग आया। इधर बीसवीं सदी के चौथे दशक से चिंतन-क्रिया की गूढ़ता के साथ अंग्रेजी ढंग की 'पैरेंथीसिस' का भी प्रवेश वाक्य-विन्यास में हो चला। फिर भी मूलत: यह भाषा हिंदी रही--वह हिंदी जिसका आरंभ भक्ति -भावना की जनवादी प्रेरणा से हुआ था। भक्तों ने संस्कृत के विरुद्ध जो 'भाषा'-आंदोलन किया था वह पंडितों द्वारा पोषित रूढ़िवादी भावना के विरुद्ध नवीन जनवादी चेतना की अभिव्यक्ति था।

आदर्शवादी समीक्षक अलंकार-विधान में परिवर्तन लक्षित नहीं कर पाते। फलत: छायावाद तथा उसके बाद की नई कविता को भी पंडितों ने उपमा-रूपकादि प्राचीन अलंकारों के मानदण्ड पर परखा है। अलंकारों का संबंध मनुष्य की सौंदर्य-भावना से है कहना न होगा कि यह भावना परिस्थितियों के अनुसार कुछ-न-कुछ बदलती चलती है। मध्ययुग के नारी-पुरुषों का प्रसाधन और शृंगार आधुनिक युग में नहीं रहा। प्रकृति संबंधी रुचियाँ बदल गयीं, रंग और गंध संबंधी ऐन्द्रिय बोध परिवर्तित हो गये, फूलों की पसंद और हो गई। इन तमाम बातों ने काव्य के अलंकार-विधान को प्रभावित किया है। छायावाद की कल्पना-समृद्धि को मध्ययुगीन उपमा-रूपकादि के साँचे में बैठाना अवैज्ञानिक है। अलंकार-क्षेत्र में औपम्य या साम्य-विधान की आधारभूत विशेषता सभी युगों में सामान्य होते हुए भी युग-युग में कवियों ने 'विशेष' प्रयोग किये हैं, इसका ध्यान रखना चाहिए।

इसी तरह छंदों में जो परिवर्तन हुए हैं उनको भी भाववादी समीक्षक या तो कवि की केवल व्यक्तिगत रुचि का परिणाम बताते हैं या हवाई ढंग से युग-परिवर्तन के कारण मान लेते हैं। आवश्यकता है उस यंत्रगर्भी लय को ढूँढने की जो मध्ययुग में और थी तथा आधुनिक युग में और हो गई। पता लगाना चाहिए कि दोहा, छप्पय, घनाक्षरी और सवैया के मूल में वह कौन-सी लयात्मक इकाई है जिसका संबंध मध्ययुगीन लोकचित्त से था और आधुनिक युग में वह इकाई विविध गीतों के रूप में क्यों बदल गई? इसी तरह 'मुक्तछंद' में पुराने छंदोविधान के चरण-साम्य तथा तुक की रूढ़ि के विरुद्ध जो वेग है वह किस यंत्र-प्रणाली, किस चित्त-गति के कारण संभव हुआ? वस्तुत: प्रत्येक साहित्य की तरह हिंदी के भी रूपतत्त्व की अपनी विशेष परंपरा है और उसकी बारीकियों का सम्यक् विश्लेषण सविस्तार होना चाहिए। प्रस्तुत निबंध में यह सब संभव नहीं।

इस प्रकार ऐतिहासिक भौतिकवाद साहित्यिक इतिहास में रूप-विधान संबंधी मौलिक उद्भावनाओं तथा परंपरा-पालन को समझने के लिए ठोस आधार प्रदान करता है जो इतिहास-लेखक के लिए बहुत आवश्यक है।

संक्षेप में यही है इतिहास के अध्ययन के नये दृष्टिकोण की मोटी रूपरेखा। हिंदी साहित्य क्या, किसी भी साहित्य का इतिहास लिखने के लिए 'दृष्टिकोण' निर्धारित करते समय केवल निर्देशक-सूत्र देना ही संभव है। इतिहास-लेखक के सामने कदम-कदम पर जो अनेक बारीक सवाल उठते हैं उनका आकलन यहाँ नहीं हो सकता। निस्संदेह साहित्य-सृष्टि अनेक जटिल प्रभावों तथा तत्त्वों का घात-प्रतिघात है और उसका कतिपय नियमों द्वारा अति सरलीकरण करना गलत है। किंतु उन जटिल तत्वों को एक–एक कर विलगाना असंभव है, यह धारणा और भी गलत है। ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत न करते हुए साहित्य के इतिहास को समझना ही हमारा ध्येय होना चाहिए। केवल इसी प्रकार हम मानवता की मुक्ति के इस अंतिम संघर्ष में योग दे सकेंगे। अतीत का अविकृत और सत्यपूर्ण उद्घाटन ही वर्तमान में सक्रिय हो सकता है। यह ऐतिहासिक भौतिकवाद से ही संभव है। यदि ऐसा नहीं है तो इतिहास के आर्यसमाजी व्याख्याकारों और ऐतिहासिक भौतिकवादियों में क्या फर्क रहेगा? अपने अतीत के जय-पराजय, हर्ष-शोक, आशा-निराशा का यथार्थ चित्रण ही हमें आज विजय के लिए प्रेरणा दे सकेगा।

# 2. हिंदी साहित्य के इतिहास का महत्त्व

डॉ. रामविलास शर्मा

मनुष्य पशुओं से अलग है भाषा के व्यवहार के कारण। भाषा के व्यवहार की श्रेष्ठ उपलब्धि है साहित्य। किसी भी जाति के साहित्य का इतिहास उसकी उपलब्धियों को संजोए रखने का साधन है। अपनी स्मृतियों के सहारे मनुष्य अपने व्यक्तित्व को पहचानता है, इसी तरह साहित्य के इतिहास द्वारा जाति अपने अस्तित्व को पहचानती है। इस इतिहास के प्रति जागरूकता जाति की जीवंतता का प्रमाण है; वह उसके गठन में सहायक होती है; बाधाओं से जूझकर उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। सामान्य भाषा के व्यवहार से लोग परस्पर भाईचारे का अनुभव करते हैं। साहित्य के इतिहास से लोग एक सामान्य मानसिकता में सहभागी बनते हैं। जाति जिन श्रेष्ठ प्रतिभाओं को जन्म देती है उनकी सृजनशीलता की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है साहित्य। ये प्रतिभाएँ किसी युग से, किसी सामाजिक अथवा सांस्कृतिक आंदोलन से जुडी होती हैं। साहित्य की सतत प्रवहमान धाराओं से कोई भी रचनाकार पूर्णत: तटस्थ नहीं रह सकता। वह उनके निर्माण में सहायक होता है, स्वयं उनका अंग बन जाता है। इन धाराओं के, युगों के, रचनाकारों के, आपसी संबंधों की पहचान साहित्य के इतिहास से होती है। इन संबंधों को पहचानने का अर्थ है साहित्य और समाज के गतिशील स्वरूप को पहचानना। साहित्य के इतिहास की उपेक्षा करने का मतलब है इन संबंधों को जड़ बना देना, साहित्यिक यथार्थ के वास्तविक स्वरूप की अनदेखी करना।

हिंदी जाति के निर्माण और उसके आरंभिक निर्माण काल के साहित्य का विवेचन यूरोप में आधुनिक जातियों के अभ्युदय और तत्कालीन साहित्य को ध्यान में रखते हुए करना उचित होगा। जिसे रिनैसेन्स या पुनर्जागरण काल कहा जाता है, वह वास्तव में यूरोप की आधुनिक जातियों का निर्माण काल है। रिनैसेन्स का नाम लेते ही बुद्धिजीवियों के मन में दूर-दूर देशों की समुद्री यात्राओं, नए-नए उपनिवेशों के बिंब उभर आते हैं। विशेष रूप से ऐसे प्रसंगों में कोलंबस द्वारा अमरीकी महाद्वीप के पता लगाए जाने का उल्लेख बराबर किया जाता है। अमरीका में आदिवासियों का संहार करने और उनकी संपत्ति लूटने में स्पेन और पुर्तगाल के लोग सबसे आगे थे। किंतु पुनर्जागरण के केंद्र स्पेन और पुर्तगाल नहीं थे; पुनर्जागरण का केंद्र इटली था और इन लूटमार के समुद्री अभियानों में उसकी कोई भूमिका न थी।

जातियों का निर्माण सबसे पहले घरेलू बाजार पर निर्भर होता है। इसमें विदेशी व्यापार सहायक होता है। पूरब के देशों से व्यापारिक संबंधों के कारण इटली के नगर

चौदहवीं-पंद्रहवीं सदियों में यूरोप के अन्य नगरों की अपेक्षा अधिक समृद्ध थे। इटली राजनीतिक रूप से विभाजित था फिर भी व्यापारिक संबंधों के कारण वहाँ जातीय निर्माण की प्रक्रिया जारी थी। इटली तथा यूरोप के अन्य देशों में नई जातीय भाषाएँ उभर रही थीं पर इनके साथ अन्य दर्जनों बोलियों का अस्तित्व भी बना हुआ था। दक्खिनी फ्रांस की जनपदीय भाषा प्रोवाँसास में तो बहुत-सा काव्य भी रचा गया था। इटली ने भूमध्य सागर के तटवर्ती देशों को घनिष्ठ व्यापारिक संबंधों में बाँधा और उनकी संस्कृति को प्रभावित किया। यूरोप के सांस्कृतिक विकास के विचार से स्पेन, पुर्तगाल. आगे चलकर इंग्लैंड, फ्रांस आदि के ऐटलांटिक सागरीय अभियानों की तुलना में इटली की भूमध्य सागरीय गतिविधि अधिक महत्त्वपूर्ण थी। इससे मिलती-जुलती भूमिका हिंद महासागर में अरबों की थी।

पुर्तगालियों ने दक्खिनी अफ्रीका की एक अंतरीप से दूसरी अंतरीप तक अटकते-भटकते जब हिंद महासागर में प्रवेश किया, तब उन्हें यहाँ नया ही दृश्य दिखाई दिया : एक बार जब केप (केप ऑफ गुड होप) का चक्कर लगा लिया, वे मोजाम्बीक पहुँचे तब उन्होंने एक परिष्कृत व्यापारिक क्षेत्र (a highly sophisticated trading area) में प्रवेश किया यहाँ पोतचालकों के पास नक्शे थे, कोणीय मापक यंत्र (क्वाड्रैन्ट) और कुतुबनुमा थे। यहाँ बड़े जहाजों की व्यस्त आवाजाही थी। हिंद महासागर अरबीभाषी भूमध्य सागर जैसा लगता था (जे. आर. हेल : रिनैसेन्स इन यूरोप 1480-1520, पृ. 51)। पश्चिमी यूरोप के देशों का अपना समुद्री व्यापार अभी बहुत ही कम विकसित हुआ था। सोलहवीं सदी के आरंभ में एशिया के देश विकसित और परिष्कृत क्षेत्रीय व्यापार से पीछे नहीं थे। पुनर्जागरण काल में व्यापार के लिए जो महत्व भूमध्य सागर और हिंद महासागर का था, वह ऐटलांटिक महासागर का नहीं था।

यूरोप में दो तरह की जातियाँ थीं। एक वे जिन्होंने प्राचीन काल में उच्च कोटि की सभ्यता का विकास देखा था, फिर सामंतवाद के अंधकार युग में उसका ह्रास भी देखा था। दूसरी वे जिनके यहाँ ऐसा कोई विकास न हुआ था और जो अब सामंती व्यवस्था से सीधे व्यापारिक पूँजीवाद के युग में प्रवेश कर रही थीं। केवल यूनानी और इटालियन जातियों ने प्राचीन काल में उच्च कोटि की सभ्यता का विकास देखा था, केवल इनके लिए पुनर्जागरण काल की संज्ञा सार्थक हो सकती थी। इनमें यूनानी जाति को तुर्कों ने गुलाम बना रखा था, अभी उसके पुनर्जागरण का प्रश्न ही न था। यूरोप की एक ही जाति के लिए पुनर्जागरण काल की संज्ञा सार्थक थी और यह थी इटालियन जाति। अन्य पश्चिमी यूरोप की जातियों ने उस संज्ञा को अपने इतिहास से जोड़ लिया। केवल इटालियन जाति

रोमन सभ्यता के ह्रास के बाद सामंतवाद के अंधकार युग को मध्यकाल कह सकती थी परंतु पश्चिमी यूरोप की जातियों ने, अपनी किसी प्राचीन सभ्यता का अता-पता न रहने पर भी, अपने सामंती युग को मध्यकाल कहना शुरू कर दिया।

हिंदी जाति की तुलना यूनानी और इटालियन जातियों से की जा सकती है। उनकी तरह संस्कृत वाङ्मय के रूप में इसकी प्राचीन सांस्कृतिक उपलब्धियाँ सुरक्षित थीं। यूनानी और इटालियन जातियों के साहित्य से भिन्न भारत के प्राचीन संस्कृत साहित्य में हिंदी जाति के अलावा अन्य जातियों के रचनाकारों का योगदान उल्लेखनीय था। (यहाँ जातियों से आशय उन जनों से है जिनसे आगे चलकर जातियों का निर्माण हुआ।) अपनी साहित्यिक विरासत के न होने पर भी पश्चिमी यूरोप की जातियों ने यूनानी और इटालियन जातियों के प्राचीन साहित्य को अपनाया। इनमें यूनानी जाति के साहित्य की भूमिका निर्णायक थी। उसने इटालियन जाति के प्राचीन साहित्य को प्रभावित किया, नए साहित्य को भी प्रभावित किया। साहित्य के अलावा यूनानी जाति की स्थापत्य और शिल्पकलाओं ने पहले रोमनकाल में, फिर पुनर्जागरण काल में, इटालियन जाति की कलाओं को प्रभावित किया। इस प्रभाव में दो बातें मुख्य थीं : एक तो परिष्कृत सौंदर्यबोध, दूसरी इहलोकवादी दृष्टि।

यूनानी शिल्पी और साहित्यकार सौंदर्यप्रेमी जीव थे। उनका सौंदर्य अशरीरी और अगोचर नहीं था। वे गोचर संसार से प्रेम करते थे, वे मानव संबंधों का, दैहिक सौंदर्य का, चित्रण करते थे। रोमन सभ्यता के पतन के बाद यूरोप में ईसाई धर्म का प्रसार हुआ। संघबद्ध धर्म सांसारिक प्रेम और सौंदर्य को त्याज्य मानता था, इसलिए वह यूनान और इटली की प्राचीन सभ्यता को भी गर्हित और त्याज्य मानता था। चौदहवीं से अठारहवीं सदी तक सभ्यता ने यूरोप को फिर प्रभावित किया। यह सभ्यता चर्च की सभ्यता से टकराई, प्राचीन इहलोकवाद मध्यकालीन परलोकवाद से टकराया। इस बीच चर्च को सुधारने के लिए एक धार्मिक आंदोलन चलाया गया जिसे रिफॉर्मेशन कहा जाता है। वास्तव में धर्म एक ही था पर अब वह दो परस्पर विरोधी मतों में बँट गया। रोमन कैथलिक ईसाई और प्रोटेस्टेंट ईसाई एक-दूसरे की जान के गाहक बन गए। पूरे राज्य-के-राज्य दो खानों में बँट गए और बरसों तक युद्ध में उनके उलझे रहने से साधारण जनता को भारी क्षति सहनी पड़ी। भारत में तुर्कों के आक्रमण के बाद, और विशेष रूप से औरंगजेब के समय से, धार्मिक उत्पीड़न के भयावह दृश्य देखे गए पर ये कुछ क्षेत्रों तक सीमित थे। इसके विपरीत यूरोप में एक छोर से दूसरे छोर तक धर्म के नाम पर हत्या और आतंक की विभीषिका फैल गई थी।

इंग्लैंड की महारानी मेरी के शासनकाल में, सन् 1555-56 में, लगभग तीन सौ प्रोटेस्टेंट मतवादियों को जिंदा जला दिया गया था। फ्रांस में नए मतवादियों पर मुकदमा चलाने के लिए विशेष अदालत गठित की गई थी। इसने इतने आदमियों को जिंदा जलाने की सजा दी कि लोग उस अदालत के कमरे को जलानेवाला कमरा (the burning chamber) कहने लगे (आर. एच बैंटन : द रिफॉर्मेशन ऑफ द सिक्सटींथ सेंचुरी, पृ. 164)। प्रोटेस्टेंट मत के लोग पुनरुत्थानवादी थे। भ्रष्ट चर्च को हटाकर वे शुद्ध चर्च को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। वे यूनानी संस्कृति से प्रभावित पुनर्जागरण काल के इहलोकवाद के विरोधी थे। कुछ इतिहासकारों ने प्रोटेस्टेंट मत को मध्यकालीनता का नया उभार माना है। पुनर्जागरण काल में ज्ञान-विज्ञान के प्रसार की बातें करते समय यह न भूलना चाहिए कि धार्मिक रूढ़ियों और सांप्रदायिक कट्टरता ने इस प्रसार में भारी बाधा पहुँचाई थी। प्रकृति-विज्ञान के विकास के प्रसंग में एंगेल्स में लिखा था : 'उस युग की विशेषता यह थी : उसके (प्रकृति-विज्ञान के) उत्पीड़न में प्रोटेस्टेंट और कैथलिक एक-दूसरे से होड़ करते थे प्रोटेस्टेंटों ने सर्वेतुस् को जलाया तो कैथलिकों ने जिओर्दानो ब्रूनो को' (डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर, पृ. 193)। कट्टरपंथी रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेंट समान रूप से विज्ञान के विरोधी थे।

अंग्रेजी में तथा यूरोप की अन्य भाषाओं में बहुत-सा धार्मिक काव्य लिखा गया है। इस काव्य में मतवादी धाराएँ अलग-अलग बहती हैं। इन्हे मिलाकर बहनेवाली भक्ति काव्य जैसी सामान्य धारा वहाँ नहीं है। भारत में धार्मिक सुधार आंदोलन आवश्यक था। भक्ति आंदोलन ने इस आवश्यकता को पूरा किया। उसने प्रेम को धार्मिक साधना का आधार बनाकर कर्मकाण्ड, बाह्याचार पर जबर्दस्त प्रहार किया। भक्ति आंदोलन हमारे यहाँ का रिफॉर्मेशन है, रिनैसेन्स भी है। यूरोप में पुनर्जागरण गैर-ईसाई यूनान से प्रभावित था, धर्म-सुधार ईसाइयत का पुनरुत्थान कर रहा था। दोनों एक-दूसरे से टकराए। हमारे यहाँ ऐसी टक्कर अनावश्यक थी। जिन स्रोतों से भक्त कवियों को धर्म-सुधार की प्रेरणा मिलती थी, उनसे उन्हें यथार्थपरक काव्य रचने की प्रेरणा भी मिलती थी। वास्तव में पुरोहितवादी रूढ़ियाँ यहाँ की जनसंस्कृति का स्रोत कभी नहीं रहीं। पहले यूनान की संस्कृति से पूर्ण विच्छिन्नता, फिर उसे अपनाने का प्रयास—ऐसा प्रपंच हमारे यहाँ घटित नहीं हुआ। इहलोकवाद और परलोकवाद का द्वंद्व यूरोप के पैमाने पर यहाँ कभी नहीं फैला। वास्तविक मोक्ष इस जीवन में है, जीवन के उपरांत नहीं। भक्त कवियों ने प्रेम के मंत्र से कर्म के बंधन काट दिए, पुरोहितों के रचे हुए स्वर्ग और नरक के सुहावने और डरावने चित्र मिटा दिए। उन्होंने सांस्कृतिक धरोहर को लोक संस्कृति को जोड़कर उसे नया रूप दिया। उन्होंने लोक जीवन से अभिन्न रहकर साहित्य में यथार्थवाद का विकास किया।

साहित्य चाहे यूनान और रोम का हो, चाहे पुनर्जागरण काल के इटली और इंग्लैंड का, उसके अधिकांश पर अभिजात वर्ग की छाप है। वाल्मीकि और व्यास जैसे कवि यूरोप में नहीं हुए, न जायसी, कबीर, सूरदास और तुलसीदास जैसे कवि वहाँ हुए। भक्ति काव्य का यह लोकवादी स्वरूप संसार में अद्वितीय है; अभिजात न होने से वह मध्यकालीन नहीं हो जाता।

यूरोप चाहे पुनर्जागरण काल का हो चाहे बीसवीं सदी का, यह कल्पना करना कठिन है कि प्रोटेस्टेंटों की जमात को कैथलिक धर्मप्रचारक उपदेश दे या कैथलिक जमात को प्रोटेस्टेंट धर्मप्रचारक उषदेश दे। ईसाइयों को यहूदी गुरु उपदेश दे, यह और भी कल्पनातीत है। किंतु भारत में धर्मों और मतों के बीच ऐसी खाई न थी जैसी इतिहासकारों ने कल्पना में खोद रखी है। प्रसिद्ध है कि सूफी धर्मप्रचारक हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को उपदेश देते थे। कबीर की रचनाओं से स्पष्ट है कि वह दोनों संप्रदायों को संबोधित करते थे। यह रीति केवल हिंदी प्रवेश अथवा सूफियों की नहीं थी। अन्य प्रदेशों में ऐसा चलन था और हिंदू संत भी मुसलमानों को उपदेश देते थे। सोलहवीं सदी में महाराष्ट्र के संत एकनाथ सुशिक्षित और बहुपठित व्यक्ति थे। आनंद प्रकाश दीक्षित ने मराठी संतों की हिंदी वाणी नाम का उपयोगी संकलन प्रकाशित कराया है। इसमें उन्होंने लिखा है : 'संत एकनाथ ने संस्कृत, मराठी, हिंदी, गुजराती तथा कन्नड़ में भी रचनाएँ की हैं' (पृ. 69)। भारत की भाषा समस्या हल करने का यह भी एक तरीका था। प्रसिद्ध है कि 'पितरों के श्राद्ध में अहंकारी ब्राह्मणों के मना करने पर उनके स्थान पर हरिजनों को (उन्होंने) भोजन' कराया था (पृ. 59)। दलितोद्धार का यह भी एक तरीका था। ब्राह्मण कुल में जन्मे संत एकनाथ ने मुसलमानों को लक्ष्य करके कहा था :

नाम अल्ला का कथा सुनने कूँ। / व्हा मुर्गी का सोचता है।
काम कूता कसबन घर का / व्हा दिन-रात जागत (जागता) है।
इस दुनिया में आया बंदा / अल्ला नाम सौदा है। (पृ. 66)

कबीर भी इस ढंग की बातें कहते थे। यह नई वर्ग-दृष्टि थी, गरीब किसानों और कारीगरों की दृष्टि, जो वर्ण-भेद मिटा रही थी और उसके साथ सांप्रदायिक भेद मिटा रही थी। कहीं खड़ी बोली, कहीं ब्रजभाषा, कहीं दोनों का मिश्रण, इस प्रकार अनेक प्रदेशों के हिंदू-मुसलमान संपर्क भाषा के रूप में हिंदी का व्यवहार कर रहे थे। संत एकनाथ का कहना था :

अल्ला रखेगा वैसा ही रहना। / मौला रखेगा वैसा ही रहना। (पृ. 71)

जो बात वह मुसलमानों से कहते थे, वही हिंदुओं से कहते थे :

राम संग में बाट न भूले/राम चलावे तैसा चाले। (पृ. 70)

सत्रहवीं सदी में भक्ति की इस धारा का और विस्तार हुआ। संत तुकाराम ने कहा था:

अव्वल याद करो वस्ताद की। / गुरु पीर पैगंबर की । (पृ. 81)

और भी –

हजरत मौला मौला। / सब दुनिया पालनवाला।
अपना साथी समज के लेना। / सलील वो ही अल्ला। (पृ. 82)

समर्थ रामदास का कहना था :

रे भाई याद करो अल्ला की। हक चलना सब दिल पासी .....
अला निरंजन दोऊ नहीं रे। समजत समजनहारे।

और –

खाली जागा नहीं रे खुदा बिनश। जानत नाहीं रे ...
दास फकीर कहे इतना ही। अंतर माही रे । (पृ. 125)

जैसे सूफियों के हिंदू शिष्य होते थे, वैसे ही हिंदू संतों के मुसलमान शिष्य होते थे। रामचंद्र चिंतामणि ढेरे ने 'मुसलमान मराठी संत कवि' पुस्तक में महाराष्ट्र के मुसलमान संत शहा मुनी को 'महाराष्ट्रचा कबीर' कहा है (पृ. 113)। ये मुनी इसलिए कहलाए कि इनके गुरु मुनीन्द्र स्वामी थे। अपने गुरु का उपदेश इन्होंने सुना था रात में गंगा किनारे काशी में –

वारासींत गंगातीरीं। प्रहर रात्र लोटल्यावरी। (पृ. 121)

शहा मुनी मराठी भाषा के अस्तित्व के प्रति सचेत थे। अपने पूर्वज शहाबाबा को उन्होंने मराठी और फारसी दोनों का विद्वान कहा है :

महाराष्ट्र आणि पारशी। उभयपक्षीं विद्या त्यासी । (पृ. 121)

इसी तरह संत शेख महंमद अपनी भाषा के प्रति सचेत थे :

महाराष्ट्र भाषा बोलणें बोलीं। सांगेन संतरीची सखोली। (पृ.114)

यद्यपि इन मुसलमान संतों की अधिकांश रचनाएँ मराठी में हैं, फिर भी हिंदू संतों की तरह इनकी कुछ रचनाएँ हिंदी में थीं। शहा मुंतोजी ब्रह्मणी ने तो हिदू-मुस्लिम एकता के लिए जमकर प्रयत्न किया था। कहते हैं :

शाह मुंतवजी ब्रह्मणी। / जिनमें नहीं मनामनी।
पंचीकरण का खोज किए। / हिंदू मुसलमान येक कर दिए । (पृ. 37)

पुनर्जागरणकालीन यूरोप के धर्मसुधारक इन संतों से बहुत कुछ सीख सकते थे। लेकिन सबसे पहले तो आधुनिक भारत को अपनी यह 'मध्यकालीन' संस्कृति आत्मसात् करनी है।

भारतीय संतों की काव्य रचना के आगे संगीत में उनका योगदान प्राय: भुला दिया गया है। जिसे शास्त्रीय संगीत कहा जाता है, और जो मूलत: लोकसंगीत है, उसके वे निर्माता हैं। ध्रुवपद गायकी का विकास राजदरबारों में हुआ; मानसिंह, अकबर, शाहजहाँ आदि को कलावंतों के संरक्षण का श्रेय उचित ही दिया जाता है। किंतु उसका जन्म दरबारों में न हुआ था। आचार्य बृहस्पति ने ध्यान दिलाया है कि अबुल फजल के अनुसार आगरा के आस-पास के क्षेत्र में, अर्थात् ब्रज नाम के जनपद में, ध्रुवपद गाया जाता था (संगीत चिंतामणि, प्रथम खंड, पृ. 78)। ब्रजभाषा काव्य की भाषा बनी और संगीत की भाषा भी बनी। संगीत और काव्य अलग-अलग नहीं थे। तानसेन गायक रूप में प्रसिद्ध हैं परंतु वह कवि भी थे। सुनीतकुमार चाटुर्ज्या ने अपने निबंध 'कविवर तानसेन' में उन्हें 'उच्चश्रेणी के कवि' के रूप में याद किया है और माना है कि उनके गीत 'उनकी अतुलनीय कवित्व-शक्ति के परिचायक हैं' (निबंध संग्रह, संकलनकर्ता हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्रीकृष्ण लाल, पृ 123)।

प्रसिद्ध है कि 'संगीत' से पहले गायन, वादन, नर्तन, इन तीनों कलाओं का बोध होता था। नाट्यशास्त्र में इन तीनों का संयोग बन हुआ है। लोकसंगीत की यह विशेषता सूरदास के पदों में विद्यमान है।

सप्त सुरनि मुरली बाजलि, धुनि सुनि मोहे सुरनर गंधर्व गन...
नृत्य करत उघटत संगीत पद, निरखि सूर रीझत मन ही मन।

(सूर सागर, पहला खंड, पृ. 651)

और भी –

रागरागिनी प्रगट दिखायौ, गायौ जो जेहि रूप।
सप्त सुरनि के भेद बतावति, नागरि रूप अनूप। (उप., पृ. 653)
सरगम सुनीकैं साधि सप्त सुरनि गाई।
अतीत अनागत संगीत, विचतान मिलाई।
सुरताल ऽरु नृत्य ध्याइ, पुनि मृदंग बजाई । (उप., पृ. 655)

गायन, वादन, नर्तन, तीनों का संयोग यहाँ देखा जा सकता है। संगीत की यह पद्धति लोक जीवन से मंदिरों में पहुँची। दक्षिण भारत के मंदिरों में यह परंपरा अब तक चली आई है।

इस परंपरा की छाया ध्रुपद की दरबारी बंदिशों में जहाँ-तहाँ दिखाई देती है। यथा शाहजहाँ के समय में संकलित ध्रुपदों के संग्रह सहसरस (प्रेमलता शर्मा द्वारा संपादित) में :

एक गावत, एक तेत बजाबत, एक निरंतर लऽगे झर। (पृ. 132)

यहाँ भी तीनों कलाएँ एक साथ हैं परंतु ये कलाएँ अब पेशेवर लोगों के पास हैं। जो लोक कलाकार थे, वे दरबार में पहुँचकर कलावंत बन गए और नृत्य पर वेश्याओं का अधिकार हो गया।

पातर चातुर सब अंग निरत करत, देसी सुध अंग गाई। (पृ. 50)

जब ध्रुवपद दरबार में न पहुँचा था, तब उसकी उदात्त अभिव्यंजना कुछ इस प्रकार की रही होगी :

असझी कुंडल लट, बेसरियों पीत पट,
बनमाल बीच आनि उरझे हैं देरउ जन।
प्राननि सों प्रान, नैन नैननि अटकि रहे,
चटकीली छवि देखि लपटात स्याम घन।
होड़ा होड़ी नृत्य करैं, रीझि रीझि अंक भरैं,
ता ता थेई थेई उघटत हैं हरषि मन।
सूरदास प्रभु प्यारी, मंडली-जुवति भारी,
नारि कौ आँचल लै लै पोंछत हैं, स्रमकन।
(सूर सागर, पहला खंड, पृ. 655)

अक्षर प्रधान छंद की चार पंक्तियों का यह पद ध्रुवपद है। सूरदास ध्रुवपद गायन पद्धति से परिचित थे, इसमें संदेह नहीं। उससे पहले ध्रुवपद का प्रवेश दरबार में हो चुका है पर वे एक पुरानी गीत परंपरा के कवि हैं। इसलिए गैर-पेशेवर ध्रुवपद-संगीत में किस तरह की कला थी, उसका अनुमान सूरदास के उक्त पद से किया जा सकता है।

गायन, वादन और नर्तन की संयुक्त कला लोक संगीत की सामान्य विशेषता थी, ध्रुवपद की गायकी इस लोक संगीत का एक अंग थी। सूरदास समूचे लोक संगीत से परिचित थे, उसके एक ही अंग से नहीं। उनके पदों के साथ जो रागों के नाम दिए हैं, वे उनके गायक स्वरूप की ओर संकेत करते हैं। कबीर के पदों के साथ भी रागों के नाम दिए हुए हैं। विद्यापति के पदों और उनसे पहले चर्यापदों के साथ रागों के नाम दिए हुए हैं। भक्त अपने पद गाने के लिए रचते थे और उन्हें स्वयं गाते थे। कथा है कि तानसेन के गुरु हरिदास स्वामी थे और बादशाह अकबर उनका गाना सुनने गया था। यह कथा सच हो या न हो, वह इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि दरबारी गायकों ने अपनी कला भक्त गायकों से सीखी थी। दक्षिण भारत में पुरंदरदास से लेकर त्यागराज तक संत गायकों की परंपरा सोलहवीं सदी से उन्नीसवीं सदी तक चली आई है। दक्षिण की तरह उत्तर भारत में भी मंदिरों से संगीत का घनिष्ठ संबंध था। बीसवीं सदी में सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने उदयपुर के एक शिवमंदिर में अपने अनुभव का वर्णन किया है: 'गैरिक वसन पहने हुए, गले में और हाथों में रुद्राक्ष की माला पहने हुए, तेजपुंज कलेश्वर गौरवर्ण दीर्घकाय श्मश्रुमान् एक संन्यासी पुजारी, अति सुंदर शुद्ध उच्चारण के साथ मंत्र पढ़कर भगवान की पूजा कर रहे थे; बीच-बीच में पूजा के बीच में गर्भगृह के द्वार बंद किए जाते थे; इधर अलंकरण मंडित प्रस्तरमय देवमूर्ति के सामने के नाट्य मंदिर में एक कलावंत गायक पखावज और सारंगी बजैये के साथ बैठे थे। पूजा के लिए जब देवगृह के दरवाजे बंद होते थे तब वे शंकर की स्तुति के लिए ध्रुपद चौताल गाने में लग जाते थे। कुल मिलाकर पूजा का जो अपूर्व वातावरण बना भाषा में उसका क्या वर्णन करूँ' (निबंध-संग्रह, पृ. 139)। कलावंत गायक और पखावज-सारंगी वादक हिंदू थे या मुसलमान, पता नहीं, पर बिस्मिल्ला खाँ काशी के शिवमंदिर में शहनाई बजाते थे, यह बात सभी लोग जानते हैं। खजुराहो के मंदिरों में नर्तकियाँ अपनी भंगिमाओं से प्रस्तरमूर्तियों की मुद्राओं को प्रत्यक्ष करती हैं, यह बात भी बहुतों को मालूम होगी। प्रसिद्ध अभिनेत्री हेमामालिनी ने नूपुर फिल्म में बड़े कौशल से शिल्प और नृत्य का घनिष्ठ संबंध प्रदर्शित किया है। शिल्प और नृत्य का यह संबंध न तो पुनर्जागरणकालीन इटली की मूर्तिकला में है, न उससे पहले यूनान और रोम की मूर्तिकला में है। न यूरोप के भक्ति काव्य में नृत्य का बार-बार

उल्लेख है जैसा हमारे भक्ति काव्य में है। यहाँ के एक उपास्यदेव शिव नटराज हैं। समस्त ब्रह्माण्ड उनका नाट्य मंच है। इस मंच पर भक्त कवि के संगीत की झाँकी इस पद में देखें :

नाचु रे मेरे मन मत्त होय।
प्रेम को राग बजाय दैनंदिन शब्द सुनै सब कोइ।
राहुकेतु नवग्रह नाचैं, लोक नाचै हँस रोइ।
छापा तिलक लगाई बाँस चढ़, हो रहा जग से न्यारा।
सहस कला पर मन मेरौ नाचै, रीझै सिरजन हारा।

(हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ. 257)।

यह पद कबीर का है। बहुत संभव है इस पद में शिव गीतों की प्रतिध्वनि हो।

अन्य उपास्यदेव श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाने और नाचने के लिए प्रसिद्ध हैं। मीराबाई के पदों में नृत्य उनकी उपासना का अंग बन गया है। नृत्य के लिए अपनी तत्परता दिखाकर वह अनेक प्रकार से समाज के रूढ़िवादियों को चुनौतियाँ देती हैं। चैतन्य महाप्रभु भावमग्न होकर नाचने लगते थे, यह बात भी प्रसिद्ध है। वैष्णव कीर्तन मंडलियों में गायन के साथ नर्तन का चलन अब तक बना हुआ है। रामचरितमानस में भक्त सुतीक्ष्ण भावातिरेक में नाचने लगते हैं :

इक फिरि पाछे पुनिजाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।

(रामचरितमानस, पृ. 607)।

नृत्य का सबसे विस्तृत वर्णन और अनेक प्रकार के नृत्यों का वर्णन सूरदास के पदों में है। उसे पढ़कर यह विश्वास होता है कि वह नृत्यकला से भलीभाँति परिचित थे। ऐसा लगता है, गायनकला की तरह नृत्यकला के संरक्षक भी भक्त कवि थे। मंदिरों से यह कला दरबारों में पहुँची और वहाँ गायन की तरह उसमें भी परिवर्तन हुआ। संगीत के अंतर्गत तीनों कलाओं के साथ काव्य का अध्ययन करने से युग के संपूर्ण कलात्मक वैभव का ज्ञान हो सकता है। कलाएँ एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं और उनसे काव्य का घनिष्ठ संबंध है। स्मरणीय है कि इटली की मूर्ति-चित्रकलाएँ वहाँ के भव्य गिरजाघरों में विकसित हुई थीं। प्रोटेस्टेंट यूरोप के पास इनके समकक्ष कुछ भी नहीं है। उनकी तुलना केवल भारत के मंदिरों में विकसित होनेवाली कलाओं से की जा सकती है। इन कलाओं में

सर्वोपरि है वास्तुकला। पुनर्जागरणकालीन यूरोप के श्रेष्ठ कलात्मक भवनों से भारतीय समकालीन वास्तुकला की तुलना की जाए तो यह समझते देर न लगेगी कि इस कला में हम उनसे आगे हैं, पीछे तो किसी तरह नहीं हैं। यहाँ शताब्दियों तक उसका विस्तार और परिष्कार होता रहा है।

ध्रुपद गायन का युग हिंदुस्तानी संगीत का वैभवकाल है। वह हिंदी साहित्य का वैभवकाल भी है। तानसेन के प्रसंग में सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या कहते हैं : 'जिस समय तानसेन जीवित थे, वह प्राचीन हिंदी साहित्य का सबसे गौरवमय युग था – खास करके हिंदी काव्य-साहित्य का। उनके समसामयिकों में थे मलिक मुहम्मद जायसी और तुलसीदास। उनसे एक पीढ़ी पहले के थे, अंध कवि सूरदास' (उप., पृ. 130-131)। हिंदी साहित्य के सबसे गौरवमय युग को हिंदी के कुछ विद्वान अंधकार युग क्यों कहते हैं? इसलिए कहते हैं कि उनके लिए हिंदी जाति का अस्तित्व नहीं है; यहाँ हिंदू संस्कृति है, मुस्लिम संस्कृति है – ये संस्कृतियाँ कभी आपस में टकराती हैं, कभी थोड़ा बहुत लेनदेन कर लेती हैं! संप्रदायवाद भारतीय संस्कृति के इतिहास को झुठला कर कैसे प्रत्येक जाति को और इस तरह पूरे राष्ट्र को विभाजित करता है, उसका उदाहरण है साहित्य के गौरवमय युग को अंधकार युग बना देने का प्रयास।

हिंदी जाति के अभ्युदय काल के पूर्ण कलात्मक वैभव की पहचान के लिए काव्य के इतिहास के साथ संगीत के इतिहास पर ध्यान देना चाहिए; काव्य और संगीत के साथ अन्य कलाओं, विशेष रूप से शिल्प-वास्तु कलाओं की उपलब्धियों पर ध्यान देना चाहिए और समूचे युग की तुलना यूरोप के पुनर्जागरण काल से करनी चाहिए; और इस पुनर्जागरण काल में वहाँ के धार्मिक सुधार आंदोलन से अपने भक्ति आंदोलन की तुलना करनी चाहिए। आगे बढ़ने के लिए किसी भी जाति को यथेष्ठ ऊर्जा अपने इतिहास से, विशेषत: साहित्य के इतिहास से मिलती है। भारत की बहुसंख्यक हिंदी जाति को भारत के संदर्भ में, और यूरोप के संदर्भ में, अपने सांस्कृतिक इतिहास की सही पहचान करनी है। यदि सूरदास और तुलसीदास का युग प्राचीन था तो शेक्सपीयर और मिल्टन का युग भी प्राचीन था; यदि शेक्सपीयर और मिल्टन का युग आधुनिक था तो सूरदास और तुलसीदास का युग भी आधुनिक था। साहित्य का इतिहास लिखते समय शासक जाति और शासित जाति के लिए अलग-अलग कसौटियाँ नहीं हो सकतीं।

अंग्रेजी राज में हिंदी जाति का साहित्य, अंग्रेजों के बाद स्वाधीन भारत में हिंदी जाति का साहित्य – इस सबके इतिहास की अपनी समस्याएँ है। लेकिन अंग्रेजी राज कायम होने

से पहले यहाँ जो साहित्य रचा गया, उसका इतिहास समझ लें, एक बार हिन्दी जाति के साहित्य का एकताबद्ध लोकवादी स्वरूप समझ में आ जाए, तो अंग्रेजों की विघटनकारी भूमिका को समझना आसान होगा, स्वाधीन भारत के अनेक विद्वान कैसे इसी भूमिका को दोहराते आए हैं, यह भी स्पष्ट हो जायेगा। विदेशी पूँजी पर भारत की निर्भरता जब बराबर बढ़ रही हो तब देश में पश्चिमी संस्कृति के पतनशील तत्वों का प्रसार अनिवार्य है। इनसे अपनी संस्कृति की रक्षा करने, अपनी परंपरा और परिस्थितियों के अनुसार उसका विकास करने में हिन्दी साहित्य का इतिहास हमारा मार्गदर्शन करता है। यही उसका महत्व है, नए इतिहास के निर्माण में उसकी भूमिका है।

बात यह सही है कि दिल्ली - आगरे के सुलतानों और बादशाहों ने फारसी को राजभाषा बनाया था। फारसी न तो उनकी मातृभाषा थी, न धर्म-भाषा। सांस्कृतिक भाषा के रूप में उन्होंने उसे अपनाया था। पुनर्जागरण कालीन यूरोप पर इसी तरह लैटिन हावी थी । लैटिन वहाँ जातीय भाषाओं का उभार न रोक पाई, वैसे ही फारसी यहाँ जातीय भाषाओं का उभार न रोक पाई। उत्तर भारत की वास्तुकला पर जहाँ तहाँ अरबी ईरानी प्रभाव है, ऐसा प्रभाव स्पेन की इमारतों पर भी है। इटली से लेकर इंग्लैण्ड तक इमारतों पर रोमन प्रभाव यथेष्ट है। समूचे भारत को देखें तो विदेशी प्रभाव कुछ विशेष क्षेत्रों तक और एक विशेष काल अवधि तक सीमित हैं चित्तौड़ के विजयस्तंभ से लेकर ग्वालियर के किले तक हिन्दुस्तानी स्थापत्य के श्रेष्ठ नमूने देखने को मिलते हैं। दक्षिण भारत के स्थापत्य की गरिमा और कौशल का कहना ही क्या! उत्तर और दक्षिण दोनों की मूर्तिकला और चित्रकला पर विदेशी प्रभाव नगण्य है। तानसेन पर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के लेख की एक विशेषता यह है कि वह संगीत के साथ उत्तर भारत की अन्य कलाओं को याद करते चलते हैं। तानसेन की ध्रुपद रचना के प्रसंग में कहते हैं, 'ध्रुपद की वाणी तथा अन्य कवियों के नायक-नायिका और राग-रागिनी की वर्णना के पद ( , ) इनमें प्राचीन राजपूत और मुगल शैली के चित्रों की कवितामय व्याख्या या टीका पाई जाती हैं। ये दो वस्तुएं भारत के काव्योद्यान के दो अनिंद्य सुंदर पुष्प है।' (निबन्ध संग्रह पृ. 137) । संगीत और चित्रकलाओं के साथ समकालीन काव्य के अध्ययन का यह तरीका सही है।

यूनान की प्राचीन संस्कृति आधुनिक यूरोप के ज्ञान-विज्ञान की आधारशिला है। यूरोप के इस आधुनिक ज्ञान विज्ञान की शुरूआत पुनर्जागरण काल से होती है। इस शुरूआत में अरबों की मध्यस्थता से भारत का योगदान उल्लेखनीय है। विघटनकालीन भारत का नवनिर्माण साहित्य और संगीत की उस एकताबद्ध संस्कृति के आधार पर ही संभव है

जिसके निर्माता हमारे भक्त कवि थे – जितने दक्ष काव्य रचना में, उतने ही गायन में, जिनके शिष्यों में हिंदू-मुसलमान दोनों हैं, जो हमारी जातीय भाषाओं के उन्नायक हैं और राष्ट्रीय साहित्य के निर्माता भी। उनका यह महत्त्व हिंदी साहित्य के इतिहास के अध्ययन से उजागर होता है।

# 3. समाज, जनता और साहित्य का इतिहास

डॉ. मैनेजर पांडेय

जिस तरह साहित्य का अस्तित्व समाज-निरपेक्ष और पूर्ण स्वतंत्र नहीं होता, वैसे ही साहित्य का इतिहास भी समाज के इतिहास से कटा हुआ नहीं होता। साहित्य का अस्तित्व और उसके विकास की गति समाज-सापेक्ष होती है। साहित्य संबंधी परिवर्तन सामाजिक परिवर्तनों से प्रेरित और प्रभावित होते हैं। साहित्य का अस्तित्व और विकास समाज-सापेक्ष होता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि साहित्य और समाज के बीच सरल, सीधा, समरूप, एकपक्षीय और कार्य-कारण जैसा संबंध होता है। साहित्य समाज का केवल प्रतिविंब ही नहीं होता, वह रचना भी है, इसलिए उसमें नया भी होता है। साहित्य के इतिहास के परिवर्तन सामाजिक परिवर्तनों से प्रभावित होते हैं तो कई बार वे सामाजिक परिवर्तनों को प्रभावित भी करते हैं। साहित्य का विकास सामाजिक विकास की सापेक्षता में होता है, लेकिन कई बार वह सामाजिक विकास की अवस्था की सीमाओं को छोड़ता हुआ आगे भी बढ़ जाता है। सामाजिक अंतर्वस्तु के विकास से साहित्य की अंतर्वस्तु भी परिवर्तित और विकसित होती है, लेकिन दोनों में बराबर एकता और समानता अनिवार्य नहीं होती। नई अंतर्वस्तु के अनुरूप रूप विकसित होता है, लेकिन पुराने रूप भी बने रहते हैं। कई बार नई अंतर्वस्तु के अनुरूप पुराने रूप में परिवर्तन होते हैं तो कभी-कभी रूप भी अंतर्वस्तु को रूपांतरित करने का प्रयत्न करता है। तात्पर्य यह है कि साहित्य के समग्र रूप के परिवर्तन और विकास को समाज के इतिहास की सापेक्षता में ही समझा जा सकता है, लेकिन सावधानी और समझदारी के साथ। साहित्य के इतिहास में समाज और साहित्य के संबंध की पहचान का अर्थ दोनों की एकता, समानता, समरूपता, समानधर्मिता और समकालिकता देखना ही नहीं है, साहित्य के विकास की प्रक्रिया की सापेक्ष स्वतंत्रता, वस्तुनिष्ठता और निरंतरता को भी पहचानना है। एक ओर विधेयवादी साहित्य को समाज का केवल प्रतिबिंब मानकर साहित्य के इतिहास में समाज और साहित्य के बीच कार्य-कारण संबंध देखते हैं तो दूसरी ओर रूपवादी साहित्य-संसार की पूर्ण स्वतंत्रता और भाषानिष्ठ साहित्यिकता में विश्वास करते हुए साहित्य के इतिहास को साहित्यिक विधाओं, रूपों, शैलियों, रीतियों, भंगिमाओं, तकनीकों और भाषिक परिवर्तनों का लेखाजोखा बना देते है।

आचार्य शुक्ल रूपवाद का खंडन करते हैं लेकिन वे समाज और साहित्य का संबंध विधेयवादी ढंग से स्वीकार नहीं करते। वे न तो रूपवादियों की तरह साहित्य के इतिहास को

साहित्यिक रूपों का इतिहास बनाते हैं, न विधेयवादियों की तरह साहित्य और समाज के बीच कार्य-कारण संबंध देखते हैं और न सापेक्षतावादियों की तरह इतिहास की वस्तुपरकता को नकारकर केवल आत्मपरक रवैया अपनाते है। आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि द्वंद्वात्मक इतिहास-दृष्टि के निकट है, जिसमें साहित्य और समाज का संबंध भी द्वंद्वात्मकता, जटिलता और विकासशीलता की पहचान है, साहित्य की समाज-सापेक्षता के साथ-साथ उसकी अपनी विशिष्टता का भी बोध है।

आचार्य शुक्ल ने अपने साहित्य के इतिहास के दृष्टिकोण को इस रूप में रखा है : 'जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चलता है। आदि से अंत तक उन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उसका सामजंस्य दिखाना साहित्य का इतिहास कहलाता है' (वही, पृ. 4)। यहाँ मूलवस्तु जनता की चित्तवृत्ति है और साहित्य उसका संचित प्रतिबिंब है। जनता की चित्तवृत्ति शाश्वत और गतिहीन नहीं होती और न उसकी परिवर्तन की प्रक्रिया स्वचालित और आत्मनिर्भर होती है। जनता की चित्तवृत्ति व्यापक राजनीतिक-सामाजिक परिवेश से प्रभावित होती है और साहित्य के परिवर्तनों को प्रभावित करती है। इस प्रकार साहित्य के स्वरूप के परिवर्तन और विकास के मूल में जनता की चित्तवृत्ति है और जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन और विकास के मूल में सामाजिक विकास। समाज, जनता की चित्तवृत्ति और साहित्य में परिवर्तन के बावजूद एक निरतरता होती है, जिसे परंपरा कहते हैं। समाज, जनचेतना और साहित्य की परंपराओं के संबंध के बोध से ही इतिहासबोध का विकास होता है। साहित्य के इतिहास के बारे में आचार्य शुक्ल का यह दृष्टिकोण रूपवादी, विधेयदादी और सापेक्षतावादी इतिहास-दृष्टियों से भिन्न है।

यह स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि के मूल में जनचेतना और साहित्य के विकासशील संबंध का बोध है। विचारणीय बात यह है कि आचार्य शुक्ल की जनता किस प्रकार की है। उन्होंने इतिहास के 'कालविभाग' में साहित्य को जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब माना है और इस जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन को ही साहित्य के स्वरूप के परिवर्तन का कारण भी माना है। लेकिन प्रथम संस्करण के 'वक्तव्य' में लिखा है कि 'शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो-जो परिवर्तन होते आये हैं, जिन-जिन प्रवृत्तियों की प्रेरणा से काव्यधारा में भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत कालविभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन है । जनता और

शिक्षित जनता का यह भेद केवल वक्तव्य और कालविभाग में ही नहीं। बल्कि आचार्य शुक्ल के इतिहास में आदि से अंत तक साहित्य और समाज के संबंध के दृष्टिकोण में जनता' और 'शिक्षित जनता' का द्वंद्व और तनाव मौजूद है। यह द्वंद्व बार-बार सामाजिकता और साहित्यिकता के द्वंद्व के रूप में उभरकर सामने आता है। इतिहास में कभी रचनाओं की सामाजिकता उनकी साहित्यिकता को निर्धारित करती है और कभी साहित्यिकता सामाजिकता को। साहित्यिकता के मूल में अनुभूतिवाद और अभिव्यक्तिवाद का योग है और सामाजिकता के मूल में लोकसंग्रह का भाव। साहित्यिकता की कसौटी 'शिक्षित जनता' की चित्तवृत्ति है और सामाजिकता की कसौटी सामान्य जनता।

आचार्य शुक्ल के इतिहास में रचनाओं और रचनाकारों के मूल्यांकन में 'जनता' और 'शिक्षित जनता' के द्वंद्व का प्रभाव है। आचार्य शुक्ल के अनुसार सिद्धों ने 'निम्न श्रेणी की प्राय: अशिक्षित जनता को प्रभावित किया, लेकिन इनकी कविताएँ शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं।' भक्तिकाल के निर्गुण संतों के काव्य के बारे में उनकी राय है कि 'इसमें संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास नहीं पाया जाता जो शिक्षित जनता को अपनी ओर आकर्षित करता, पर अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इस शाखा के संत महात्माओं का भारी उपकार है (वही पृ. 73)। यहाँ शिष्ट शिक्षित समुदाय और व्यापक सामान्य जनता का भेद स्पष्ट हो जाता है। शुक्लजी ने शिक्षित समुदाय की ओर से संत कवियों की आलोचना की है। संतों ने अपनी कविता से सामान्य जनता में आत्मगौरव का भाव जगाने और उसे ऊपर उठाने का जो काम किया, उसके लिए शुक्लजी ने उनकी सराहना की है, लेकिन संतों की कविता में 'संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी' का शिष्टजनोचित विकास न पाकर उसकी आलोचना की है। संतों की कविता में जनभावनाओं की अभिव्यक्ति है, वह सामान्य जनता की सांस्कृतिक आकांक्षा की अभिव्यक्ति की कविता है। संत कवियों ने सामान्य जनता की भाषा में सामान्य जनता के लिए कविता की, 'संस्कृत वाणी' के प्रेमी शिष्टजनों के लिए नहीं। प्रयोजन और प्रभाव की एकता ही संत काव्य की व्यापक लोकप्रियता का कारण है। आचार्य शुक्ल जब आगे चलकर यह कहते हैं कि 'सतों की वाणी में लोकधर्म की अवहेलना छिपी हुई थी' और वे 'यों ही ज्ञानी बने हुए मूर्ख जनता को लौकिक कर्तव्यों से विचलित करना चाहते थे' तो बहुत आश्चर्य होता है। वास्तव में गलत दृष्टिकोण लेकर चलने पर गलत निष्कर्ष पर पहुँचना स्वाभाविक है। शुक्लजी ने संत काव्य को लोक-विरोधी मान लिया तो उससे प्रभावित होनेवाली जनता को भी 'मूर्ख' समझ लिया। संत कवि उस समय की सांमती समाज-व्यवस्था, उसके सांस्कृतिक मूल्यों और मर्यादाओं के विरुद्ध आवाज उठा रहे थे। यही

नहीं, वे उस व्यवस्था में पीड़ित जनता में आत्मगौरव का भाव जगाकर उसे ऊपर उठा रहे थे, इसलिए उनको लोक विरोधी और जनता को 'मूर्ख' तथा 'अंधी भेड़' समझना गलत है।

आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिशचंद्र के युगप्रवर्तक महत्व को पहचानते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा कि भारतेन्दु ने जीवन और साहित्य के विच्छेद को दूर किया, लेकिन साथ में यह जोड़ा कि वे साहित्य को शिक्षित जनता के साहचर्य में ले जाए। जीवन और साहित्य के बीच की दूरी मिटाने का अर्थ है साहित्य को व्यापक जनता के भावों, विचारों और जीवन - उद्देश्यों के करीब लाना। ऐसी स्थिति में साहित्य का साहचर्य सामान्य जनता से होगा, केवल शिक्षित जनता से नहीं।

वास्तव में आचार्य शुक्ल साहित्य की उत्पत्ति, उसके व्यापक स्वरूप, स्थायित्व और विकास का आधार सामान्य जनता को मानते हैं, लेकिन साहित्य की रचना और बोध के प्रसंग में प्रायः शिक्षित जनता की बात करते हैं। साहित्य के इतिहास में शिक्षित जनता और जनता संबंधी दृष्टिकोण के मूल में मध्यवर्गीय चेतना है, लेकिन शिक्षित जनता से शुक्ल जी का आशय न तो 'इत्र सूँघने वालों और शहद चाटने वालों से है और न जनता का खून चूसने वालों से । शिक्षित होना जन-विरोधी हो जाना नहीं है । आचार्य शुक्ल स्वय जनता में गिने जाएंगे, अशिक्षित जनता में नहीं।

आचार्य शुक्ल की लोकवादी इतिहास - दृष्टि साहित्य और राजनीति के संबंध में भी प्रकट हुई है। वे साहित्य की आलोचना और इतिहास में राजनीति की चर्चा से परहेज करने वाले व्यक्ति न थे, साहित्यिक परिवर्तनों को प्रेरित और प्रभावित करने में राजनीति की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते थे। उन्होंने साहित्य ही नहीं, भाषा के विकास के संदर्भ में भी राजनीति के प्रभावों पर ध्यान दिया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनका राजनीतिक दृष्टिकोण सामंतवाद - विरोधी और साम्राज्यवाद - विरोधी है। यही दृष्टिकोण साहित्य में भी है। उन्होंने वीरगाथाकाल के दरबारी कवियों (अपने आश्रयदाता के पराक्रम का 'अत्युक्तिपूर्ण आलाप' करने वाले कवियो) की तुलना में देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने वाले वीरों की प्रशंसा में लिखे गये काव्यों को अधिक महत्व दिया है। वीरगाथाकाल के चारण कवियों से उनकी शिकायत है कि जहाँ राजनीतिक कारणों से युद्ध होता था, वहाँ भी उन कारणों का उल्लेख न करके कोई रूपवती स्त्री कारण कल्पित करके रचना करते थे। यहाँ यह स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल कविता में स्वाभाविक ढंग से राजनीति के माने की नहीं, बल्कि उससे बचने की कोशिश की आलोचना करते हैं। वे राजस्तुति से भरी और राजाश्रय के कारण सुरक्षित रचनाओं की तुलना में जनता के जीवन में जीवित

जगनिक के 'आल्हा' की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं। के जनभाषा में जनसंस्कृति से जुड़ी कविता लिखनेवाले विद्यापति और खुसरो को विशेष महत्त्व देते हैं।

भक्तिकाल की कविता के सामाजिक-सांस्कृतिक आधार को स्पष्ट करते हुए शुक्लजी ने लिखा है कि 'वह जनता की प्रवृत्ति का प्रवाह था।' कुछ लोग आज भी यह समझते हैं कि भक्तिकाल के काव्य का अभूतपूर्व उत्थान मुगल शासन की शांति और सुव्यवस्था के कारण हुआ। आचार्य शुक्ल ने इस भ्रांत धारणा का खंडन करते हुए लिखा है कि 'सूर और तुलसी जैसे भक्तों-कवीश्वरों के प्रादुर्भाव के कारणों में अकबर द्वारा संस्थापित शांतिसुख को गिनना भारी भूल है। उस शांतिसुख के परिणामस्वरूप जो साहित्य उत्पन्न हुआ, वह दूसरे ढंग का था।' भक्तिकाव्य व्यापक जनसंस्कृति के उत्थान का काव्य है, उसका मुख्य स्वर सामतवाद-विरोधी है। आचार्य शुक्ल और कई दूसरे कारणों के साथ-साथ अपने सामंतवाद-विरोधी दृष्टिकोण के कारण भी भक्तिकालीन कविता को विशेष महत्त्व देते हैं। उनका सामंतवाद-विरोधी दृष्टिकोण रीतिकाल के मूल्यांकन में विशेष रूप से प्रकट हुआ है।

हिंदी साहित्य का आधुनिक काल राष्ट्रीय नवजागरण और राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन की उपज है। इस काल में साहित्य और राजनीति का संबंध अधिक महत्त्वपूर्ण और मुखर है। आधुनिक काल के इतिहासलेखन में उनका सामंतवाद-विरोधी और साम्राज्यवाद-विरोधी दृष्टिकोण बार-बार प्रकट हुआ है। भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचंद के साहित्य के मूल्यांकन में शुक्लजी का साम्राज्यवाद-विरोधी दृष्टिकोण दिखाई देता है। भारतेंदुकालीन साहित्य में देशभक्ति के साथ-साथ राजभक्ति और ईश्वरभक्ति के भाव मौजूद थे। इनके कारणों पर विचार करते हुए शुक्लजी ने लिखा है कि 'अव्यवस्था और अशांति के उपरांत अंग्रेज़ों के शांतिमय और रक्षापूर्ण शासन के प्रति कृतज्ञता का भाव भारतेंदु-काल में बना हुआ था। देश की दु:खदशा का प्रधान कारण राजनीतिक समझते हुए भी उस दु:खदशा के उद्धार के लिए कवि लोग दयामय भगवान को ही पुकारते थे।' कुछ दिनों बाद देश में कांग्रेस की स्थापना हुई, लेकिन इससे साहित्य के राजनीतिक स्वर में विशेष शक्ति नहीं आई। कारण यह था कि 'राजनीति की लंबी-चौड़ी चर्चा साल-भर में एक बार धूमधाम के साथ थोड़े-से शिक्षित बड़े आदमियों के बीच हो जाया करती थी जिसका कोई स्थायी और क्रियोत्पादक प्रभाव नहीं देखने में आता था।' आचार्य शुक्ल न कांग्रेस के आरंभिक दिनों के वास्तविक रूप का सही विश्लेषण किया है। उन दिनों स्वाधीनता आंदोलन में जनता की सक्रिय हिस्सेदारी न होने कारण आंदोलन का रूप विशेष प्रभावशाली नहीं था, इसलिए हिंदी साहित्य में केवल असंतोष का भाव व्यक्त हो रहा था, उसमें जनता की

संघर्षशील चेतना से उत्पन्न शक्ति का अभाव था। बाद में जब राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन व्यापक हुआ, गाँव-गाँव में राजनीतिक और आर्थिक परतंत्रता के विरोध की भावना जगी तो कविता का राजनीतिक स्वर बदला। स्वाधीनता आंदोलन में व्यापक जनता की सक्रिय साझेदारी से राजनीति में ही गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ, कविता के राजनीतिक स्वर में भी संघर्ष की शक्ति आई। आधुनिक हिंदी कविता की राजनीतिक चेतना की यह पहचान आचार्य शुक्ल की जनवादी दृष्टि के कारण ही संभव हुई।

भारत का राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन दुनिया-भर की शोषित जनता के मुक्ति आंदोलन से जुड़ा हुआ था। दुनिया-भर की शोषित जनता की साम्राज्यवाद-विरोधी एकता को आचार्य शुक्ल की साम्राज्यवाद-विरोधी और जनवादी दृष्टि ने पहचाना। उन्होंने लिखा: 'सबसे बड़ी बात यह हुई कि ये आंदोलन संसार के और भागों में चलनेवाले आंदोलनों के मेल में लाए गए, जिससे ये क्षोभ की एक सर्वभौम धारा की शाखाओं-से प्रतीत हुए। वर्तमान सभ्यता और लोक की घोर आर्थिक विषमता से जो असंतोष का ऊँचा स्वर पश्चिम में उठा उसकी गूँज यहाँ भी पहुँची' (वही, पृ. 616)। उस समय साम्राज्यवाद के साथ-साथ पूँजीवाद और सामंतवाद के विरुद्ध किसानों और मजदूरों के कई आंदोलन उठ खड़े हुए। आचार्य शुक्ल की सहानुभूति किसानों के साथ थी, इसलिए उन्होंने कहीं-कहीं मजदूर आंदोलन की आलोचना की है। लेकिन किसानों और मजदूरों के आंदोलनों का हिंदी कविता पर जो प्रभाव पड़ा, कुल मिलाकर उसका आचार्य शुक्ल ने स्वागत किया।

आचार्य शुक्ल हिंदी साहित्य के विकास के लिए 'वादों' की बहुलता को हानिकर समझते थे, इसलिए वे ही नए 'वाद' को संदेह की नजर से देखते थे। यही कारण है कि छायावाद ही नहीं प्रगतिवाद भी, जिसे वे कभी 'परिवर्तनवाद' और कभी 'लोकहितवाद' कहते थे, उनके संदेह का शिकार हुआ। वे परिवर्तन और क्रांति के विरोधी न थे, लेकिन 'क्रांति के नाम पर प्रलय की पूरी पदावली में परिवर्तन की प्रबल कामना' प्रकट करनेवाली नकली क्रांतिकारी कविता को संदेह की नजर से देखते थे। दिनकर जैसे कवियों की क्रांति-कामना की असलियत के बारे में उनका संदेह बाद में सच साबित हुआ।

आचार्य शुक्ल के इतिहास में साहित्य और समाज का विकासशील संबंध व्यक्त हुआ है, यह बात उनके समर्थक ही नहीं विरोधी भी स्वीकार करते हैं। लेकिन कुछ लोगों का विचार है कि उनके इतिहास में समाज रचनाओं की आलोचना में नहीं है, वह केवल भूमिका में या प्रत्येक काल के 'सामान्य परिचय' में ही है। क्या यह धारणा सही है? मुझे लगता है कि यह आरोप पूरी तरह सच नहीं है । आचार्य शुक्ल का 'लोक' समाज का ही दूसरा नाम है। और यह 'लोक' उनके इतिहास में आदि से अंत तक मौजूद है । वे 'लोकमंगल'

की कसौटी पर कसकर ही रचनाओं और रचनाकारों का मूल्यांकन करते हैं और जो रचनाकार इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता, उसे खारिज करने में तनिक भी दुविधा अनुभव नहीं करते। वे रचनाओं की महत्ता और सार्थकता का निर्णय उसकी सामाजिक सार्थकता के आधार पर ही करते हैं। रचनाओं के भीतर समाज की उपस्थिति और राजनीति के प्रभावों की खोज की प्रवृत्ति उनके इतिहास में आदिकाल और मध्यकाल से अधिक आधुनिक काल में दिखाई देती है। ऐसी स्थिति में यह कहना सही नहीं है कि उनके इतिहास में समाज केवल भूमिका में है, रचनाओं के विश्लेषण और मूल्यांकन में नहीं।

साहित्य के सामाजिक इतिहासलेखन की प्रवृत्ति आचार्य शुक्ल के हिंदी साहित्य के इतिहास की एक विशेषता है। क्या इसका यह तात्पर्य है कि उनकी इतिहास-दृष्टि एकांगी समाजशास्त्रीय दृष्टि है? शिवदान सिंह चौहान की राय है कि आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि एकांगी समाजशास्त्रीय है (साहित्य की समस्याएँ, पृ.19)। शिवदान सिंह चौहान के इस आरोप का खंडन रामविलास शर्मा ने किया है (आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, पृ.82)। शिवदान सिंह चौहान ने आचार्य शुक्ल के दृष्टिकोण को एकांगी सामाजशास्त्रीय कहा है और रामविलास शर्मा की आलोचना-दृष्टि को 'कुत्सित समाजशास्त्रीय'। आलोचना और इतिहास में साहित्य और समाज की परस्पर संबद्धता को स्वीकार करके चलने वाले दृष्टिकोण को एकांगी या कुत्सित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण घोषित करने की आदत बहुत पुरानी है। आदतन इस बात के दुहराने के बदले आचार्य शुक्ल के इतिहास की गहरी छानबीन अधिक उपयोगी है। आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि में साहित्यिकता सामाजिकता से अधिक प्रबल है, आलोचना इतिहास को अनुशासित करती है। शुक्लजी ने इतिहास के प्रथम संस्करण के वक्तव्य में लिखा है कि 'इतिहास की पुस्तक में किसी कवि की पूरी या अधूरी आलोचना नहीं आ सकती।' फिर भी उन्होंने रचनाओं और रचनाकारों का जो मूल्यांकन और विश्लेषण किया है, वह आज अपनी प्रामाणिकता के कारण व्यापक पाठक वर्ग के साहित्य-विवेक का मार्गदर्शक बना हुआ है। आचार्य शुक्ल ने महत्त्वपूर्ण रचनाओं के कलात्मक सौंदर्य का विश्लेषण-मूल्यांकन ही नहीं किया है, उन्होंने कई कवियों की नकली कलाबाजी की वास्तविकता का उद्घाटन करके असली और नकली कला में फर्क करनेवाला विवेक भी पाठकों दिया है। निर्भ्रांत साहित्य-विवेक ही आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि की मूल शक्ति है, इसलिए उसको एकांगी समाजशास्त्रीय समझना गलत है।

आचार्य शुक्ल के इतिहास में समाज और साहित्य के संबंध को देखकर कुछ लोग उनकी इतिहास-दृष्टि को विधेयवादी भी कहते हैं। श्री नलिनविलोचन शर्मा के अनुसार आचार्य

शुक्ल की इतिहास-दृष्टि विधेयवादी है। उनका कहना है कि पश्चिम में साहित्येतिहास के क्षेत्र में प्रचलित विधेयवाद को आचार्य शुक्ल ने आश्चर्यजनक नव्यवादिता के साथ अधिकृत और व्यवहृत किया (साहित्य का इतिहास दर्शन, पृ. 99)। शर्मा जी का यह कहना है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में विधेयवाद की प्रणाली का व्यवहार करने वाले आचार्य शुक्ल पहले व्यक्ति नहीं है, इसके प्रवर्तन के श्रेय के अधिकारी तो वस्तुतः ग्रियर्सन है। हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों के बीच आचार्य शुक्त के इतिहास की व्यापक मान्यता का रहस्य बतलाते हुए नलिनविलोचन शर्मा ने लिखा है कि विधेयवाद अपने ढंग से मार्क्सवादियों को उतनी ही ग्राह्य है, जितना शुक्लजी के समान विद्वानों को । दोनों ही साहित्य तथा पारिपार्श्विक परिस्थितियों में कार्य-कारण संबंध मानते हैं, अंतर है तो दृष्टिकोण मात्र का।

विधेयवादी इतिहास-दृष्टि के अनुसार साहित्य और समाज में कार्य-कारण संबंध होता है, साहित्य सामाजिक परिस्थितियों से निर्धारित होता है। विधेयवादी वैज्ञानिकता के नाम पर प्राकृतिक विज्ञान की प्रणाली को साहित्य के इतिहासलेखन में लागू करते रहे हैं, वैज्ञानिकता के बहाने विचारधारात्मक संघर्ष में तटस्थता और पक्षधरता विरोधी रवैया अपनाते हैं । वे तथ्यपरकता से बंधे होने के कारण मूल्यों की उपेक्षा करते हैं, साहित्य के इतिहास लेखन को पुरातात्विक विवेचन बनाकर विकृत इतिहास प्रस्तुत करते हैं। सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि विधेयवादी साहित्य के सौन्दर्यबोधीय और कलात्मक पक्षों की उपेक्षा करते हैं। तेन के अंग्रेजी साहित्य के सौन्दर्यबोधीय और कलात्मक पक्षों की उपेक्षा करते हैं। तेन की अंग्रेजी साहित्य के इतिहास को विधेयवादी इतिहासलेखन का उदाहरण माना जाता है। तेल के इस इतिहास के विधेयवाद की तथाकथित वैज्ञानिकता, निर्धारणवाद, तथ्यवाद, विकृत इतिहासवाद, भोंडे भौतिकवाद और भाववादी मनोवैज्ञानिकता की पर्याप्त आलोचना करने वालों में मार्क्सवादी विचारक दूसरों से बहुत आगे हैं । विधेयवाद का ही एक दूसरा रूप आलोचना में एकांगी समाजशास्त्री या कुत्सित समाजशास्त्रीयता के रूप में भी प्रकट होता है, जिसकी मार्क्सवादियों ने बार-बार आलोचना की। इसलिए यह कहना गलत है कि मार्क्सवादी विधेयवाद को स्वीकार करते है। संभव है, विधेयवादी मार्क्सवादी ऐसा करते हों, लेकिन तब वे मार्क्सवादी नही रह जाएंगे।

आचार्य शुक्त की इतिहास-दृष्टि विधेयवादी निर्धारणवाद, तथ्यवाद, झूठी वैज्ञानिकता, विचारधारात्मक संघर्ष में तटस्थता और पुरातात्विक का शिकार नहीं है। उनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक और वस्तुवादी है। आलोचना विवेक उनकी इतिहास दृष्टि की केन्द्रीय विशेषता है, जिसमें रचनाओं के कलात्मक सौन्दर्य के विश्लेषण और मूल्यांकन की प्रवृत्ति प्रबल है। उनकी इतिहास-दृष्टि मूल्यपरक और और पक्षधर है, वे सामती और पूँजीवादी

जीवनमूल्यों, कलामूल्यों आदि का विरोध करते हैं और जनवादी संस्कृति, परंपरा तथा कलामूल्यों का पक्ष लेते हैं। विधेयवाद का अविवेकी भौतिकवाद साहित्य के इतिहासलेखन में आत्यंतिक भाववाद से जा मिलता है, जबकि आचार्य शुक्ल का विवेकी भाववाद ऐतिहासिक भौतिकवाद के निकट दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में यह कहना गलत है कि आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि विधेयवादी है। अगर आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि विधेयवादी नहीं है तो यह कहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि वे हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन में विधेयवादी प्रणाली के प्रवर्तन का श्रेय ग्रियर्सन से जबर्दस्ती छीन लेने की कोशिश करते हैं। अगर अब भी किसी को आचार्य की इतिहास-दृष्टि के विधेयवादी होने का भ्रम बना हुआ हो तो उसे तेन के अंग्रेजी साहित्य के इतिहास से शुक्लजी के इतिहास की तुलना करके अपना भ्रम दूर कर लेना चाहिए। ऐसे तुलनात्मक अध्ययन के बाद शुक्लजी की इतिहास-दृष्टि की भिन्नता और श्रेष्ठता समझ में आ जाएगी।

हिंदी के मार्क्सवादियों के बीच आचार्य शुक्ल के इतिहास की मान्यता का कारण उसका विधेयवाद नहीं है, जैसा कि नलिनविलोचन शर्मा समझते हैं, और मार्क्सवाद साहित्य और समाज के बीच विधेयवाद की तरह कार्य-कारण संबंध भी नहीं मानता। मार्क्सवाद साहित्य और समाज के बीच द्वंद्वात्मक संबंध मानता है, वह समाज से साहित्य की सापेक्ष स्वायत्तता स्वीकार करता है, समाज के परिवर्तन और विकास में साहित्य की क्रांतिकारी पक्षधर भूमिका पर बल देता है और साहित्य के कलात्मक सौंदर्य तथा सौंदर्यबोधीय महत्त्व की सार्थकता को भी मानता है। मुख्य बात यह है कि मार्क्सवाद साहित्य के वर्गीय स्वरूप, प्रयोजन और विचारधारात्मक रूप को पहचानते हुए साहित्य के इतिहास को समाज के वर्गसंघर्ष के इतिहास से जोड़कर देखता है। आचार्य शुक्ल अपने इतिहास और अपनी आलोचना, दोनों में सामंती संस्कृति, दरबारी साहित्य और पूँजीवादी कलामूल्यों एवं सिद्धांतों का विरोध करते हैं। वे हर प्रकार के रूढ़िवाद, रीतिवाद, रहस्यवाद, कलावाद और व्यक्तिवाद का खंडन करते हैं और साहित्य में जनवादी मूल्यों तथा प्रवृत्तियों का समर्थन करते हैं, इसलिए वे हिंदी के मार्क्सवादी आलोचकों के बीच स्वीकृत और समादृत हैं।

# 4. अपभ्रंश और हिन्दी का साहित्यिक सम्बन्ध

डॉ. नामवर सिंह

## अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य के इतिहासकार

अपभ्रंश से हिन्दी साहित्य का क्या संबंध है? इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के प्रायः सभी इतिहासकारों ने आदि-काल के अन्तर्गत अपभ्रंश साहित्य को भी रखा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी शब्द सागर की भूमिका के रूप में हिन्दी साहित्य का विकास (जनवरी 1929 ई.) नाम से जो विस्तृत निबंध लिखा उसमें किसी कारण से अपभ्रंश साहित्य का समावेश नहीं हो सका था। लेकिन उसी साल उस भूमिका को स्वतंत्र पुस्तक के रूप देते समय शुक्ल जी को वह कमी महसूस हुई । इसलिए हिन्दी साहित्य का इतिहास' के आदिकाल में अपभ्रंश साहित्य को स्थान देते हुए उन्होनें कहा कि 'आदिकाल के भीतर अपभ्रंश की रचनाएं भी ले ली गई हैं क्योंकि वे सदा से 'भाषा काव्य' के अन्तर्गत ही मानी जाती रही है। कवि परंपरा के बीच प्रचलित जनश्रुति कई ऐसे प्राचीन भाषा काव्यों के नाम गिनाती चली आयी है।, जो अपभ्रंश में हैं जैसे कुमारपाल चरित और शारंङधर कृत हम्मीर रासो।"[1]

इसी परिपाटी का पालन 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में करते हुए डॉ0 रामकुमार वर्मा ने भी कहा कि "अर्धमागधी और नागर अपभ्रश से निकलनेवाली सिद्ध और जैन कवियों की भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप की छाप लिये हुए हैं। इस प्रकार इसे हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए।"[2]

इस कार्य का समर्थन करते हुए डॉ.हजारी प्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी साहित्य उसका उदभव और विकास' में कहते है कि "यदि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने अपभ्रंश साहित्य को हिंदी का ही मूलरूप समझा है तो ठीक ही किया है।"[3]

लेकिन हिन्दी साहित्य के आदिकाल में अपभ्रंश को स्थान देते हुए भी इन सभी इतिहास-कारों को अपभ्रंश विषयक दृष्टिकोण में अन्तर है। शुक्लजी ने जब अपभ्रंशकी रचनाओं को 'भाषा-काव्य' समझ कर हिंदी साहित्य में अपना लिया तो उस समय तक अपभ्रंश का विशाल साहित्य प्रकाश में नहीं आया था।स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल,जोइंदु,रामसिंह आदि की कृतियाँ अभी सामने आने को थीं।शुक्ल जी इन ग्रन्थों को देखने का अवसर पाते तो शायद

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करणका वक्तव्य
2. आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 68 (द्वितीय संस्करण, 1648 ई.)
3. हिंदी साहित्य, पृ. 17 (1652 ई.)

अपभ्रंश नाम से ख्यात इन रचनाओं को 'भाषा-काव्य' कहकर हिंदी में न समेट लेते। शुक्ल जी ने कुमारपाल चरित, हम्मीर रासो आदि ग्रंथों को भाषा की दृष्टि से ही साहित्य में स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त उन्हें अपभ्रंश और हिंदी में और कोई संबंध नहीं दिखाई पड़ता था।

डॉ. वर्मा ने अपने 'आलोचनात्मक इतिहास' में जिस अपभ्रंश-साहित्य को स्थान दिया है वह अब तक का लगभग संपूर्ण विज्ञापित साहित्य है। उसमें स्वयंभ, पुष्पदंत, धनपाल, जोइंदु आदि जैन तथा सरह पा, काण्ह पा आदि सिद्ध और अब्दुल रहमान जैसे इतर मत वाले सभी अपभ्रंश कवियों का समावेश किया गया है। डॉ. वर्मा ने भी भाषा की दृष्टि से ही इस अपभ्रंश साहित्य को हिन्दी के अन्तर्गत लिया है। उनके अनुसार इन रचनाओं की भाषा 'हिन्दी के प्रारंभिक रूप की छाप लिये हुए है' इसीलिए वह: हिंदी साहित्य में लिए जाने के अधिकारी है। एकदम हिंदी न होने के कारण ही उन्होंने इन रचनाओं को 'संधिकाल' के अन्तर्गत रखा है।

लेकिन डॉ. द्विवेदी ने अपभ्रंश साहित्य को हिंदी-साहित्य का अंग नहीं माना है; उन्होंने अपभ्रंश-साहित्य को हिन्दी-साहित्य का 'मूल-रूप' समझा है। अपभ्रंश और हिन्दी का संबंध उनकी दृष्टि में केवल भाषा का ही नहीं हैं बल्कि 'साहित्यिक परंपरा' का है। "हिन्दी साहित्य में (अपभ्रंश की) प्राय: पूरी परंपराएँ ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। शायद ही किसी प्रान्तीय साहित्य में ये सारी की सारी विशेषताएँ इतनी मात्रा में और इस रूप में सुरक्षित हों। यह सब देखकर यदि हिंदी को अपभ्रंश साहित्य से अभिन्न समझा जाता है तो इसे बहुत अनुचित नहीं कहा जा सकता। इन ऊपरी साहित्य-रूपों को छोड़ भी दिया जाए तो इस साहित्य की प्राण-धारा निरवच्छिन्न रूप से परवर्ती हिंदी-साहित्य में प्रवाहित होती रही है।"[1]

## अपभ्रंश और हिंदी का ऐतिहासिक सम्बन्ध

अपभ्रंश को हिंदी-साहित्य का अंग मानना एक बात है और 'मूल रूप' मानना बिल्कुल दूसरी बात। अपभ्रंश को हिन्दी-साहित्य का मूल रूप या मूल स्रोत मानने का अर्थ यह है कि अपभ्रंश और हिंदी का संबंध ऐतिहासिक है। ऐतिहासिक संबंध को थोड़ा और समझने की आवश्यकता है। कुछ विद्वानों ने हिन्दी-साहित्य पर अपभ्रंश का प्रभाव दिखलाया है। लेकिन 'प्रभाव' और ऐतिहासिक 'संबंध' एक ही चीज नहीं है। हिंदी साहित्य पर संस्कृत के प्रभाव की बात तो समझ में आती है लेकिन जिस साहित्य का अपभ्रंश के गर्भ से ही क्रमश: उद्‌भव और विकास हुआ है, उसे अपभ्रंश से 'प्रभावित' मात्र कहना अवैज्ञानिक है।

---

1. हिंदी साहित्य, पृ० 15

इसलिए अपभ्रंश और हिन्दी के संबंध की मौलिक समस्या यह नहीं है कि हिन्दी के कुछ काव्य-रूपों, काव्य-रूढ़ियों, उपमाओं और छंदों पर अपभ्रंश का प्रभाव दिखा दिया जाए। यह सब तो ऊपरी बाते है। अपभ्रंश से हिंदी का सम्बन्ध इससे कहीं अधिक आन्तरिक और गहरा है। संभव है कि विश्लेषण करने पर इस तरह फिर ऊपरी समानताएँ इन दोनों साहित्यों के बीच उतनी न मिलें; लेकिन इसी से दोनों के सम्बन्धों का निर्णय नहीं हो जाता। मुख्य बात है साहित्यिक चेतना का तारतम्य और भावधारा का नैरन्तर्य जिसे डा द्विवेदी ने 'प्राणधारा' कहा है। यदि इन दोनों साहित्यिक अवस्थाओं के बीच मौलिक प्राणधारा के पौर्वापर्य का कुछ भी निर्णय हो जाता है तो ऐतिहासिक सम्बन्ध की पुष्टि होती है। इसलिए अपभ्रंश और हिंदी-साहित्य के संबंध की मौलिक समस्या यह है कि अपभ्रंश के गर्भ से साहित्य का उद्‌भव किस प्रकार हुआ और अपभ्रंश से उत्पन्न होने के बाद विकास-क्रम में हिंदी-साहित्य किस हद तक अपभ्रंश से अभिन्न तथा किस हद तक उससे भिन्न तथा स्वतन्त्र हो गया?

## हिन्दी-साहित्य का आदिकाल और अपभ्रंश

अपभ्रंश की वह कौन-सी प्राण-धारा थी जिसका विकास हिंदी में हुआ, इसका निर्णय इस बात पर निर्भर है कि हिंदी के आदि काल की मुख्य प्रवृत्ति क्या है। इस विषय में आमतौर से लोगों में यह धारणा प्रचलित है कि हिंदी का आरंभ वीरगाथाओं से हुआ है। इस धारणा के सूत्रपात का श्रेय मुख्यत: आचार्य शुक्ल के 'इतिहास' को है। शुक्ल जी ने हिन्दी-साहित्य के आदिकाल का सामान्य परिचय देते हुए लिखा है कि "आदि काल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ़-दो सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है–धर्म, नीति, श्रृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तब से हम हिंदी-साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं। राज्याश्रित कवि और चारण, जिस प्रकार दीप्ति, श्रृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यह प्रबन्ध परम्परा रासो नाम से पाई जाती है जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथाकाल' कहा है।'' आगे इस कथन की पुष्टि ऐतेहासिक परिस्थितियों के द्वारा करते हुए शुक्ल जी ने कहा कि "जिस समय से हमारे हिंदी साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई-भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था। और बातें पीछे पड़ गई थीं।"[1] यदि साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से इस कथन की पुष्टि

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 3-4 (पाँचवाँ संस्करण, 1949 ई०)

करना चाहें तो कह सकते हैं कि चारण कवियों की वीरगाथाएँ परवर्ती अपभ्रंश की परम्परा के अनुसार ही थीं इस तरह आसानी से यह कहा जा सकता है वीरगाथा ही वह प्राणधारा है जिसका विकास अपभ्रंश से हिंदी में हुआ।

ऊपर ऊपर से देखने पर इस कथन में संदेह की गुंजाइश, नहीं होनी चाहिए। लेकिन प्राणधारा का प्रश्न 'आदिकाल' तक ही नहीं समाप्त हो जाता है। यदि वीरगाथा ही अपभ्रंश और हिंदी आदिकाल की प्राणधारा थी तो आगे उसका विकास भी होना चाहिए। लेकिन इतिहास से उस प्राणधारा के विकास का समर्थन नहीं होता। तथाकथित वीरगाथाओं के बाद हिंदी में तुरन्त संत और भक्ति काव्य का अभ्युदय हो जाता है और विकास की इन दोनों भावधाराओं में इतना अधिक अन्तर है कि विकास की कोई एकसूत्रता ढूँढ़ निकालना कठिन है। फिर भी जब बुद्धि है तो संगति भी बैठानी ही है। फलतः शुक्ल जी ने युक्ति दी कि 'देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया।... ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे।... अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।"[1]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी साहित्य की आदिकालीन वीरता की भावना वाली प्राणधारा प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण समाप्त हो गई और उसके बाद हिंदी साहित्य में उदासी छा गई। मतलब यह कि संतभक्ति साहित्य आरम्भिक वीरगाथाओं की अपेक्षा कम प्राणवान है। यह सही है कि अपनी युक्तियों से शुक्ल जी ने एकदम यही निष्कर्ष नहीं निकाला है लेकिन उनकी युक्ति की तर्कसंगत परिणित यही हो सकती है। लेकिन शुक्ल जी ने भक्ति काव्य का जो मूल्यांकन किया है, उससे स्पष्ट है कि वे भक्ति काव्य को वीरगाथाओं से कहीं अधिक श्रेष्ठ मानते थे; यही नहीं, भक्ति काव्य को उन्होंने हिन्दी का स्वर्ण-युग कहा है। वीरगाथाओं के मूल्यांकन के विषय में मतभेद हो सकता है, लेकिन भक्ति काव्य को एक स्वर से साधारण जन और विद्वान सर्वश्रेष्ठ मानते हैं–उसे भारतीय समाज की आत्मा, शक्ति, प्राणधारा आदि सब कुछ अनुभव करते हैं।

ऐसी दशा में इस विषय पर फिर से विचार करने की आवश्यकता है कि हिन्दी के भक्ति काव्य की मूल चेतना का स्वरूप 'आदिकाल' में क्या था और उससे भी पहले अपभ्रंश में उसके बीज किस दशा में मिलते हैं।

---

1. वही, पृ० 30

अब प्राय: सभी लोग यह मानने लग गए हैं कि भक्ति काव्य वीरगाथाओं की हताश प्रतिक्रिया नहीं है। शुक्ल जी की वह युक्ति बहुत पहले ही इतिहासकारों को खटक गई थी। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी पहले आदमी हैं जिन्होंने शुक्ल जी की उस स्थापना का प्रतिवाद किया।[1] यदि भक्ति काव्य वीरगाथाओं की हताश प्रतिक्रिया न था, तो उसके बीज 'आदिकाल' में अवश्य मिलने चाहिए। जो विद्वान हर चीज को बाहरी प्रभाव के रूप में देखने के अभ्यस्त होते हैं वे तो 'भक्ती द्राविड़ ऊपजी' जैसी पंक्तियों के सहारे भक्ति काव्य को सहसा बाहर से आई हुई चीज कह कर निश्चिन्त हो सकते हैं। लेकिन जिनके मन में किसी जातीय चेतना को समझने की थोड़ी-सी भी शक्ति है वे उस प्रभाव को ग्रहण करने योग्य परिस्थितियों की खोज हिन्दी जाति के जीवन में ही करते हैं, ऐसी स्थिति में इस बात की पूरी सम्भावना है कि हिन्दी साहित्य के 'आदि काल' में वीरगाथाओं के साथ-साथ भक्ति के भी मूल तत्त्व रहे होंगे। लेकिन यह सम्भावना कोरा अनुमान नहीं है। वीरगाथाओं की प्रामाणिकता के विषय में तो संदेह भी किया जाता है लेकिन आदि काल में जो सिद्धों और नाथों का काव्य मिलता है उनकी प्रामाणिकता के विषय में प्राय: सभी विद्वान काफी संतुष्ट हैं।

इस विषय में स्वयं शुक्ल जी की भी यही राय थी कि "असंदिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास (प्राकृत रूढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध) हिन्दी है।" और "प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ मुक्त भाषा के जो पुराने काव्य जैसे वीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो–आजकल मिलते हैं वे संदिग्ध हैं।"[1] फिर भी आश्चर्य है कि वे संदिग्ध सामग्री को लेकर विचार करते हैं, उसके आधार पर आदिकाल की मुख्य प्रवृत्ति का निर्णय करते हैं और इस तरह संतोष करते हैं।

इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। कारण स्पष्ट है। शुक्लजी को सिद्धों और नाथों के काव्य की साहित्यिकता पर घोर आपत्ति थी। अपनी वह आपत्ति उन्होंने बार-बार प्रकट की। प्रथम संस्करण के वक्तव्य में उन्होंने कहा कि अपभ्रंश की पुस्तकों में कई तो जैनों के धर्म-तत्त्व निरूपण सम्बन्धी हैं जो साहित्य-कोटि में नहीं आतीं। और संशोधित तथा प्रवर्द्धित संस्करण से सम्बन्ध में दो बातें कहते हुए उन्होंने फिर जोर दिया कि 'सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य-कोटि में नहीं आती। अपभ्रंश के जैन काव्यों के विषय में शुक्लजी ने जो असाहित्यिकता की बात कही है, वह तो सम्भवत: इसलिए कि उन्हें स्वयंभू,

---

1. हिं० सा० इतिहास, पृ० 4, 29

पुष्पदंत, धनपाल आदि के काव्य देखने को मिले ही नहीं। लेकिन सिद्धों और योगियों की रचनाओं के काव्यत्व पर उन्होंने जो आपत्ति उठाई उसे उनके काव्य-सम्बन्धी विशेष दृष्टिकोण का परिणाम समझना चाहिए। विचित्र स्थिति है। जो रचनायें साहित्यिक हैं वे संदिग्ध हैं और जो असंदिग्ध हैं वे असाहित्यिक हैं। साहित्यिकता और असंदिग्धता के इस विरोध में इतिहासकार को असंदिग्धता का ही पक्ष लेना पड़ेगा क्योंकि विचार से तथ्य प्रबल होता है। किसी रचना की साहित्यिकता एक दृष्टिकोण है और इस पर मतभेद हो सकता है, लेकिन किसी रचना की असंदिग्धता एक स्थापित तथ्य है और उसे झख मारकर स्वीकार करना पड़ेगा। संभवत: इसी बात को ध्यान में रखकर डा. द्विवेदी ने उदारतापूर्वक आग्रह किया है कि इस अंधकार युग को प्रकाशित करने योग्य जो भी मिल जाए उसे सावधानी से जिला रखना कर्तव्य है, क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की संभावना लेकर आई होती है, उसके पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की धड़कन का ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के संयत और सुचिन्तित वाक्-पाटव का ही नहीं, बल्कि उस युग के संपूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता होती है। इस काल की कोई भी रचना अवज्ञा और उपेक्षा का पात्र नहीं हो सकती। साहित्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से, या सामाजिक गति की दृष्टि से उसमें किसी न किसी महत्त्वपूर्ण तथ्य के मिल जाने की सम्भावना होती है।"[1]

मतलब यह है कि हिन्दी साहित्य के आदिकाल में वीरगाथाओं के साथ धार्मिक रचनाएँ भी हो रही थीं। दूसरे शब्दों में यह युग अन्तर्विरोधों का था। इसी को डॉ. द्विवेदी ने 'स्वतो-व्याघातों का युग' कहा है और शुक्ल जी ने 'अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति' का युग कहा है। लेकिन अन्तर्विरोध अथवा स्वतोव्याघात एक चीज है और उस लोक-प्रवृत्ति को अनिर्दिष्ट कहना बिलकुल दूसरी चीज। हिंदी साहित्य के आदिकाल में प्रवृत्तियों की अराजकता नहीं थी, उसमें बेतरतीब उगी हुई प्रवृत्तियों का जंगल नहीं था। उस विविधता में भी व्यवस्था थी और वह व्यवस्था यह थी कि दो स्पष्ट विरोधी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं। एक प्रवृत्ति वह थी जो क्रमश: क्षीयमाण थी, दूसरी वह थी, जो क्रमश: वर्धमान थी। पहली का सम्बन्ध राजस्तुति, सामंतों के चरितवर्णन, युद्धवर्णन, केलि विलास, बहुविवाह के लिए विजयोन्माद आदि से था और दूसरी का सम्बन्ध नीची समझी जाने वाली जातियों के धार्मिक असंतोष, रूढि-विरोध बाह्याडंबर खंडन, जाति-भेद की आलोचना, उच्चतर आचार, व्यापक भगवत्प्रेम, माननीय आत्मगौरव आदि से था। एक का नाम तथाकथित वीरगाथा काव्य है और दूसरी का तथाकथित योगधारा।

---

1. हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० 25 (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद 1952 ई०)

वीरगाथाओं को क्षीयमाण मनोवृत्ति का प्रतिबिम्ब कहने से, संभव है, इनके प्रति श्रद्धालु हृदयों को किंचित् ठेस पहुँचे और पूर्वस्थापित धारणाओं को धक्का लगे, लेकिन इतिहास विधाता का निर्णय निर्मम हुआ करता है। आचार्य शुक्ल जैसे रस-सिद्ध सहृदय समीक्षक ने जब 'रासो-ग्रन्थों को सच्ची वीरगाथा के रूप में निरूपित किया तो इसे आचार्य की सहृदयता का अतिरिक्त आरोग्य ही समझना चाहिए। उन्हें यदि इन काव्यों में मध्ययुगीन यूरोप के 'बैलेड' काव्य की झलक दिखाई पडी तो इसे उनके अतीत प्रेम का प्रमाण पत्र मानना चाहिए। इसमें कोई शक नहीं कि 'रासो' काव्यों में कहीं-कहीं सामन्तों के शौर्य का सुन्दर प्रदर्शन है और उनकी रसिकता का भी मार्मिक चित्रण हुआ है, परन्तु उन सभी वर्णनों में पुरानी रूढ़ियों और परिपाटियों का इतना संभार है कि उनमें नवोनमेष कम, प्राचीन निपुणता का संचय अधिक दिखाई पड़ता है। ऐसी वीरगाथाओं को तत्कालीन जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिफलन कैसे स्वीकार किया जाए जबकि बख्तियार खिलजी ने दो सौ घोड़ों से समूचे अंग-बंग के राजाओं को एक लपेट में सर कर लिया और जनता के कानों पर जूँ नहीं रेंगी। जाहिर है कि सामान्य जनता की भावना का उन सामन्ती वीरगाथाओं से कोई मतलब नहीं था।

जनता की आशाएँ-आकाँक्षाएं अपने ढंग से हो रही थी। जिस समाज में दुःख दर्द, अत्याचार का स्वरूप जात-पॉत जैसी धार्मिक और नैतिक मान्यताओं के माध्यम से प्रकट होता है, उस समाज में सामान्य जनता का असंतोष स्वभावतः धार्मिक-नैतिक रूप में ही व्यक्त हो सकता है। इसलिए तत्कालीन हिन्दी जनता की भावनाओं का धार्मिक प्रतीकों में व्यक्त होना स्वाभाविक है। उन भावनाओं पर लोक-जीवन के अंध-विश्वासों टोना-टोटका आदि प्रथाओं तथा निम्न स्तर की अन्य असंस्कृत और ग्राम्य बातों की छाप हो सकती है, फिर भी उन सबके बीच से उनके दुःख -दर्द, असंतोष तथा कभी-कभी कल्पना लोक में आनन्द प्राप्त करनेकी आकांक्षा प्रकट होनी होती है।

दरबारों में रचे गये परिमार्जित और अलंकृत काव्यों की तुलना में ये ग्रामीण काव्य, अनगढ़ कच्चे और सीधे-सादे लग सकते हैं लेकिन इनमें शक्ति की संभावनां अधिक हैं। यदि रूचिर प्राचीन का अपना सौन्दर्य है तो खुर्राट नवीन का भी अपना आकर्षण है। ऐसी अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियों में इतिहासकार साहित्य की प्राणधारा गलितप्राय किन्तु सुन्दर प्राचीन में नहीं, बल्कि विकासोन्मुख किन्तु अनगढ़ नवीनमें देखता है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के आदिकाल की वीर-गाथाएँ रचना-काल और आकार-प्रकार की दृष्टि से संदिग्ध होने के साथ ही निष्प्राण भी है। अब देखना यह है कि आदिकालीन हिन्दी साहित्य की इन दोनों धाराओं के बीज अपभ्रंश में किस रूप में मिलते है।

शिष्ट और ग्राम्य, रूढ़ और नवीन काव्य की दो विरोधी प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश साहित्य में भी मिलती हैं। लेकिन विद्वानों ने इस भेद को अपने-अपने ढंग से समझा है। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उसे लक्षित करते हुए कहा है कि "हिन्दी में दो प्रकार की भिन्न जातियों की दो चीजें अपभ्रंश से विकसित हुई हैं। (1) पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति, ऐहिकता-मूलक शृंगारी काव्य, नीतिविषयक फुटकल रचनाएँ और लोक प्रचलित कथानक, और (2) पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुनिया सन्तों की शास्त्र-निरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़, फटकार, अक्खड़पना, सहज-शून्य की साधना योग-पद्धति और भक्तिमूलक रचनाएँ।"[1] इनमें से उन्होंने पहली प्रवृत्ति को रूढ़िवादी तथा दूसरी को रूढ़ि-विरोधी कहा है। परन्तु तथ्य इस स्थापना के विपरीत जाते हैं। रूढ़ियों का विरोध करने में पश्चिमी प्रदेशों के अपभ्रंश कवि जोइन्दु और रामसिंह उतने ही तत्पर हैं जितने पूर्वी प्रदेशों के सरह पा और काण्ह पा। इसके अतिरिक्त पश्चिमी अपभ्रंश में रचना करने वाले मलखेड के स्वयंभू और पुष्पदंत जैसे प्रबन्ध कवियों को रूढ़ियों का पोषक किसी भी मामले में नहीं माना जा सकता। उन दोनों महाकवियों की रचनाएँ धर्म-विशेष के विचारों से प्रभावित अवश्य हैं किन्तु उनके चरित काव्यों में अनेक प्रकार की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक रूढ़ियों का विरोध किया गया। राम-कथा संबंधी ब्राह्मण धर्म द्वारा प्रवर्तित रूढ़ियों का साहसपूर्वक खंडन स्वयंभू और पुष्पदंत ने ही किया। राजदरबारों के अशुभ प्रभाव का उल्लेख भी उन्होंने ही किया। भौतिक सुख-विलास के आसक्तिपूर्ण जीवन की असारता बतलाकर एक उच्चतर आध्यात्मिक आचरण की प्रेरणा देने में उनके काव्य अग्रणी रहे हैं! पुरुष के अत्याचारों के विरुद्ध नारी के आत्मगौरव को उस युग में स्वयंभू ने जितने साहस के साथ प्रतिष्ठित किया, उतना ही साहस और किसी ने नहीं दिखाया। इस हद तक रूढ़ियों का विरोध पश्चिमी और पूर्व दोनों ही अपभ्रंश के कवियों ने किया। इसके अतिरिक्त जहाँ तक उस युग द्वारा निर्मित आदर्शों और मर्यादाओं के पालन का प्रश्न है, उसमें भी जैन और सिद्ध दोनों कवि एक से दिखाई पड़ते हैं। कर्म-फल का बन्धन तोड़ने में इनमें से कोई सफल न हो सका था। यह अवश्य है कि जैन-मत में कर्मों का बन्धन अत्यन्त उग्र माना जाता था। पूर्व जन्म के कर्मों के कारण नाना जन्म-जन्मान्तरों में भटकने की कथाएँ किसी न किसी रूप में स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल, कनकामर आदि सभी जैन कवियों के चरित काव्यों में मिलती हैं। जो इन्दु और रामसिंह जैसे स्वतंत्रचेता जैनमुनि भी संस्कार से ऊपर उठने में असमर्थ दिखाई पड़ते हैं।

---

1. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० 29

इस प्रकार मूल चेतना की दृष्टि से पश्चिमी और पूर्वी अपभ्रंश की रचनाओं में कोई आधारभूत अंतर नहीं दिखाई पड़ता।

पंडितों के मस्तिष्क में जो यह धारणा घर कर गई है, उसका आधार जातीय (रेशल) है। डॉ. द्विवेद्वी इस सम्बन्ध में अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के कथन को दुहराते हुए कहते हैं कि "पश्चिमी प्रदेशों में बसे हुए आर्य, पूर्वी प्रदेशों में बसे हुए आर्यों से भिन्न प्रकृति के हैं। भाषाशास्त्रियों ने यह निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है कि ये दो भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग थे। यह भी ध्यान रखने की बात है कि पूर्वी प्रदेशों में भारतीय इतिहास के आदि काल से रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह करने वाले संत होते रहे हैं। वैदिक कर्मकांड के मृदु-विरोधी जनक और याज्ञवल्क्य तथा उग्र विरोधी बुद्ध और महावीर आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में उत्पन्न हुए थे।"[1] भारतीय समाज और साहित्य के विषय में इस प्रकार की क्षेत्रीय और जातीय धारणा फैलाने का कार्य प्राय: याकोबी, ल्यूमान, गार्वे, रीज डैविड्स, विंटरनित्स आदि योरोपीय पंडितों ने किया है। इस भेद को कभी पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्रों में बाँटा गया है, कभी आर्य और आर्येतर जातियों में, कभी ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर धर्मों में और कभी एक ही आर्य जाति के भीतर दो प्रकृति वाले आर्यों के रूप में।

जहाँ तक क्षेत्रीय भेद का प्रश्न है, यह युक्ति समझ में नहीं आती कि रूढ़ियाँ एक प्रदेश में रहें और उनका विरोध दूसरे प्रदेश में पैदा हो। पश्चिमी भारत में रूढ़ियाँ जड़ जमाएँ और पूर्वी भारत के रहने वालों को उनसे असंतोष हो यह बहुत दूर की बात मालूम होती है। दरअसल, रूढ़ियों का विरोध वहीं होता है जहाँ रूढ़ियाँ मौजूद होती हैं। प्राचीन काल से ही काशी और मगध में यदि रूढ़ि-विरोधी आचार्य और पंडित होते आए हैं, तो उनके साथ ही रूढ़ि-पोषक विद्वानों का भी गुट रहता आया है।

और यदि आर्य और आर्येतर जैसे जातीय भेद के आधार पर इस साहित्यिक भेद को खड़ा किया जाता है तो पश्चिमी और पूर्वी दोनों ही प्रदेशों में आर्येतर जातियों के मिश्रण के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। बाहर से आने वाली जातियाँ सब की सब पूरब में ही जाकर नहीं बस गयीं; पूर्वी भारत से कहीं अधिक जातीय मिश्रण पश्चिमी भारत में होता रहा है। शकों, हूणों के अतिरिक्त आभीर, गुर्जर आदि पश्चिमी प्रदेशों में ही सबसे पहले आकर बसे। इसलिए पश्चिमी प्रदेशों के रहने वालों में प्राचीन संस्कारों के रूढ़ि-बद्ध होने की सम्भावना कम से कम होनी चाहिये।

---

1. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० 26

भारतीय समाज और साहित्य में आर्य आर्येतर जातियों के अनुसार दो विरोधी प्रवृत्तियों के संघर्ष की बात हो सकती है, लेकिन अपभ्रंश-साहित्य में यह भेद किस हद तक मौजूद था यह बात अभी विचारणीय है। यह सही है कि समय-समय पर बाहर से आने वाली जातियों के सामाजिक संस्कार के कारण भारतीय समाज में थोड़ा बहुत परिवर्तन होता रहा है। भारतीयों ने एक ओर उनको अपनी सामाजिक व्यवस्था में समेटने की कोशिश की और दूसरी ओर उनके अनुसार अपने को थोड़ा-सा बदलकर संतुलन स्थापित करने की ओर भी ध्यान दिया। सामाजिक संगठन में जातीय मिश्रण की इस प्रक्रिया के कारण साहित्यिक परंपरा में प्राय: लोकतत्त्वों का प्रवेश होता रहा है। इस तरह भारतीय साहित्य में समय-समय पर नवजीवन की लहरें आती रही हैं। भारतीय साहित्य के विषय में समान्य रूप से यह बात लागू होती है परंतु अपभ्रंश-साहित्य के विषय में विशेष रूप से इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए कितने तथ्य मिलते हैं–यह आसानी से नहीं बताया जा सकता। जैन कवियों की राम कथा में जो ब्राह्मणेत्तर अंश मिलते हैं तथा पुराणों के चरित नायकों की जो विशिष्ट परंपरा दिखाई पड़ती है, संभव है, वह ऐसे ही लोकतत्त्वों की उपज हो; इसी तरह शृंगार और शौर्य के फुटकल दोहों को भी ऐसे ही लोकजीवन के प्रवेश का परिणाम कहा जा सकता है। लेकिन यह सब कुछ अनुमान ही है। जब तक इसके लिए ठोस प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कह सकना कठिन है।

फिर भी अपभ्रंश-साहित्य के भीतर रूढ़ि-पोषक और नवोन्मेषशालिनी दो प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियों का अस्तित्व नि:संदिग्ध है। ये परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ दो विभिन्न प्रदेशों और भिन्न कवियों में नहीं बल्कि एक ही कवि की एक ही रचना के अन्तर्गत देखी जा सकती हैं। स्वयंभू की रामायण में संस्कृत और प्राकृत की बहुत-सी काव्य-रूढ़ियों का निर्वाह है, अलंकारों का संभार है, प्राचीन मान्यताओं का आग्रह है; फिर भी उनकी मूल चेतना नवीन है। यही बात पुष्पदंत के महापुराण के बारे में भी कही जा सकती है। महापुराण में ऊब-भरे परिपाटी-विहित वर्णन की भरमार है – विवाह-वर्णन में – जन्मोत्सव में, राज-प्रासाद की शोभा में, उद्यानक्रीड़ा में, युद्ध में–सर्वत्र प्राचीन काव्यों की सी एकरसता मिलेगी; फिर भी उनके बीच कार्य-रत रहने वाले पुरुषों का व्यक्तित्व अपना है और उनके निर्माण में कवि अपने नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा करना नहीं भूलता। लोक-काव्य के रूप में विख्यात 'संदेश रासक' जैसे काव्य के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। उसमें सामोर का वर्णन करते समय जिन फल-फूलों की सूची दी गयी है और षड् ऋतु वर्णन जिस ढंग से किया गया है, वह सब एकदम परिपाटी-विहित है। फिर भी 'संदेश रासक' में विरहिणी के हृदय के जो उद्‌गार हैं उनकी भाव-संपदा कवि की अपनी है–वह अपभ्रंश की नवीनता है।

धीरे-धीरे अपभ्रंश-काव्य की यह नवचेतना भी रूढ़ि बनती गयी। परवर्ती अपभ्रंश-काव्य की इतिवृत्तात्मकता और निष्प्राणता इस रूढ़ि का प्रमाण है। तीर्थंकर वही हैं, शलाका पुरुष वही हैं लेकिन उनके बारे में लिखे हुए काव्य निर्जीव हैं। जैन धर्म के सिद्धान्त वही हैं, लेकिन परवर्ती कवियों के कथन में वह सजीवता नहीं है कि उन सिद्धान्तों को जीवंत चरित्रों में ढाल सकें। जिनदत्त सूरि, जिनप्रभ सूरि आदि के लिखे हुए परवर्ती काव्यों में इस जड़त का दर्शन किया जा सकता है। अपभ्रंश के इन परिपाटी-विहित रूढ़ काव्यों का सिलसिला पन्द्रहवी शताब्दी तक चलता रहा अर्थात उस समय तक भी इनकी रचना होती रही जब ब्रज, अवधी आदि लोक-बोलियों में नवीन साहित्यिक चेतना का अभ्युदय हो गया। रूढ़ियाँ तब तक समाप्त नहीं होतीं जब तक उनके पोषक तत्त्व समाज से लुप्त नहीं हो जाते।

## परवर्ती अपभ्रंश का रूढ़ काव्य और हिंदी के चारण-काव्यों में उसका निर्वाह

अपभ्रंश के इन परंपरा-भक्त काव्यों ने हिंदी के कुछ आरंभिक चरित काव्यों को भी प्रभावित किया। हिंदी के हम्मीर रासो, खुम्मान रासो, परमाल रासो पृथ्वीराज रासो आदि जो विशेष प्रकार के रासो काव्य हैं उन्हें अपभ्रंश के परवर्ती चरित काव्यों का बढ़ा हुआ रूप समझना चाहिए। हिंदी के ये रासो ग्रंथ चाहे जब लिखे गये हों, इनमें चाहे जब-जब जितने भी प्रक्षेप हुए हों तुरंत उनमें निहित मूल प्रवृत्ति एक ही है। राजाओं के धन-वैभव, पराक्रम और विवाहबाहुल्य आदि का बढ़ा-चढ़ा वर्णन एक स्वर से और एक ढंग से उन सब में मिलेगा। यह अवश्य है कि भिन्न-भिन्न कवियों की शक्ति के अनुसार वह रूढ़-निर्वाह भी उत्तम-मध्यम हो गया है और उसी मात्रा में वे रचनाएँ भी एक निश्चित सीमा में उत्कृष्ट-निकृष्ट हैं। जैसे 'पृथ्वीराज रासो' में परंपरा-पालन के बावजूद अन्य रासो प्रबंधों की अपेक्षा काव्य-सौन्दर्य कहीं अधिक है। 'पृथ्वीराज रासो' के शशिव्रता-विवाह और संयोगिता-स्वयंवर वाले प्रकरण किसी भी काव्य-ग्रंथ के लिए गौरव के विषय हो सकते हैं। शशिव्रता की वयःसंधि का वर्णन बहुत कुछ परंपरा के अनुसार होते हुए भी चंद की रूप-पारखी दृष्टि का प्रमाण है।

> राका अरु सूरज्ज बिच, उदय अस्त दुहुँ बेर।
> बर ससिवृत्ता सोभई, मनो भृङ्गार सुमेर।।

सुमेरु पर्वत के एक ओर उगते हुए सूर्य और दूसरी ओर डूबते हुए शशि को देखकर विशाल गजराज के दोनों ओर लटकते हुए स्वर्ण-घंटों की उपमा देकर तो माघ 'घंटा-माघ' हो गये; लेकिन चंद की इस प्रतिभा को क्या गौरव दिया जाए जिसने शशिव्रता के शरीर को ही शृंगार का सुमेरु बना दिया, इस शृंगार सुमेरु के एक ओर युवावस्था की राका उदित

हो रही है और दूसरी ओर किशोरावस्था का सूर्य अस्त हो रहा है। उगते हुए पूर्ण चंद्र और डूबते हुए सूर्य की द्वाभा से जिस प्रकार सुमेरु रँग उठता है, उसी प्रकार शृंगार-मूर्ति शशिव्रता भी उभरते हुए यौवन और दबते हुए कैशोर्य की द्वाभा से खिल उठी है। वयसंधि में द्वाभा का सौंदर्य तो बहुत से कवियों ने देखा और दिखाया है, लेकिन किसी सुन्दरी की अंग-यष्टि को शृंगार के सुमेरु की उदात्त उपमा पृथ्वीराज रासोकार चंद की अपनी विशेषता है।

प्राचीनता और नवीनता की यह द्वाभा जिस प्रकार पृथ्वीराज रासो की गायिका शशिव्रता में दिखाई पड़ती है, उस प्रकार कविता में भी।[1]

## हिंदी में अपभ्रंश की जीवन्त परम्परा का विकास

लेकिन हिंदी साहित्य अपभ्रंश की रूढ़ियों का रक्षक-मात्र नहीं रहा और न कोई भी विकासोन्मुख साहित्य ऐसा हो ही सकता है। हर्ष की बात है कि अपभ्रंश के रूढ़ि-साहित्य की उद्धरणी हिंदी में अधिक नहीं हुई। हिंदी मुख्यत: अपभ्रंश की जीवन्त परम्परा को लेकर आगे बढ़ी। अपभ्रंश की यह जीवन्त परम्परा कुछ तो 'संदेश रासक' जैसे प्रेममुग्ध लोक-गीतों में व्यक्त हुई थी, कुछ भविसयत्त कहा, जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ और करकंड चरिउ जैसे आख्यान काव्यों में, कुछ जैन मुनियों तथा बौद्ध सिद्धों के दोहों में और कुछ स्वयंभू और पुष्पदंत के पौराणिक काव्यों में। हिंदी में इस प्राण धारा का विकास कहीं प्रत्यक्ष रूप से हुआ और कहीं परोक्ष रूप से; कहीं यह विकास अपभ्रंश से बहुत आगे हो गया और कहीं अपभ्रंश की सीमा से कुछ ही आगे बढ़ सका। इन सभी बातों पर सोदाहरण विचार करने के लिए इनमें से एक-एक को अलग-अलग लेना ठीक होगा।

## अपभ्रंश लोक-गीत और हिन्दी के शृङ्गारी मुक्तक

अपभ्रंश में लोक-जीवन के स्पर्श तथा लोक-तत्त्वों के प्रवेश से जितनी रचनाएँ हुई उनमें 'संदेश रासक' महत्त्वपूर्ण है। अन्य रास काव्यों की तरह इसमें किसी पुरुष का चरित नहीं गाया गया है, बल्कि यह छोटा-सा प्रेम गीत है। इस तरह के 'रास काव्य' हिंदी में भी लिखे गये। बीसलदेव रास (14वीं शताब्दी ईस्वी) ऐसा ही रास काव्य है जिसे 'पृथ्वीराज रासो' आदि पुराने ढंग के चरित-प्रधान रासो काव्यों से भिन्न कोटि में रखना चाहिए। लगभग सवा सौ छंदों के इस छोटे से प्रेम-काव्य में बीसलदेव के परदेश जाने और उसकी रानी राजमती के वियोग तथा संदेशा भेजने और फिर बीसलदेव के वापस आने की बात ललित मुक्तकों में कही गयी है। यदि इस कहानी को हटा दिया जाए तो भी इस प्रेम-काव्य

---

1. विशेष अध्ययन के लिए देखिए डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी और नामवर सिंह द्वारा सम्पादित 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' (पृ० 168-183)

के मुक्तकों की एकसूत्रता में अंतर नहीं आ सकता क्योंकि सभी छन्दों के बीच कथा की अपेक्षा भाव का सूत्र है 'संदेश रासक' की भाँति 'बीसलेदव रास' भी मुख्यत: विरह काव्य है; अंतर इतना ही है कि 'बीसलदेव रास' के आरम्भ में विवाह के भी गीत हैं, साथ ही बीसलदेव के परदेश जाने का प्रसंग भी वर्णित है। शेष प्रसंग सामान्य रूप से लगभग एक-सा है अंतर केवल ब्यौरे का है। जैसे 'संदेश रास' में जहाँ षड्ऋतु-वर्णन है वहाँ 'बीसलदेव रास' में बारहमासा है। ऐसा मालूम होता है कि बारहमासा' की प्रवृत्ति परवर्ती काल में विकसित हुई। अपभ्रंश की जिस रचना में 'बारहमासा' मिलता है वह विनयचन्द्र सूरिकृत 'नेमिनाथ-चउपई' तेरहवीं शताब्दी ईसवी से पहले की रचना नहीं है, यदि होगी तो उसके बाद की होगी। इसके अतिरिक्त 'संदेश 'रास' क षड्ऋतु वर्णन जहाँ ग्रीष्म ऋतु से शुरू होता है,। वहाँ 'बीसलदेव रास' का 'बारहमासा' कार्तिक मास से आरम्भ होता है, कारण स्पष्ट है। चौमासे में कोई प्रवास नहीं करता। प्राय: लोग पावस के चार महीने बिता कर ही कहीं बाहर निकलते हैं। बीसलदेव ने भी ऐसा ही किया। इसलिए उसकी रानी राजमती की विरह वेदना का क्वार के बाद कार्तिक से शुरू होना स्वाभाविक है।

इसी तरह 'संदेश रास' में संदेश लेकर पथिक ज्योंही प्रस्थान करता है कि विरहिणी का प्रिय दिखाई पड़ जाता है और काव्य वहीं समाप्त हो जाता है, जब कि 'बीसलदेव रास' में पथिक सचमुच बीसलदेव के पास पहुँच जाता है, और रानी की चिट्ठी पाकर वह उड़ीसा से अपनी राजधानी अजमेर को प्रस्थान करता है लेकिन प्रस्थान करने से पहले रानी के पास अपने आगमन की पूर्व सूचना भेजता है। 'बीसलदेव रास' की समाप्ति राजा और रानी के आनन्दपूर्ण मिलन के सुखद वर्णन के बाद होती है।

इसी तरह ब्यौरे की और भी कई बातें हैं जिनमें 'बीसलदेव रास' संदेश रास' से भिन्न है। फिर भी दोनों मूलत: विरह काव्य हैं और दोनों की मुख्य भाव धारा एक है। इसका मतलब यह नहीं है कि 'बीसलदेव रास' 'संदेश रास' से प्रत्यक्षत: प्रेरित और प्रभावित हुआ है। साहित्य में ऐसे प्रभाव और प्रेरणाएँ परोक्ष हुआ करती हैं। इनका मूल आधार तो लोक-जीवन में ही हुआ करता है।

विवाहोत्सव में बीसलदेव और राजमती भाँवरें देते हैं। पहली भाँवर पर कन्या के पिता 'आलीसर' और 'माला' नाम के दो गाँव दायज में देते हैं। दूसरी भाँवर पर कन्या की माता दामाद को न जाने कितना द्रव्य और कई गाँव देती है। तीसरी भाँवर पर सारे रनिवास ने मिलकर कई अच्छे घोड़े और देश दिये। इस तरह सातों भाँवरें पूरी की जाती हैं। संपूर्ण प्रसंग को पढते समय इस अवसर पर गाये जाने वाले लोक-गीतों का स्मरण हो

आता है। 'बीसलदेव रास' को छोड़कर हिंदी के और किसी काव्य में इस प्रसंग की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

रानी राजमती स्वभाव की कुछ खरी और ज़बान की जरा तेज है। राजा बीसलदेव ने एक दिन जरा अपने राजकीय अभिमान की रौ में कहा कि मेरे समान दूसरा भूपाल नहीं है। अपना पति है तो क्या, रानी से यह मिथ्या अभिमान न सहा गया। उसने राजा को तुरंत टोका और कहा कि गर्व मत कर। उड़ीसा का राजा तुमसे धनी है। जिस तरह तुम्हारे राज्य में नमक निकलता है, उसी तरह उसके घर में हीरे की खानों से हीरा निकलता है। जवाब सुनते ही राजा रूठ गया और रानी के लाख अनुनय-विनय पर भी उसने उड़ीसा जाने का संकल्प कर लिया। ऐसे समय रानी राजमती के कहे हुए वचन बहुत ही मार्मिक हैं। रानी कहती हैं–

हेडाऊ का तुरिय जिउं
हाथ न फेरइ सउ सउ बार।

अर्थात् मैं हेड़ा (हार) के उस घोड़े की तरह उपेक्षित हूँ जिस पर हेड़ा वाला सौ-सौ दिनों तक हाथ नहीं फेरता।

जबान की तेज़ तो वह है ही, राजा को भी कम चोट नहीं लगी है। वह कहता है, 'हे नारी, कड़वी बात मत कह। मैंने तुझे चित्त से विसार के छोड़ा है। जीभ नई नहीं निकलती। दवाग का डाढ़ा पेड़ तो फिर कोपलें लेता भी है लेकिन जीभ का जला फिर पल्लवित नहीं होता।''

जीभ नवी नहु नीकलइ
दवका दाधा हो कूपल लेइ
जीभ का दाधा न पाल्हवइं।

रानी फिर भी अपनी कैंची से बाज नहीं आती। "अर्थ-द्रव्य के लिए परदेस जाकर तुम कुल-कानि मिटा रहे हो। अर्थ-द्रव्य तो धरती में गड़ा रह जाता है किंतु जो इसका संचय करता है, यह उसी को खाता है''–

अरथ दरब गाड्या रहइ।
जेह नई सिरिजियउ तेहीज षाइ।।

सात सहेलियाँ राजमती को समझाती हैं कि स्वामी को 'फूल पगर जिउं गाहिजइ'; फिर भी वह जवाब देती है कि ताजी घोड़ा यदि उदासें लेता है तो दागा जाता चरता हुआ मृग भी मोहित किया जा सकता है, किन्तु हे सखी, अंचल में नाथ को बाँधा कैसे जा सकता है?

चांपीया तेजीय जउ रे उससइ
मृग रे चरंता मोहिजइ
सखी अंचलि बाँधियउ नाह किउं जाइ!

उसकी नीरसता पर झल्लाकर राजमती जहाँ तक कहती है।

राउ नहीं मषि मइसं-पीडार!

मध्ययुग के समूचे हिंदी साहित्य में जुबान की इतनी तेज और मन की इतनी खरी नायिका नही देखी। परंतु तेज है तो क्या हुआ? है तो आखिर नारी ही। प्रिय के बिछोइ के बाद उसका रूदन हृदय विदीर्ण कर देता है। उसे अपने स्त्री-जीवन पर रोना आता है। महेश से वह उलाहना देती है कि स्त्री का जन्म तुमने क्यों लिया? देने के लिए तो तुम्हारे पास और भी बहुतेरे जन्म थे। तुमने मुझे जंगल का जन्तु क्यों नहीं बनाया। धौरी गाय भी क्यों नहीं बनाया। यदि वनखंड की काली कोयल को बनाया होता तो आम और चम्पा की डाल पर तो बैठती, अंगूर और वीजोरी के फल तो खाती।

अस्त्रीय जनम दीधउ महेस
अवर जनम थारइ घृणा रे नरेश
रानि न सिरजीय रोझडी
धणह न सिरजीय धउलीय गाई।
वनषांड काली कोइली
हउं बहसती अंवा नई चंपा की डाल ।
भषती दाष विजोरही ।

आगे वह फिर कहती है कि यदि तुमने मुझे नारी ही बनाया तो राजा की रानी न बनाकर ऑजनी (जाटनी) क्यों नहीं बनाया? तब मैं अपने भ तार के साथ खेत कमाती, अच्छी लोवडी (लोमपटी) पहनती, तुंग तुरंग के समान अपना गीत स्वामी के गीत से भिड़ाती, स्वामी को सामने से लेती और हँस-हँस कर प्रिय की बात पूछती।

आंजणी काई सिरजीय करतार
पेत कमावती स्वउं भरतार
पहिरण आछी लोवड़ी
तुंग तुरीय जिम भीडतो सात
साईय लेती सामुही
हँसि-हँसि बूझती प्रिय की बात ।

कितनी बड़ी विवशता । किसी राजा की रानी होना कितना बड़ा अभिशाप है! मुक्त जीवन की कितनी बड़ी लालसा राजमती के इस कथन में निहित है। मध्ययुग की किसी भी रानी में ऐसी उन्मुक्त आकांक्षा नहीं दिखाई पड़ती।

इस तरह विसूरते हुए जो बारह महीने बीत जाते हैं तो राजमती एक पंडित को बुलाती है और प्रिय के पास चिट्ठी लेकर जाने की प्रार्थना करती है। सहेलियाँ हठ करती हैं कि हे सखी, तुमने जो लिखा है, हमें भी सुना।

राजमती एक-एक करके सारी बातें पढ़ सुनाती है। चिटठी में लिखते-लिखते अंत में वह लिखती है कि हे राजा, तुम ज्ञान की बातें जानते हो। तुम्हें तो यह मालूम ही है कि हमें दो काया और एक प्राण मिले हैं। उस दूसरी काया को तुम दूर से क्यों छोड़ रहे हो? मैं कुलीन बेटी हूँ और शील की जंजीर में बँधी हूँ। अपने जोबन को मैं चोर की तरह छिपा कर रख रही हूँ। इसका पाप पग-पग पर तुम्हें लग रहा है।

जणियउ हो राजा थाकउ जाण
दुहुँ रे काया मिलउ एक पराण
सा क्यउं दूर थी मेल्हियइ
कुल का रे बेटिय सील जंजीर
जोबन रापउं मइं चोर जिउं
पगि-पगि तो नई पहुँच रे पाप।

और चिट्ठी बाँच लेने के बाद पंडित से कुछ जबानी कहने को भी कहती है।

एक सरा धरि आविज्यो
थारी वाट वुहारूँ सिरह का केसि।
जोबन भरि जल उलट्यउ
थाग न पावुं सुणहु नरेस।

प्रिय की बाट को अपने सिर के केशों से बुहारने में कितनी विह्वलता है और लोक-गीत में अपनें पति को जो ननद का भाई' कहकर पुकारने की प्रथा है, भी राजमती के मुख से सुनिए–

तूं तउ उगइगउ रे आविज्यो नणद का बीर।

संदेश देने के साथ ही राजमती पंडित को यात्रा सम्बन्धी बहुत सी हिदायतें भी देती है। लेकिन पंडित तो फिर ठहरे, किया उन्होंने अपने मन ही का। रानी की सारी सीखें उन्हें भूल गयें । सलाह दी गयी थी बड़े डग जाने की और चले पंडित छोटे डग। इस तरह

वे सात महीने में उड़ीसा पहुँचे। सात महीने में तो क्या पहुँचे होंगे, लेकिन व्याकुल रानी के लेखे वह सात ही महीना था। लोक कथाओं के संदेश वाहक भी ऐसी ही देर कर जाते हैं।

खैर, राजा को घर की सुधि आती है और वह भी घर पहुँचने से पहले पत्र देकर एक सिद्ध योगी को भेजता है क्योंकि इतना जल्दी उसके सिवा और पहुँच ही कौन सकता है। प्रिया और प्रिय के संदेश वाहकों में कितना विरोध है। भावों के प्रतीक हों तो ऐसे।

सो वह योगिराज राजमती के हाथ में पत्र देते हैं और पत्र देखकर रानी के हृदय से ये उद्‌गार निकलते हैं–

जिण विण घडीय न जीवती
हिवइ ताहि स्युँ हुवा चीरी बिवहार।

जिनके बिना घड़ी भर भी नहीं जी पाती थी, अब उन्हीं से पत्र-व्यवहार की नौबत आ गयी।

अंत में चिट्‌ठी के बाद वह चिट्‌ठी लिखने वाला भी मिलता है। इस मिलन में नारी की आनंदातिरेक-जनित चंचलता, विह्वलता, हँसी-ठिठोली वगैरह देखने योग्य हैं–

मुलकइ, हसइ, आलिंगन देइ,
पलिंम न बइसइ, अनइ पान न लेइ,
ऊभीय देह उलंभडा–
आंगुली तोडइछइ, मरोडइ छइ बाँह
नाह भरोसइ काइं करउ?

और इतना दुख झेलने के बाद भी जबान की वह कैंची न गयी और न हुई तनिक भी भोथर। आखिर उसने फिर ताना मार ही दिया–

स्वामी घी विणजियउ न नई जीमियउ तेल!

हे स्वामी तुमने वाणिज्य तो घी का जरूर किया किन्तु जेंया तेल ही! इतनी सुन्दर नारी से विवाह तो किया लेकिन उसका उपभोग करने का सौभाग्य तुम्हें न मिल सका। कोई घी जैसी चिकनी जीभ ही ऐसी काठ-सी-कठेठी बात कह सकती है! अभिव्यक्ति की सादगी और भावों की तीव्रता में 'बीसलदेव रास' 'संदेश रास' से कहीं अधिक लोक-जीवन के रंग में रँगा हुआ है। इससे यही प्रमाणित होता है कि हिंदी साहित्य के अभ्युदय-काल में अपभ्रंश-युग की अपेक्षा लोक-जीवन में जागर्ति अधिक आ गयी थी और उसके फलस्वरूप

साहित्य में लोक-तत्त्व का प्रवेश अधिक दूर तक होने लगा था। 'बीसलदेव रास' पर लोकतत्त्व का प्रभाव इतना गहरा है कि इसका छंद भी एकदम लोक-गीतों का है, यों तो परिश्रम करने से इसका संबंध किसी-न-किसी पुराने छंद से स्थापित किया ही जा सकता है, लेकिन प्राय: इसका प्रयोग इससे पूर्ववर्ती किसी काव्य-ग्रंथ में नहीं मिलता।

### ढोला मारू-रा-दूहा[1]

इस तरह का एक और लोक-काव्य ढोला मारू-रा-दूहा (15वीं शताब्दी ईसवी) है जो 'संदेश रास' और 'वीसलदेव रास' की तरह मूलत: विरहगीत ही है; परंतु समय-समय पर उसमें दाँव पेच भरी हुई कथाओं की चिप्पियाँ लगाकर उसे मुक्तक से आख्यानक काव्य बना देने के प्रयत्न हुए हैं। मुख्य काव्य इतना ही है कि सयानी होने पर मारवणी अपने बचपन के पति ढोला की चर्चा सुनती है और विरह में व्याकुल हो जाती है। वह अपने पति का पता लगाने के लिए कई संदेश-वाहक भेजती है लेकिन कोई वापस लौटने नहीं पाता; सभी संदेशवाहकों को उसकी सौत मालवणी मरवा देती है और ढोला के पास मारवणी का सन्देश तक नहीं पहुँचने देती। अंत में मारवणी लोक-गीत के गायक एक ढाढ़ी को यह जिम्मेवारी सौंपती है और ढाढ़ी को इस उद्देश्य में सफलता मिलती है। ढाढ़ी के प्रयत्न से ढोला और मारवणी दोनों में पुनर्मिलन होता है। संग्रह में संगृहीत अधिकांश गीतों की पृष्ठभूमि यही है। इसके बाद कुछ और रस पैदा करने के लिए मारवणी की मृत्यु करा दी गई है और उसे किसी तरह जिला देने के बाद फिर ऊमर-सूमरा जैसे शत्रु की बाधा खड़ी की गयी है और अंत में उस बाधा को भी दूर करके ढोला को और उसकी दोनों पत्नियों को इकट्ठा मिला दिया गया है। इस तरह वर्तमान कथा-प्रसंग में 'रुकावट दौड़' का सारस उत्पन्न करने की चेष्टा दिखाई पड़ती है जब कि मुख्य प्रसंग ढोला के प्रति मारवणी के विरह-निवेदन और संदेश-प्रेषण तक ही सीमित है। 'ढोला' काव्य का यह मुख्य अंश वस्तुत: गीतात्मक ही है; इतने कथा-प्रसंग का अध्याहार तो कितने मुक्तक सवैयों और घनाक्षरियों में रहा करता है।

'ढोला' के काव्य-गठन में 'संदेश रास' और 'वीसलदेव रास' से यह नवीनता है कि इसमें षड्ऋतुवर्णन या 'बारहमासा' जैसी कोई चीज नहीं है; ऋतुओं में केवल पावस का वर्णन है और वह भी विस्तार से। ऐसा शायद इसलिए हुआ है कि मारू देश में सबसे मनोहर पावस ऋतु ही होती है जैसा कि 'ढोला' में कहा भी गया है-'मारू देस सुहावणा सावण साँजी बेर'। 'ढोला' के इस पावस-वर्णन की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें स्थानीय रंगत

---

1. सर्वश्री रामसिंह, सूर्यकरण पारीक और नरोत्तमदास स्वामी द्वारा सम्पादित और काशी नागरी प्रचारणी सभा द्वारा प्रकाशित, 1634 ई०

सबसे अधिक हैं, 'वीसलदेव रास' से भी अधिक। 'ढोला' के पावस-वर्णन में परंपरा-भुक्त कुछ भी नहीं है। 'ढोला' में प्रसंगात् मारू देश का ही वर्णन है लेकिन यह वर्णन 'संदेश रास' के 'सामोर' की तरह परिपाटी-विहित नहीं है उसमें काव्य-रूढ़ गिनी-चुनी वस्तुओं और पेड़ों के नाम गिनाने का शौक नहीं है। यहाँ भी मारवाड़ का वास्तविक जीवन प्रतिबिंबित हो उठा है।

'ढोला' के संदेश-कथन में भी विशेषता है। 'संदेश रास' में संदेशा सर्वथा अपरिचित एक पथिक से कहा गया है; 'वीसलदेव रास' में अपने राज्य के ही एक पंडित को बुलाकर कहा गया है। लेकिन 'ढोला' से क्रौंच पक्षी से लेकर ढाढ़ियों तक से अपनी विरह-वेदना कही गयी है। यहाँ संदेश-वाहक भी सहृदय हैं। क्रौंच पक्षी से बढ़कर विरह-विदग्ध और कौन होगा; दूसरी ओर गायक ढाढ़ी भी पथिक और पंडित की तरह मात्र श्रोता नहीं है बल्कि संदेश को अपनी रचना-शक्ति से अधिक मार्मिक बनाकर कहने वाले जीव हैं। ऐसी दशा में 'ढोला' के संदेश-कथन में मार्मिकता कहीं अधिक है।

शैली की दृष्टि से 'ढोला' लोक-गीतों के निकट सबसे अधिक है। एक ही पंक्ति की अनेक आवृत्तियों में प्राय: लोक-गीतों की विशेषता दिखाई पड़ती है। इससे उनमें सरलता के साथ ही मार्मिकता भी बढ़ जाती है। 'ढोला' के दोहों में – विशेषत: विरह निवेदन में इस प्रवृत्ति की बहुलता है।

मारवणी के संदेश-कथन का आरंभ इस प्रकार होता है कि एक रात घर के पीछे वाले सरोवर में रात भर कुररी पक्षियों का करुण-रव होता रहा। मारवणी को नींद नहीं आयी। सुबह होते ही वह सखियों सहित सरोवर के पास गयी और कुंझों से बोले बिना न रह सकी। मारवणी और कुंझों का सवाल जवाब थोड़ी देर तक होता रहा और अंत में किसी गँवार को शर संधान करते देख कुँझणियाँ उड़ गयीं। पक्षी और स्त्री की इतनी मार्मिक बातचीत हिंदी में 'पद्मावत' को छोड़कर और कहीं नहीं है। यह प्रश्नोत्तर इस प्रकार है–

"कुंझाँ, द्यउ नइ पङ्खड़ी, थाँकउ विनउ वहेसि
सायर लघी प्री मिलउँ प्री मिलि पाछी देसि।।"
"म्हे कुरझाँ सरवर-तणा, पाँखाँ किणहिं न देश!
भरिया सर देखी रहाँ, उड़ आधेरि वहेस।।"
"उत्तर दिसि उपराठियाँ, दक्षिण साँमहियाँह।
कुरझाँ, एक संदेसडउ ढोलानइ कहियाँह।।"
"माणस हवाँ त मुख चवाँ, म्हे छाँ कूझड़ियाँह।।"

प्रिय संदेसउ पाठविसु लिखि दे पंखड़ियाँह।।
"पाँखे पाणीं थाहरइ, जलि काजल गहिलाइ।
सयणाँ तणाँ संदेसड़ा मुख-वचने कहिबाइ।।"

कुंज चाहे जो हों, लेकिन हैं तो आखिर पक्षी ही। वे भला इतनी समझदारी से भला उत्तर कैसे दे सकती हैं? लेकिन विदग्ध चित्त की गति विचित्र होती है। यदि कुंजें नहीं बोल रही हैं तो यह चित्त उनकी ओर से स्वयं ही जवाब दे देता है। इस मनःस्थिति को इस बात-चीत में कितनी मार्मिकता के साथ व्यक्त किया गया है।

यदि कुंजों ने अपनी पाँखों पर संदेशा लिखवाने से इनकार कर दिया और यदि उन्होंने प्रियतम के पास जाने के लिए अपनी पाँखें उधार न दीं तो क्या हुआ! ढाढ़ी तो हैं ही। मारवणी उन्हीं में से एक को बुलाकर अपना संदेशा कहती है। इस संदेश में कोई लम्बी-चौड़ी बात नहीं, बनावट नहीं। स्त्रियों का संदेश दिल पर जितनी सीधी चोट करने वाला होता है, वैसा ही है। हर एक भाव, और हर एक वाक्य जैसे रह-रह कर उठती हुई एक-एक लहर है–इन सबका ऐसा लम्बा सिलसिला है कि कभी खत्म ही होता न दीखे।

ढाढ़ी, एक संदेसडउ प्रीतम कहिया जाइ।
सा धण बलि कइला भइ, भसम ढँढोलिसि आइ।।
ढाढ़ी, जे प्रीतम मिलइ, यू कहि दाखवियाह।
पंजर नहीं छइ प्राण्यिउ, थाँ दिस झल रहियाह।।

धनिया जलकर कोयला हो गई, अब आकर उसकी भस्म ढँढोलना और पंजर में प्राण नहीं हैं, केवल उसकी लौ तुम्हारी ओर झुक-झुक कर जल रही है–ये दोनों ही चित्र कितने प्रभावशाली हैं! करुणा मूर्तिमती हो गयी है। आखिर कौन इतना निष्ठुर होगा कि ऐसा संदेश पाने पर घर न चला आये। इसके बाद तो कभी वह उस 'भलेमानस' से संदेशा कहने को कहती तो कभी उस 'राज्यंद' से, कभी, अपने 'साहिब' से निवेदन करती है तो कभी सीधे अपने 'ढोला' से। जैसा भाव वैसा संबोधन!

मारवणी के मन की स्थिति का एक और चित्र है जब ढोला के आने की खबर उसे मिलती है। खबर सुना नहीं कि हृदय हर्षोद्रेक से हेमगिरि जितना विशाल हो गया। वह अनुभव करती है कि अब वह तन-पंजर में समाएगा ही नहीं!

हियड़ा हेमाँगिरि भयउ, तन-पंजरे न माइ।

वह अपने मंदिर में इस तरह फुदकती हुई चली जैसे कोई फौव्वारा छूट रहा हो–

मारू चाली मंदिरे, जाणि छुटो छछाल।

वह 'घम्म घम्मन्त घाघरे' में एक घर से दूसरे घर में चलती हुई ऐसी मालूम हो रही है जैसे 'झीणे बादल चंद'। और अपने हर्षातिरक में देखती है कि घर के खंभे तक नाच रहे हैं, सारा घर हँस रहा है और सबसे बढ़कर तो वह खाट है जो उठकर खेल रही है–

सोई साजण आविया, जाहँ की जोती बाट।
थाँभा नाचइ, घर हँसइ, खेलण लागी खाट।।

इस प्रकार मारवाड़ देश में लिखे हुए ये दोनों लोक-काव्य चारणों की राजस्तुतियों के परिपार्श्व में सामान्य लोकजीवन की स्वस्थ और सरस भावनाओं को प्रकट करते हैं। ये लोक-काव्य उच्च स्वर से घोषणा करते हैं कि बड़ी से बड़ी विषम स्थिति में जनता गाना बन्द नहीं करती और यदि राजदरबार अपने मिथ्या अभिमान, वैभव और गौरव का निष्प्राण तथा आडंबरपूर्ण साहित्य कुछ स्वर्ण-मुद्राओं और रजत-खण्डों के बल पर लिखवाते हैं तो जनसाधारण के कवि अपनी उमंग से ही अपने जीवन का रस सहज ही काव्य में उँडेला करते हैं। यह आकस्मिक बात नहीं है कि 'संदेश रास' मुल्तान में लिखा गया और 'वीसलदेव रास' तथा 'ढोला काव्य' भी उसके पास ही मारवाड़ देश में। ये पश्चिमी भारत के जीवंत लोक-जीवन के प्रमाण हैं।

## अपभ्रंश कथाएँ और हिंदी के आख्यानक काव्य

अपभ्रंश-साहित्य की प्राणधारा ऐहिक लोक-गीतों के अतिरिक्त जिन रचनाओं में व्यक्त हुई वे प्राय: सबकी सब धार्मिकता का पुट लिये हुए हैं। लोकप्रचलित कहानियों में जगह-जगह धार्मिक संकेत की छौंक देकर इस्तेमाल में लाने की प्रथा इस देश में पहले से ही मौजूद रही है। लोक-गीतों में धार्मिकता का पुट तो नहीं दिया क्योंकि वे गाने के लिए लिखे गए और अपने राग-रंग के ऐहिक क्षणों में जन-साधारण भरसक धार्मिक जीवन के ऊँचे आदर्श को भूलना ही अच्छा समझते हैं। आखिर यह भी क्या जीवन है कि जब देखो तब ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की ही दुनिया में रहा जाए, एक उच्चतर आमुष्मिक भाव की ही चर्चा में रत रहे। वास्तविकता भी कोई चीज होती है, सहज जीवन का भी अपना आनंद होता है, अनावृत क्षणों का भी अपना महत्त्व होता है। 'बीसलदेव रास' और ढोला के दोहे ऐसे ही अवसरों पर गाए जाने के लिए रचे गये हैं । इसका कारण शायद यह भी हो कि लिन दिनों ये रचे गये, धार्मिकता की लहर लोक-जीवन में उतनी नहीं उठी थी। क्योंकि थोड़े दिनों के बाद ही जब उत्तर भारत में भक्ति की बाढ़ आयी तो ये तमाम लोक

प्रचलित गीत गोविंद, राम आदि भगवत्परक नामों से संबलित करके भक्तिभाव के लिए इस्तेमाल कर लिये गये। ढोला. के अनेक दोहों को कबीर ने ज्यों का त्यों उठा लिया – कहीं-कहीं अपनी ओर से इतना ही किया कि जहाँ 'प्रीतम' था, वहाँ 'गोविन्द' को रख दिया। जैसे ढोला. के

**राति जु सारस कुरलिया गुंजि रहे सब ताल।**
**जिणकी जोड़ी वीछड़ी, तिणका कवण हवाल।।**

को कबीर ने इस प्रकार कर लिया–

**अंबर कुंजौं कुरलियाँ गरजि रहे सब ताल।**
**जिन पै गौविंद वीछुटे तिनके कौण हवाल।।**

लेकिन लोक-गीतों की अपेक्षा कहीं अधिक परिवर्तन लोक-कथाओं में किया गया है क्योंकि उनमें परिवर्तन की गुंजाइश अधिक होती है।

अपभ्रंश की 'भविसयत्त कहा' मूलत: एक लोक-कथा है। इस तरह की कहानी आज भी हमारे यहाँ गाँवों में कही जाती है कि एक सौदागर के दो औरतें थीं। छोटी को वह बहुत मानता था, बड़ी की कोई कद्र नहीं थी। कुछ दिनों बाद अपने बाप की आज्ञा से छोटी स्त्री का लड़का रोजगार के लिए परदेश चलने लगा। यह देखकर बड़ी का भी लड़का मचल उठा। माँ ने मना किया लेकिन वह न माना।

आखिर उपेक्षित के लड़के की ही तकदीर खुली और उसे काफी धन मिला, यहाँ तक कि धन के साथ ही एक कन्या भी मिली। दूसरी ओर पति की प्रिया के लडके के हाथ कुछ न लगा। तब ईर्ष्यावश रास्ते में इस लड़के ने अपने सौतेले भाई को कुएँ में झोंक दिया और उसका सब कुछ लेकर वह खुद घर चला आया। संयोग से उस लड़के की जान वच गई और वह फिर वहुत सारा धन लेकर घर पहुँचा। भेद खुलने पर एक को दण्ड और दूसरे को पुरस्कार दिया गया। जैसे उसका राजपाट लौटा वैसे सबका लौटे।

'भविसयत्त कहा' की कहानी यही है। कहीं यही कहानी राजा-रानी और राजकुमारों के रूप में कही जाती है और कहीं सौदागर के रूप में। लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। चाहे वह राजा हो चाहे सौदागर। है वह एक साधारण आदमी का ही प्रतिनिधि।

यदि ध्यान से देखा जाए तो स्वयं इस कहानी की रचना में ही एक विशेष उद्देश्य काम कर रहा है। यह कहानी रची ही गयी है इस उद्देश्य के लिए कि जो मनुष्य द्वारा तिरस्कृत

होता है उसकी मदद भगवान या भाग्य करता है। लोक-कथाएँ प्राय: स्त्री-जाति द्वारा ही रची जाती हैं, इसलिए स्वभावत: उनमें उन्हीं का दु:ख-सुख सबसे अधिक होता है और दुख-सुख में वास्तविक तो दुख ही रहता है, सुख तो केवल आकांक्षा की उपज होती है। पुरुषों द्वारा सतायी हुई स्त्री-जाति आखिर इसके सिवा और क्या सोच और कह सकती है। पति अपने सुख के लिए एक से अधिक विवाह अक्सर कर ही लिया करते थे। ऐसी दशा में कभी तो छोटी सौत से तकलीफ मिलती थी और कभी बड़ी सौतों से सबसे छोटी रानी को क्योंकि कभी-कभी अनुभवी रानियाँ छोटी रानी को ही कौवा बना देती हैं, राजा के मानने से क्या होता है। वह चौबीस घंटे अपनी छोटी रानी की देखभाल तो नहीं कर सकता। जो हो किसी न किसी पत्नी को तकलीफ होना जरूरी है। पीड़ा ही है, इस अंगुली को दबाएँ तो पीड़ा और उस अंगुली को दबाएँ तो पीड़ा।

अब पीड़ित औरत स्वयं तो कुछ कर नहीं सकती। इसलिए उसकी पीड़ाओं को दूर करने वाला उसका बेटा होता है। स्त्री को अपने बेटे का सबसे बड़ा बल होता है। यहीं से उसकी कल्पना को पंख लगते हैं और बाकी कहानी उसी कल्पना का परिणाम होती है जिसमें उसका लड़का सात समुन्दर पार कहीं से अचानक अपार धनराशि और साथ में एक बहू भी लेकर लौटता है। माँ का हृदय आखिर ठहरा तो माँ का ही हृदय। पुत्र के इस आकस्मिक भाग्योदय पर भी उसे विपत्ति की आशंकाएँ हैं और ये वास्तविक आकाक्षाएँ इतनी प्रबल हैं कि कल्पना में भी मन को नहीं छोड़तीं। ये आशंकाएँ उसके काल्पनिक सुख को भी अपनी छाया से मलिन कर देती हैं। फलत: पुत्र का भाग्योदय भी किसी न किसी बाधा-विघ्न अथवा संकट से ग्रस्त होता है। यह संकट कभी दैवी होता है और कभी मानवीय। कभी वह अपनी ही सौत के लड़के की ओर से आता है और कभी किसी अदृश्य शक्ति की ओर से। लेकिन कल्पना केवल आशंकाओं की सृष्टि के लिए नहीं की जाती! कभी-कभी की भी जाती है लेकिन ऐसी कल्पनाएँ उसी मन की होती हैं जो अधिक शंकाकुल, संदेहशील और निराशावादी होता है। लेकिन यहाँ तो माँ को अपने बेटे पर अडिग विश्वास है; इसलिए उसे पूरी आशा है कि हमारा लड़का धरती चीर कर, चाहे आकाश फाँद कर, कहीं न कहीं से हमारा बिन लौटाएगा। यही विश्वास ऐसी हर कहानी को सुखान्त बनाता है; वे बाधाएँ कुछ तो मनुष्य के अपने उद्योग से और कुछ अतिमानवीय शक्तियों की मदद से दूर हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में प्रकृति अथवा परिस्थिति की मदद से मनुष्य अपने दुर्भाग्य पर विजय प्राप्त करता है। स्त्री का सौभाग्य यदि पुरुष छीनता है, तो पुरुष ही उसे वापस भी करता है। अंतर इतना ही है कि पीढ़ी छीनती है तो आगे आने वाली पीढ़ी पर आशा लगी रहती है कि वह वापस लौटाएगी; पति यह पीढ़ी है तो पुत्र अगली पीढ़ी का प्रतीक है।

इस तरह यदि 'भविसयत्त कहा' की मूल लोक-कथा का अच्छी तरह विश्लेषण किया जाए तो वह अपने आप में बहुत अधिक सोद्देश्य है।

फिर भी ऐसा मालूम होता है कि विद्वानों को इतने से संतोष नहीं हुआ। यही क्यों, उस उद्देश्य से उनके उद्देश्य का मेल नहीं बैठा। नारी का असंतोष भी कोई असतोष है! यह भी कोई मानवीय वस्तु है? यह तो कर्मों का फल है और वह भी पूर्वजन्म के कर्मों का फल। इस पर किसी का क्या वश? यह कष्ट जैसा स्त्री के साथ वैसा पुरुष के साथ। इसे भला कोई अदृष्ट शक्ति कैसे दूर कर सकती है? अदृष्ट तो अदृष्ट ही है, उसका क्या भरोसा? उससे अधिक भरोसा तो अपने आराध्य देव का किया जा सकता है। ये आराध्य देव चाहे जिन हों या और कोई; इनका भरोसा इसलिए किया जा सकता है कि इन्हें प्रसन्न करने की विधियाँ निश्चित हैं और मालूम हैं, जब कि अदृष्ट अथवा भाग्य तो अनिश्चित है, रामभरोसे है। अपने आराध्य देव को प्रसन्न करने के लिए पूजा-पाठ, व्रत आदि काफी है और जैन मत में 'श्रुत पञ्चमी' एक ऐसा ही व्रत है। इस तरह जो कहानी पहले शुद्ध कल्पना-जनित भाग्य पर आधारित थी, वह सिद्धान्त-विशेष-जनित उपासनाविधि पर स्थापित कर दी गयी।

मध्ययुग में ऐसा सोद्देश्य संशोधन अनेक लोक-कथाओं के साथ किया गया है। उत्तर भारत में प्रचलित 'सत्यनारायण की कथा' भी ऐसा ही सोद्देश्य संशोधन है। यह संशोधन कभी-कभी इस हद तक किया जाता है कि मूल कथा गायब हो जाती है और केवल संशोधन ही बचा रहता है जैसे 'सत्यनारायण की कथा' में व्रत और कथा क केवल माहात्म्य ही रह गया, मूल कथा इतनी घिस गयी है कि केवल 'सत्यनारायण' नाम के रूप में शेष रह गयी है।

यही नहीं, इन लोक-कथाओं में परवर्ती युग के पण्डितों ने एक और प्रकार का संशोधन किया। स्त्रियों की आदिम लोक-कथाओं में सारा वातावरण घरेलू और गँवई स्तर का ही हुआ करता था। उनमें राजाओं और रानियों का नाम तो रहता था लेकिन राजाओं के बड़े-बड़े युद्धों के लिए कोई जगह न थी। धन-वैभव के वर्णन में हीरे-जवाहरात, घोड़ा-हाथी तो रहते थे; लेकिन तोप-तलवारें न थीं। मध्ययुग के पण्डितों ने उन लोक-कथाओं को अपने हाथ में लेते ही देखा कि इनमें राजा-रानी अपने पूरे वैभव के साथ आये ही नहीं हैं। आखिर राजा भी क्या कि दो चार लड़ाइयाँ न करे। ऐसे सामन्त-युगीन प्रभाव से इस कवि का प्रभावित होना स्वाभाविक था। बिना इस संशोधन के उसकी कहानी की वास्तविकता में उस समय विश्वास कौन करता?

'भविसयत्त कहा' के दूसरे खंड में कवि ने यही संशोधन किया है। इधर विद्वानों में पुरानी पोथियों की प्रामाणिकता का पता लगाने की ऐसी आकुलता है कि वे हर कथा के मूल रूप को ही प्रामाणिक मानने का पैमाना लेकर दौड़ पड़े हैं। उन्हें जहाँ भी किसी कथा में कुछ जोड़ और कुछ वकतियाँ दिखाई पड़ती हैं, चट से वे इन सबको प्रक्षिप्त कहकर कतर फेंकते हैं। ये खोजी विद्वान् केवल नींव का पता लगाने निकले हैं, इनको नींव के ऊपर चुनी हुई ईंटों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता को लेकर बेहद परेशानी होती है। लेकिन यह रचना परेशानी की चीज नहीं है। नींव ही वास्तविक नहीं है, उसके ऊपर समय-समय पर जितनी ईंटें रखी गयी हैं, वे सब भी वास्तविक हैं, उन सबका भी ऐतिहासिक महत्त्व है। बल्कि इतिहासकार की दिलचस्पी इन स्तरों में ही सबसे अधिक होनी चाहिए। किस युग की विचारधारा ने मूल-कथा पर कौन सी चिप्पी लगायी, यह जानना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। समय-समय पर जोड़ी हुई ये चिप्पियाँ किसी युग के साहित्य और समाज को समझने में विशेष सहायक हुआ करती हैं। भाषा जैसी अल्प परिवर्तनशील तथा काव्य-रूप आदि अन्य परम्परित काव्यात्मक उपादानों की मदद से किसी रचना की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के निर्णय करने की अपेक्षा, मूल कथा में समय-समय पर विभिन्न उद्देश्यों से प्रेरित परिवर्तनों का विश्लेषण अधिक उपादेय हो सकता है। एक ही राम कथा को वाल्मीकि से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक किसी प्रकार संशोधित किया गया–इसके विवेचन से वाल्मीकि से लेकर आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन तक के विविध सामाजिक परिवर्तनों का पता लगाया जा सकता है और फिर इन सामाजिक परिवर्तनों की पृष्ठभूमि पर विभिन्न साहित्यिक उत्थानों को भी समझने में मदद मिल सकती है।

'भविसयत्त कहा' में पूर्व प्रचलित लोक-कथा को जिस ढंग से मोड़ा गया है, उससे धनपाल अथवा जैन धर्म के विचारों का ही पता नहीं चलता, बल्कि उस सम्पूर्ण युग में काम करने वाली सामान्य मनोवृत्ति का आभास मिलता है।

धार्मिक उद्देश्य के अनुसार लोक-कथाओं को मोड़ने की यह प्रवृत्ति कुछ और विकसित रूप में हिन्दी के आरम्भिक आख्यानकों में भी दिखाई पड़ती है। इन आख्यानकों का उपयोग सूफियों ने सबसे अधिक किया। कारण स्पष्ट है। हिन्दू भक्त कवियों की तरह कहानियों की अपनी कोई धार्मिक पौराणिक परम्परा न थी। सूर-तुलसी तो कृष्ण और राम की पौराणिक कथा का सहारा ले सकते थे लेकिन ईरान से आये हुए सूफी सन्तों के पास अपनी पौराणिक कथाओं की कोई निधि न थी, सम्भवत: ईरान का सूफी काव्य प्राय: मुक्तक और गीत ही है।

भारत के इस्लाम धर्म में दीक्षित हिन्दू इस मामले में अधिक सौभाग्यशाली थे। किन्तु धार्मिक कारणों से उन्होंने हिन्दू पौराणिक कथाओं को अपनी रचना का आधार नहीं बनाया। पौराणिक कथाओं को न अपनाने का एक कारण शायद यह भी रहा हो कि गाँवों में रहने वाले ये भोले-भाले नव-दीक्षित मुसलमान घरेलू लोक-कथाओं से जितना परिचित थे, उतना पौराणिक कथा से अभिज्ञ न थे। कारण जो भी हो तथ्य यही है कि हिन्दी के सूफी सन्तों ने लोक-कथाओं को अपने आदर्शों के लिए अपनाया। लोक-कथाओं को इस तरह अपनाने का उत्साह हिन्दी के हिन्दू भक्त कवियों में नहीं देखा गया।

जायसी का 'पद्मावत' एक ऐसा ही सूफी काव्य है जिसमें 'भविसयत्त कहा' की ही तरह लोक-कथा का सोद्देश्य संशोधन किया गया है। जिस प्रकार राजकीय वैभव के लिए भविष्यदत्त के भाग्य की कहानी में कुरु जंगल और पोयणपुर के राजाओं का युद्ध जोड़ दिया गया है, उसी प्रकार रतनसेन और पद्मावती के प्रेम कहानी में भी अलाउद्दीन का चित्तौर का आक्रमण बढ़ा दिया गया है। इससे सामान्य लोक-कथा में सामन्ती वैभव तो जुट ही गया है समसामयिकता की भी छाप लग गयी है। लेकिन यह तो गौण बात है। मुख्य बात है पद्मावती की सामान्य प्रेम-कहानी को भगवत्प्रेम का रूप देना। धनपाल ने लोक-कथा में जो धार्मिक रंग दिया है उसमें व्रत और आचार-पालन का ही आग्रह है, लेकिन जायसी के धार्मिक रंग में साधारण आचार-पालन से ऊपर उठकर ईश्वरोन्मुख प्रेम की प्रगाढ़ता है। यह वस्तु जायसी की अपनी है और जायसी के साथ जायसी के युग की है। भक्ति की यह भावना धनपाल और धनपाल के युग में न थी। यह भावना तत्कालीन जैन समाज में ही नहीं बल्कि ब्राह्मण और बौद्ध समाज में भी न थी। भक्ति की यह भावना अपभ्रंश में ही नहीं, बल्कि तत्कालीन प्राकृत और संस्कृत साहित्य में भी न थी। यह भावना ब्रज, अवधी, बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी, असमी, उड़िया आदि आधुनिक भारतीय साहित्यों की अपनी विशेषता है और इसका अभ्युदय कुछ आगे-पीछे इन साहित्यों में तेरहवीं शताब्दी ईसवी के बाद हुआ।

धनपाल के युग में संभवत: व्रत और आचार का पालन ही सबसे बड़ा आदर्श था, लेकिन धीरे-धीरे वह भी रूढ़ि पालन मात्र हो गया। बहुत संभव है, धनपाल के समय ही उसमें बहुत कुछ जड़ता आ गयी हो। लेकिन यह निश्चित है कि आगे चलकर धार्मिकता में जीवन प्रेरणादायिनी शक्ति नहीं रह गयी थी। इसकी प्रतिक्रिया जोइंदु, रामसिंह आदि जैन मुनियों के द्वारा ही शुरू हो गयी थी; किन्तु आगे चलकर तेरहवीं शताब्दी के बाद ब्राह्मण, बौद्ध, इस्लाम सभी भारतीय धर्मों और समाजों में अपने-अपने ढंग से इस तरह की आचार-प्रधान रूढ़ियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। और उसकी जगह भगवत्प्रेम की प्रतिष्ठा हुई।

इस नवीन उद्देश्य ने 'पद्मावत' की लोक-कथा को भी मोड़ दिया। परन्तु इस संशोधन में भी स्पष्ट रूप से ऐहिक और आमुष्मिक तत्त्व अलग-अलग दिखाई पड़ जाते हैं। 'पद्मावती' को भगवान् और 'रतनसेन' को भक्त का प्रतीक तो जायसी ने बना दिया लेकिन 'नागमती' के 'गोरखधंधा' पर वह धार्मिकता का रंग न चढ़ा सके। नागमती का वियोग मूल लोक-कथा के अवशेष के रूप में ही रह गया और वह अवशेष भी इस तरह रहा कि उसकी सत्ता स्वतन्त्र और अलग प्रतीत होती है। विशेष दृष्टिकोण के कारण जायसी ने नागमती को दुनिया का 'गोरखधंधा' भले कह दिया हो, लेकिन उसके लौकिक रस को पद्मावती का प्रेम भी नहीं पा सका। 'पद्मावती' के रूप में जायसी ने चाहे कितना अलौकिक प्रभाव भर दिया हो, उसके 'पारस रूप' में उन्होंने चाहे जितनी शक्ति संचित कर दी हो, लेकिन हृदय तो उन्होंने नागमती को ही दिया और हृदय भी ऐसा दिया कि उसकी निरी लौकिकता के सामने पद्मावती के रूप की अलौकिकता भी फीकी पड़ जाती है। यही हृदय की लौकिकता तथा सौन्दर्य की अलौकेकता 'पद्मावत' काव्य की विशेषता है जिनमें जायसी के आदर्श की अलौकिकता के साथ भावों की लौकिक संपदा भी सुरक्षित है। वास्तविकता में कल्पना और यथार्थ में आदर्श की प्रतिष्ठा का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

## राम और कृष्ण भक्ति काव्य

कथा में भक्ति का पुट देने की यही प्रवृत्ति थोड़े से अंतर के साथ हिन्दी के राम-भक्ति काव्य में भी दिखाई पड़ती है। कहने को तो अपभ्रंश के जैन कवियों ने 'पउम चरिउ' और 'हरिवंश पुराण' लिखे जिनमें क्रमशः राम और कृष्ण का चरित्र गाया गया है लेकिन उनमें राम और कृष्ण ईश्वर के अवतार नहीं हैं। उनके यहाँ यह हो भी कैसे सकता था? हर विचारधारा का उद्गम सुदूर अतीत में ढूँढ़ निकालने वालों के लिए तो अवतारवाद की भावना वेद से ही चली आ रही है लेकिन वेद से उसका आरम्भ होना एक बात है और मध्ययुग में उसका अत्यधिक व्यापक हो जाना दूसरी बात है। अवतारवाद का आरमान चाहे जितना पहले हुआ हो लकिन अवतार में लोकजीवन का सामान्य विश्वास जितना मध्ययुग में प्रचलित हुआ, उतना पहले कभी न था। अवतारवाद की यह व्यापकता निश्चित रूप से भक्ति आन्दोलन के द्वारा मिली। संत और भक्त कवियों का यह सामान्य विश्वास था। पिंड में ब्रह्माण्ड को देखना, ब्रह्मरन्ध्र में अनहद नाद को सुनना, पद्मावती में अलौकिक सत्ता का आभास पाना; दशरथ सुत राम में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के दर्शन करना और बसुदेव सुत कृष्ण में लीलाधाम परमात्मा को निहारना, यह सब प्रकारान्तर से उसी अवतारवादी भावना के ही विविध पक्ष हैं। विविध धर्मों और सम्प्रदायों के अनुरूप भक्तियुग की एक ही भावना ने अनेक रूप धारण कर लिया था।

अपभ्रंश काव्य में इस भावना के दर्शन जो नहीं होते तो उसका यह कारण नहीं है कि उसके अधिकांश कवि जैन थे। भक्ति भावना केवल हिन्दू धर्म की अपनी सम्पत्ति नहीं है। यह एक युग विशेष की लोक-व्यापी सामान्य प्रेरणाशक्ति है जो हिन्दू धर्म के साथ ही इस्लाम में भी दिखलाई पड़ती है। धर्म इसका क्षेत्र है, बीज नहीं; आकार है, वस्तु नही; देह है, आत्मा नहीं। भक्ति का बीज, और उसकी आत्मा सामान्य लोक-जीवन की मुक्ति-कामना में है। यह एक विशेष सामाजिक परिस्थिति की उपज है।

अपभ्रंश के उत्थान युग में वह परिस्थिति न थी। इसीलिए उसमें यह भाव भी उत्पन्न न हो सका।

इसलिए जिस प्रकार सूफियों के प्रेमाख्यानों पर अपभ्रंश के कथा और चरित काव्यों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा, उसी प्रकार राम भक्त और कृष्ण भक्त कवियों की मूलभावना पर भी अपभ्रंश के राम-कृष्ण काव्यों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं है। राहुल जी ने स्वयंभू की रामायण और तुलसी के 'रामचरितमानस' के रूप-विन्यास सम्बन्धी कुछ थोड़ी सी समानताओं को देखकर जो यह कह दिया है कि 'तुलसी बाबा ने स्वयंभू रामायण को जरूर देखा होगा' वह अतिकथन है। अपने इस अतिकथन पर राहुलजी को भी थोड़ा संकोच हुआ। इसलिए वे आगे कहते हैं – "तुलसी बाबा ने स्वयंभू-रामायण को देखा था, मेरी इस बात पर आपत्ति हो सकती है, लेकिन मैं समझता हूँ कि तुलसी बाबा ने 'क्वचिदन्यतोऽपि' से स्वयंभू-रामायण की ओर ही संकेत किया है!"[1] ऐसी अटकलबाजियाँ मनोरंजक हो सकती हैं, लेकिन इससे किसी तथ्य का ठीक पता नहीं चल सकता। इस तरह की पहेली-बूझौवल का काम लाल-बुझक्कड़ के ही ऊपर छोड़ना चाहिए। स्वयंभू-रामायण को तुलसी ने देखा था या नहीं देखा था और 'क्वाचिदन्यतोऽपि' में स्वयंभू-रामायण की ओर संकेत है या नहीं है – इससे कुछ नहीं बनता बिगड़ता। मान लिया कि तुलसी ने यह सब किया है लेकिन सवाल यह है कि सब करने के बाद तुलसी ने जो 'मानस' तैयार किया उसकी मूल भावधारा का स्वयं भू-रामायण से क्या सम्बन्ध है ? दोनों कृतियों की भावधाराओं में क्या सम्बन्ध है? और इस विषय में अटकलबाजी के लिए कोई जगह नहीं है। इसे साहित्य का सामसन्य पाठक भी कह सकता है कि तुलसी में जो भक्ति-भावना की प्रधानता है, वह स्वयंभू में बिलकुल नहीं है और इसी भावनाभेद के कारण दोनों की रामकथाओं के स्वरूप में भेद आ गया है।

---

1. हिन्दी काव्य धारा, अवनरणिका, पृ. 52

ऐसा नही है कि राहुल जी इसको अनुभव नहीं करते। वे इस तथ्य को देखते हुए आश्चर्य प्रकट करते हैं कि तुलसी ने स्वयंभू की सीता की एकाध किरण भी अपनी सीता में क्यों नहीं डाल दिया? थोड़ा सा ही सोचने पर इस सवाल का जवाब मिल सकता है। सीधी बात है कि तुलसी स्वयंभू की सीता जैसी अपनी सीता को नहीं बनाना चाहते थे और यह जो नहीं बनाना चाहते थे वह कुछ यों ही – अकारण ही नहीं; बल्कि उनका उद्देश्य कुछ और था; उनकी भी अपनी सीमाएँ थीं।

फिर यह सवाल तुलसी के ही विषय में क्यों ? स्वयंभू के भी विषय में पूछा जा सकता है कि उन्होंने वाल्मीकि की सीता की तरह अपनी सीता को क्यों नहीं बनाया? स्वयंभू ने सीता के संपूर्ण असंतोष की आग को कर्म-फल का छींटा देकर बुझा क्यों दिया?

इसके अलावा स्वयंभू को तुलसी ने पढ़ा था या नहीं–यह तो विवादास्पद हो सकता है; लेकिन वाल्मीकि को तो उन्होंने निश्चय ही पढ़ा था, तुलसी भी कहते हैं और दूसरे भी मानते हैं। फिर तुलसी ने वाल्मीकि के ही नमूने पर अपनी रामकथा क्यों न गढ़ दी ? ऐसे तमाम 'क्यों' का केवल एक उत्तर है कवि का अपना उद्देश्य–परिस्थितिजन्य उद्देश्य।

इस ऐतिहासिक तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि अपभ्रंश के राम-कृष्ण काव्यों और हिन्दी के राम-कृष्ण काव्यों की भावधारा में कोई समानता नहीं, कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं। यदि कोई संभव सम्बन्ध हो सकता है तो वह अत्यन्त परोक्ष और पौर्वापर्य का ही हो सकता है। यही बात सूफ़ी प्रेमाख्यानों के बारे में भी कही जा सकती है।

## अपभ्रंश का सिद्ध साहित्य और हिन्दी संत काव्य

भक्ति की यह भावना हिंदी के कबीर संत कवियों की भी अपनी विशेषता है जो अपभ्रंश के सिद्ध कवियों में नहीं मिलती। कबीर में शब्दों की 'सहज' 'शून्य' साधना का उल्लेख अवश्य मिलता है, इसके अतिरिक्त कुछ और भी पारिभाषिक शब्दों की आवृत्ति दिखलाई पड़ सकती है परन्तु ये बातें कबीर की मूल भाव-धारा नही है। सहज और शून्य पर जितना जोर सहजयानी सिद्धों की रचनाओं में दिखाई पड़ता है, उतना कबीर में नहीं है। कबीर के काव्य में इनका प्रयोग पुरानी परिपाटी के अवशेष की सूचना मात्र देता है। कबीर में एक भक्त का जो विह्वल हृदय है, वह सिद्धों में कहीं नहीं दिखाई पड़ता। तात्त्विक दृष्टि से कबीर का निर्गुण भी सहजयानियों के 'शून्य' से भिन्न है और संभवत: अधिक भावात्मक

है। इसलिए कबीर के आत्म-समर्पण में जो तरलता है, वह किसी सिद्ध कवि की रचना में नहीं मिलती। इसमें कोई शक नहीं कि अक्सर कबीर के रूपक सिद्धों से मेल खाते हैं, यहाँ तक कि उन्हीं से लिये हुए प्रतीत होते हैं। कबीर का 'बेहद्दी मैदान' सरह के उस लोक से भिन्न नहीं है 'जहं मण पवण न संचरे, रवि ससि णाह पवेस'। परन्तु ये सभी ऊपर समानताएँ हैं। इन सब रूपकों और पारिभाषिक शब्दों के बीच जो मूल भाव है वह कबीर का अपना है। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी बहुत पहले ही विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कर चुके हैं, (हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ. 42-43) इसलिए इसकी और अधिक व्याख्या करना आवश्यक है।

इस प्रकार हिंदी के आदिकाल में जितनी मुख्य-प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं उनका ऐतिहासिक अध्ययन करने से पता चलता है कि हिंदी में अपभ्रंश की जीवन्त भाव-धारा का विकास अपने ढंग से हुआ। चौदहवीं शताब्दी के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के कारण अपभ्रंश से आती हुई भावधारा में इतना अधिक परिवर्तन हो गया कि हिन्दी साहित्य में उसने जो संत-भक्ति काव्य का रूप लिया उससे अपभ्रंश की धार्मिक चेतना का सीधा सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता। चौदहवीं शताब्दी का सांस्कृतिक पुनर्जागरण मध्यदेश की अपनी सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की उपज है, यह वह प्रदेश है जिसमें जैन धर्म का जोर कभी नहीं था। अपभ्रंश की रचनाएँ भी इस भू-भाग में नहीं हुईं। इसलिए अपभ्रंश के अधिकांश साहित्य से इस जाति का सीधा सम्पर्क कभी नहीं रहा। ऐसी दशा में जैनों के अपभ्रंश साहित्य से अवधी और ब्रज के संत भक्ति काव्य का अभ्युदय दिखलाना हथेली पर सरसों उगाने का सा काम होगा। अधिक से अधिक इन दोनों साहित्यों में परोक्ष संबंध ही दिखलाई पड़ता है। यह परोक्ष सम्बन्ध यह है कि दोनों के अभ्युदय के मूल में मुख्यत: लोकजीवन का ही हाथ है। अपभ्रंश ने भारतीय साहित्य की जिस गति को लोकजीवन से दूर जाते देखकर फिर से उसके साथ कर दिया, उसी प्रयत्न के फलस्वरूप हिंदी आदि आधुनिक साहित्यों का अभ्युदय हुआ। इसलिए अपभ्रंश काव्य में यह जो लोक-हृदय की धड़कन सुनाई पड़ती है, वही आगे चलकर और भी स्पष्ट रूप से अवधी, ब्रज, राजस्थानी आदि साहित्यों के आदिकाल में सुनाई पड़ती है। हिंदी के लिए यह पृष्ठभूमि तैयार करके अपभ्रंश ने ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य किया।

# 5. उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन में कबीर और उनके निर्गुणपंथ की स्थिति

डॉ. लल्लन राय

उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन के स्वरूप, उसकी स्थिति परिस्थिति और उसके मूल चरित्र पर विचार करते हुए हमें कुछ बद्ध मूल धारणाओं से मुक्त होना पड़ेगा। इसके लिए शास्त्र-निरपेक्ष अवतारवाद- विरोधी निर्गुण पंथ और शास्त्र सापेक्ष्य अवतारवादी सगुण पंथ के बीच उपस्थित मूलभूत अन्तर को रेखांकित करना होगा। रामनुजाचार्य (श्री संप्रदाय) का विशिष्ट द्वैतवाद और सेवक-सेव्य भाव पर आधारित भक्ति हो चाहे वल्लभाचार्य का शुद्ध-द्वैतवाद और पुष्टि मार्गी भक्ति, निम्बार्क का द्वैतद्वैतवाद हो या चैतन्य देव की गौड़ी वैष्णव भक्ति, चाहे मध्वाचार्य की द्वैता द्वैतवादी भक्ति इनकी मूल चेतना को कबीर और उनके निर्गुण पंथ ने कहीं भी और कभी भी अपना आधार नहीं बनाया। यह सही है कि उत्तर भारत के बाहर के इन आचार्यों ने प्रस्थान त्रयी (गीता उपनिषद और ब्रह्मसूत्र ) की अत्यन्त उदार व्याख्या द्वारा पूर्णद्वैतवादी शांकर वेदान्त की कुछ कट्टरपंथी त्रुटियों का परिहार किया। गौतम शास्त्र की आड़ लेकर सामाजिक दृष्टि से उनकी वर्णाश्रमी जाति पॉत पर आधारित कट्टरता और असमानता की भावना को भी उक्त धर्मा-चार्यों ने कुछ शिथिल करने का प्रयास किया - यह भी सही है।

वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित अष्ट छाप के आठ कवियों में कम से कम तीन कृष्णदास, कुंभनदास और चर्तुभुज दास शूद्र जाति के थे। रसखान जैसै भाव विभोर भक्त कवि मुसलमान थे, जिन्हें वल्लभाचार्य के पुत्र गौसाई विट्ठलनाथ ने अपना शिष्य बनाया था। रूज, सनातन और हरिदास जैसे मुसलमान भक्त कवि महाप्रभु चैतन्य के प्रधान शिष्यों में गिने जाते हैं। रामानुज की शिष्य परम्परा में आने वाले आचार्य रामानन्द के बारह शिष्यों में कबीर मुसलमान जुलाहा, रैदास हरिजन, धर्मदास अछूत, धना जाट किसान और सेना नाई जाति के थे। लेकिन सभी वैष्णवाचार्यों से रामानन्द की स्थिति कुछ विशिष्ट थी। वे रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा के अपने गुरू राघवानन्द के उत्तराधिकार का परित्याग कर पुनः उत्तर भारत में आये थे। कबीर ने उनके केवल रामनाम और जाति-पांति की समानता की अतिशय क्रान्तिकारी भावना को ग्रहण किया था। रामानुजाचार्य की भी अपनी सीमा थी,जो सामन्ती-सामाजिक संबंधों का पूरी तरह अतिक्रमण नहीं कर सकी थी। यद्यपि उन्होंने एक अछूत आलवार भक्त तिरूप्पन की ' तिरवैमोती' रचना को वैष्णवों के वेद का

दर्जा दिया, फिर भी सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र में जाति-पाँत के भेद को चुनौती दे पाना उनके लिए संभव नहीं हुआ। कीर्तन-भजन में अछूतों की एकता स्वीकार करते हुए भी उन्होंने दक्षिणवाद के रूप में 'तेन कलाई' का निर्देश दिया। इसके अनुसार सभी लोग अपनी जाति के अनुसार अलग-अलग पंक्ति में बैठकर भोजन करते थे। रामानन्द ने इस तरह की मर्यादा को अस्वीकार किया और अपने गुरु राघवानन्द के अतिशय मर्यादावाद से असंतुष्ट होकर ही अपने उत्तराधिकार का परित्याग किया।

आचार्य क्षिति मोहन सेन के हवाले से आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रामानन्द के सम्बन्ध में लिखा है "रामानन्द ने देखा कि भगवान के शरणागत होकर जो भक्ति के पथ में आ गया, उसके लिए वर्णाश्रम का बंधन व्यर्थ है, इसीलिए भगवद् भक्त को खान-पान की झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। यदि ऋषियों के नाम पर गोत्र और परिवार बन जाते हैं, तो ऋषियों के भी पूजित परमेश्वर के नाम पर सबका परिचय क्यों नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार सभी भाई-भाई हैं, सभी एक जाति के हैं। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जाति से नहीं।" (हिन्दी साहित्य, पृ. 75) यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि रामानन्द ने केवल भक्ति के क्षेत्र में जातीय समानता की बात की है। कबीर ने भक्ति के साथ ही सामाजिक क्षेत्र में भी जातीय समानता की माँग प्रस्तुत करते हुए ईश्वर के नाम पर सभी मनुष्यों की बराबरी का जोरदार दावा किया। इस दृष्टि से रामानन्द से भी उनका अन्तर स्पष्ट है।

तेरहवीं शती के आरम्भ में शंकराचार्य के अद्वैतवादी वेदान्त के विरोध में अपना द्वैतवादी दर्शन प्रस्तुत करते हुए गुजरात के मध्वाचार्य ने ब्रह्म जीव और जगत को अलग-अलग सत्ता स्वीकार कर अध्यात्म दर्शन के क्षेत्र में ही नहीं, वरन सामाजिक क्षेत्र में भी एक क्रांतिकारी विचार प्रस्तुत किया। एक सामाजिक यथार्थद्रष्टा की तरह उन्होंने जगत की द्वैतता को देखा-परखा और उसके निराकरण का समुचित प्रयास किया। इस विचार धारा ने परम्परानिष्ठ पुराण पंथियों के समुदाय में खलबली मचा दो। 'मध्व-मुख-मर्दन' आदि जैसे अनेक ग्रंथों द्वारा उनका जोरदार विरोध किया गया। उन्होंने शंकराचार्य द्वारा 'गौतमशास्त्र' की आड़ में वर्ण-व्यवस्था, जाति प्रथा और अन्यान्य सामाजिक विकृतियों तथा असमानताओं के औचित्य-स्थापना का खुलकर विरोध किया। इस दृष्टि से वे रामानुजाचार्य, यहाँ तक कि रामानन्द से भी अधिक क्रांतिकारी थे। उन्होंने अपने शिष्यों को स्पष्ट निर्देश दिया कि वे जाति और सम्प्रदाय के भेद पर आधारित सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास करें। उनका स्पष्ट मत था कि ब्राह्मणों तथा उच्च जातियों की भाँति ही शूद्रों को भी वेदों के अध्ययन का अधिकार होना चाहिए और अछूतों को भी

विष्णु भक्ति से रोका नहीं जाना चाहिए। यह विचारधारा कबीर के अधिक निकट अवश्य थी, लेकिन अपने निहित अन्तर्विरोधों के कारण उन्हें किसी भी रूप में ग्राह्य नहीं हुई.। वे अच्छी तरह जानते थे कि अक्षर ज्ञान से विरहित निम्नजातीय समुदाय न तो वेद - शास्त्र का अध्ययन ही कर सकता है और न ही उनके अध्ययन से उन्हें सामाजिक लाभ हो सकता है, क्योंकि ये ही वे आधार हैं जिनकी आड़ में उनकी शूद्रता का औचित्य सिद्ध किया जाता है।

यहाँ संक्षेप में उपर्युक्त पृष्ठभूमि इसलिए प्रस्तुत की गई है कि उत्तर भारत की सगुण भक्ति आन्दोलन के पुरस्कर्ता वैष्णव आचार्यों से सम्बद्ध एक वास्तविकता को रेखांकित किया जा सके। इन सभी ने केवल 'प्रस्थानत्रयी' को ही स्वीकार नहीं किया, वरन वेद, उपनिषद के रूप में शास्त्र सम्मत मान्यताओं का भी निषेध नहीं किया। सगुणोपासना के माध्यम से इन आचार्यों द्वारा अवतारवाद, कर्म-फल पुनर्जन्म सम्बन्धी वैदान्तिक मान्यताओं को भी आगे चलकर सहारा मिला । यह सही है कि इन वैष्णवाचार्यों ने कर्मकाण्ड बहुत पुरोहितवादी ब्राह्मण वर्चस्व को अस्वीकार किया लेकिन शास्त्रीय मतवादों से बाहर आकर नहीं । कबीर में वाही भी इन आचार्यों का निर्णायक प्रभाव दिखायी नहीं देता। उनका चिन्तन इस चुनौतीपूर्ण घोषणा से आरम्भ होता है।

'मैं कहता आँखिन की देखी, तू कहता कागद की लेखी।'

वस्तुतः ब्राह्मणवाद का वैचारिक आधार अछूत निम्न जातियों की पहुँच से बहुत दूर 'कागद की लेखी' के रूप में परम्परागत शास्त्र सम्मत मान्यताएं और उनकी ओट में चलने वाले पुरोहिती कर्मकाण्ड ही थे, जिन पर कबीर ने गिन-गिन कर चोटें की हैं । वेद पुराण पाठी पण्डित पुरोहितों और कतेब-कुरानपाठी काजी मौलवियों को हिकारत की नजर से देखने वाले कबीर ने धर्म-कर्म के क्षेत्र में शास्त्रों का पूर्ण निषेध किया है। तथाकथित शास्त्रीय मान्यताओं की आड़ में जिस वर्णवादी मर्यादा को लोक जीवन पर जबरन थोपा जा रहा था उसकी कलई कबीरदास ने पूरी तरह उतार दी है।

जहाँ तक उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन के उदभव के मूल स्रोतों और विकास परम्परा का प्रश्न है उस पर हमें नये सिरे से विचार करने की जरूरत है। इस सम्बन्ध में जब तक प्रायः जार्ज ग्रियर्सन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा स्थापित मान्यताओं को झाड़ पोंछकर जो नयी मान्यताएं स्थापित की जाती रही हैं, उनमें पर्याप्त संशोधन की आवश्यकता है यहाँ उन मान्यताओं का ब्योरा देना जरूरी नहीं है । उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन न तो ईसाई भाव-विह्वलता की देन था, जैसा कि ग्रियर्सन

ने सिद्ध किया था और न ही इस्लामी शासन और उसकी धार्मिक असहिष्णुता या अत्याचार का ही प्रतिफलन था। इस तथ्य को आचार्य द्विवेदी ने पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है। लेकिन कबीर-साहित्य के मर्मज्ञ और प्रकाण्ड विद्वान आचार्य द्विवेदी उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन के उद्‌भव पर विचार करते हुए निर्गुण और सगुण भक्ति के स्रोतगत अंतर को नजर अंदाज कर गए हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है, 'स्पष्ट है कि आलवारों का भक्तिवाद जनसाधारण की वस्तु था, जो शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारतवर्ष में फैल गया। भक्तों के अनुभूति गम्य सहज सत्य को बाद के आचार्यों ने दर्शन का क्रम-बद्ध और सुनिश्चित रूप दिया। यही बात उत्तर भारत के लिए भी सत्य है। यहाँ भी साधारण जनता के भीतर जो धर्म भावना वर्तमान थी उसने शास्त्र की अँगुली पकड़ कर अपने शक्तिशाली रूप को प्रकट किया। इन प्रदेशों में पौराणिक धर्म का प्रचार पहले से ही था। "भक्ति के लिए जो बात नितान्त आवश्यक है, वह है भगवान के ऐसे रूप की कल्पना जिसके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित किया जा सके।" (हिन्दी साहित्य, पृ. 63 ) इससे जाहिर है कि कबीर और उनके निर्गुण पंथ का उद्‌भव सम्बन्धी इस मान्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

भगवान के ऐसे रूप से' द्विवेदी जी का तात्पर्य उनके अवतारी रूप, विशेषत: एक और कृष्ण के अवतार से है। अत: यह मत उत्तर भारत की सगुणोपासक वैष्णव भक्त के उद्‌भव या विकास को रेखांकित करता है, जिसका सम्बन्ध 'प्रस्थानत्रयी' और उनके विशिष्ट भाष्यकर्ताओं-रामानुज, मध्व, निम्बार्क, बल्लभ आदि आचार्यों से जोड़ा जा सकता है। तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों से क्षुब्ध होकर कबीर ने लगभग इनके विरोध में अपने निर्गुण पंथ का प्रचार-प्रसार किया था। बल्लभाचार्य को छोड़कर उक्त तीनों आचार्य तेरहवीं शती के पूर्व के हैं, जो कबीर के पूर्ववर्ती थे। इनके अतिरिक्त रामानन्द को छोड़कर उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन के जितने आचार्य और कवि हैं सभी प्रकार के परवर्ती हैं। इससे स्पष्ट् है कि एक आन्दोलन के रूप में उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन की शुरूआत कबीर के माध्यम से हुई, जिसे 'प्रस्थानत्रयी' या उसके विशिष्ट भाष्यकर्ताओं, से किसी भी रूप में जोड़कर नहीं देखा जा सकता। उसका वास्तविक स्रोत तत्कालीन वर्णाश्रमवादी, जाति-पाँत की सामाजिक व्यवस्था पर आधारित उत्तर भारतीय समाज था । यदि कबीर के निर्गुण पंथ को किसी परम्परा से जोड़ना ही है। तो उसे संत ज्ञानेश्वर, नामदेव या फिर नाथों-सिद्धों की परम्परा से भी जोड़ा जा सकता है । यदि उसे और पीछे ले जाना है तो दक्षिण की आलवार भक्ति से भी जोड़ा जा सकता है । इस संदर्भ में भक्ति आन्दोलन के उद्‌भव-विकास से सम्बद्ध यह उक्ति पर्याप्त सार्थक है।

भक्ति द्राविड़ उपजी लाए रामानन्द।

परगट किया कबीर ने सप्तदीप नौ खण्ड ।।

संस्कृत की एक पुरानी उक्ति (उत्पन्ना द्राविडै) पर आधारित होने के बावजूद यह उक्ति भारतीय भक्ति-आन्दोलन के उदभव के एक महत्वपूर्ण तथ्य को रेखांकित करती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि दक्षिण की आलवार भक्ति (यद्यपि उसमें सगुणोपासना मुख्य थी) की विरासत के वास्तविक उत्तराधिकार कबीरादि निर्गुण सन्त ही हैं, न कि अवतार-वादी-वैष्णव आचार्य एवं भक्तगण। यहाँ मैं इस तथ्य को विशेष रूप से रेखांकित करना चाहूँगा कि एक विशेष युग के जिन समाजार्थिक दबावों के तहत और सामंती शोषण की परिस्थितियों में दक्षिण भारत में पाँचवी-छठी शती मे आलवार भक्ति का उदय हुआ था, तेरहवीं चौदहवीं शती में उत्तर भारत के निर्गुण भक्ति आन्दोलन की परिस्थितियां इस्लाम के आगमन के बावजूद उससे बहुत भिन्न नहीं थी। इस काल में हिन्दू सामंती शोषण के साथ मुस्लिम सामंती शोषण भी जुड़ गया था। बावजूद इसके आलवार भक्ति के उदय के मूलभूत कारण ही उत्तर भारतीय निर्गुण पंथ के भी उदय के कारण बने थे। आलवार भक्ति के मूल चरित्र को उदघटित करते हुए मुक्ति-बोध ने लिखा है: "भक्ति आन्दोलन दक्षिण भारत से आया। समाज की धर्मशास्त्रवादी, वेद-उपनिषदवादी शक्तियों ने उसे प्रस्तुत नहीं किया, वरन् आलवार संतों ने और उनके प्रभाव में रहने वाले जन साधारण ने उसका प्रसार किया।" (रचनावली 5ण पृ.293) यही बात कबीर निर्गुण पंथ के विषय में भी वाही जा सकती है। वैसे यह सही है कि तेरहवीं चौदहवीं शती में समूचे भारत में भक्ति आन्दोलन का लगभग एक साथ आरम्भ हुआ और वह लोक चेतना के दबाव के तहत हुआ। लेकिन निर्गुण पंथ के रूप में उत्तर भारत के भक्ति आन्दोलन का एक विशिष्ट चरित्र भी था, जो सगुण भक्ति से उसे भिन्न करता है। यह विशिष्ट धर्मशास्त्रवादी वेद-उपनिषदवादी-शक्तियो के विरोध के साथ ही बहुसंख्यक निम्न जातीय समुदायों की उद्धार भावना से अपेक्षाकृत अधिक ओत-प्रोत था। इसमें सम्पन्न उच्च जातीय संस्कार शील वर्गों के प्रति आक्रोश भी अधिक था। इसमें सम्पन्न उच्च जातीय संस्कारशील वर्गों के प्रति आक्रोश भी अधिक था। तथ्य उसे विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त सगुण पंथ से अलग करते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण के माध्यम से मेरा उद्देश्य केवल यह दिखाता है कि उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन यदि सही अर्थों में एक सामाजिक - सांस्कृतिक आन्दोलन था तो उसमें कबीर और उनका निर्गुण पंथ एक विरोधी शक्ति या विपक्ष के रूप में खड़ा हुआ था, जिसने हिन्दू मुस्लिम सामंती शोषण और उसकी सामाजिक - धार्मिक कट्टरता के प्रति विद्रोह किया था। निर्गुण संतों के साथ ही इसमें सूफी संत भी सम्मिलित थे। कालक्रम से बाद में उठने वाला सगुण आन्दोलन अपनी सम्पूर्ण उदारता और सदाशयता

के बावजूद कालान्तर में एक प्रतिरोधक शक्ति ही बना। उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन में निर्गुण और सगुण के बीच विरोध और प्रतिरोध की स्थिति तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर्विरोधों की एक नयी अभिव्यक्ति के रूप में हमारे सामने आती है। जो इस क्षेत्र की निजी विशेषता है। अन्यथा भक्ति आन्दोनन के पूरे इतिहास में निर्गुण और सगुण उपासना के मध्य इस प्रकार का विरोध-भाव नहीं रहा है। दक्षिण के आलवार भक्तों से लेकर महाराष्ट्र में संत ज्ञानेश्वर, नामदेव या गौड़ी वैष्णव भक्ति के पुरस्कर्ता चण्डीदास-चैतन्य तक में निर्गुणोपासना का विरोध नहीं दिखाई देता। ज्ञानेश्वर, नामदेव और रामानन्द में सगुण के साथ ही निर्गुणोपासना का भी पूरा अवकाश दिखायी देता है। लेकिन उत्तर भारतीय कृष्ण भक्ति में भ्रमर गीतों के माध्यम से निर्गुणोपासना के विरुद्ध एक जोरदार अभियान चला। ग्रामीण किसान-चरवाहा संस्कृति की निकटता के बावजूद कृष्ण भक्ति में पौराणिक कथाओं की बहुलता ने उसे आसानी से कर्मकाण्डी पुरोहितों के हाथों का खिलौना बनने दिया। इससे एक तरफ अवतारवाद की प्रतिष्ठा को बल मिला तो दूसरी तरफ कर्मफल, भाग्यवाद, पुनर्जन्म की शंकराचार्य सम्मत वेदान्तिक मान्यता के लिए ठोस आधार प्रस्तुत हुआ। सामंती मूल्य व्यवस्था के दृढ़ीकरण में जो कोर-कसर रह गयी थी, उसे अपनी राम भक्ति के माध्यम से वर्णाश्रम धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा द्वारा गोस्वामी तुलसीदास ने पूरा किया।

इस प्रकार उत्तर भारतीय आन्दोलन, भारत के अन्य क्षेत्रों की भाँति एक सीधा सपाट आन्दोलन न होकर तत्कालीन दो विरोधी सामाजिक सांस्कृतिक शक्तियों की टकराहट भी सिद्ध होता है। अत: निर्गुण और सगुण के बीच दो उपासना-पद्धतियों के बीच का अन्तर ही नहीं, वरन् दो विरोधी वर्ग समुदायों, दो विरोधी वर्ग हितों और दो विपरीत आशाओं-आकाक्षाओं का कठोर सघर्ष भी था। अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा जाए तो भक्तिकाल में निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण का सदंर्भ शोषित-उत्पीड़ित और उपेक्षित निम्न जातीय बहुसंख्यक वर्ग समुदायों के विरुद्ध सम्पत्तिशाली, उच्चवंशीय, संस्कारशील अल्पसंख्यक वर्ग का संघर्ष भी था। इसमें प्रथम के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि कबीरदास और दूसरे के प्रखरतम प्रतिनिधि गोस्वामी तुलसीदास माने जा सकते हैं।

यहाँ मैं यह नहीं स्थापित कर रहा हूँ कि सगुण भक्ति में सामंत विरोधी तत्व थे ही नहीं। कृष्ण भक्ति और रामभक्ति में पुरोहित कर्मकाण्ड का विरोध मिलता है। तुलसीदास में सामंतवाद विगलित मूल्य व्यवस्था के प्रति सच्चा आक्रोश भी व्यक्त हुआ। लेकिन उनकी दृष्टि उनके जीर्णोद्धार या पुनरुत्थान पर ही अधिक रही है। तत्कालीन सामंती व्यवस्था की विकृतियों के कटु आलोचक होते भी उन्होने उसके सर्वाधिक ठोस स्तम्भ वर्णाश्रम की

रक्षा में एड़ी-चोटी की पसीना कर दिया है। तुलसीदास द्वारा स्थापित सकारात्मक मूल्यादर्शों के प्रति पूरी तरह नतमस्तक होते हुए भी मैं इस तथ्य को रेखांकित करना चाहूँगा कि यह ऐसा, चोर दरवाजा बना जिसमें आसानी से प्रवेश कर प्रतिक्रिया वादी पुराणपंथी शाक्तियाँ उनकी तमाम सारी उपलब्धियों को मटियामेट कर सकती हैं और आज कर रही हैं। अवतारवाद, पुनर्जन्म, कर्म फल, भाग्यवाद आदि की पुन:प्रतिष्ठा में गोस्वामी जी ने जिस तन्मयता और तत्परता का परिचय दिया है, वह पूरे भक्ति आन्दोलन के लिए बेमिसाल है।

इसके विपरीत कबीरदास ने तमाम कृष्ण भक्तों और राम भक्त तुलसीदास के बहुत पहले हिन्दू-समाज में कृष्ण को विष्णु का अवतार मान कर उसकी उपासना करने वाली प्रवृत्ति का जोरदार खण्डन किया था। मन्दिर-मस्जिद, मूर्ति पूजा, तीर्थ स्थान, विभिन्न पर्व त्यौहार आदि धर्म के अन्यान्य आडम्बरों के केन्द्र बने हुए थे। संख्या, गायत्री, व्रत, तीर्थ-स्थान, छाया-तिलक, पूजा अर्चना के कर्मकाण्डी विधान का समाज में पूरा जोर था। संस्कार के रूप में जन्म से मृत्यु तक और उसके बाद श्राद्ध के रूप में अनेक विधान समाज में मौजूद थे। इनका सूत्र ब्राह्मण समुदाय के पण्डे-पुरोहितों के हाथ में था। धार्मिक क्षेत्र की यह कर्मकाण्ड बहुलता सामाजिक क्षेत्र में वर्ण व्यवस्था जन्य जाति-पाँति ऊँच-नीच, छूआ-छूत की भावना को बढ़ावा दे रही थी। कबीरदास ने अपने युग की इन तमाम सारी धार्मिक-सामाजिक विकृतियों पर खुल कर प्रहार किया। ब्रह्म या विष्णु के अवतार के रूप में दाशरथि राम हिन्दू समाज की सम्पूर्ण आचार निष्ठा और सामाजिक-धार्मिक मान-मर्यादा के जीवंत प्रतीक बन चुके थे। रामानन्द से रामनाम मन्त्र ग्रहण करने के बावजूद कबीरदास ऐसे पहले भक्त हैं, जिन्होंने दशरथ-सुत राम की भगवत्ता पर प्रश्न वाचक चिन्ह् लगाया। इसके साथ ही नन्द सुत कृष्ण और सभी अवतारों की मान्यता का अनेक युक्तियों से खण्डन कर ब्रह्म की निर्गुण निराकार सत्ता का प्रतिपादन कर उनके साथ अनेकानेक मानवीय सम्बन्धों की स्थापना की। शास्त्र सम्मत ब्राह्मण श्रेष्ठता वर्णाश्रम धर्मी लोक मर्यादा के आधार स्तम्भ अवतारवाद की मान्यता को खण्डित करना कबीर के लिए आवश्यक प्रतीत हुआ। भारत में इस्लाम के प्रवेश की आरम्भिक अवस्था में ही कबीर ने मूर्ति पूजा, मन्दिर, मस्जिद, जप-जाप, रोजा-नमाज आदि के सामाजिक-अधार्मिक आशय अभिप्रायों को अच्छी तरह समझ लिया था। भारतीय जाति-व्यवस्था की विकृतियों और हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक विद्वेष के गम्भीर परिणामों पर उनकी दृष्टि एक साथ गयी। अत: राम-रहीम की एकता के साथ ही उन्होंने ईश्वर के नाम पर सभी मनुष्यों की एकता और समानता का जोरदार अभियान चलाया। हिन्दू-मुस्लिम साधारण जनता पर उनकी वाणी का प्रभाव पड़ा। उत्पीड़ित निम्न जातियों में आत्म-गौरव और आत्म-विश्वास की

भावना का उदय हुआ । उनके अपने बीच से अनेक सन्त-महात्मा और कवि-कलाकार सामने आए । उन्हें धर्मनिष्ट संस्कृति कर्मी के रूप में पूरे समाज को मान्यता देनी पड़ी। उत्तर भारतीय सामाजिक जीवन में एक नये विचारवाद को प्रोत्साहन मिला । इसको घोर प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक रूप से सामने आयी।

कबीर के इस विचारवाद की आरम्भिक प्रक्रिया में निर्गुण-निराकार का विरोध कृष्ण भक्ति में भ्रमर गीतों के माध्यम से हुआ। बावजूद इसके कृष्ण भक्ति में वर्तमान निम्न जातीय तत्वों के दबाव के कारण कबीर की जाति-पाँति सम्बन्धी मान्यताओं का खण्डन नहीं मिलता। यह कार्य तुलसीदास के माध्यम से सम्पन्न हुआ। कबीर और तुलसी के बीच समय का बहुत बड़ा अन्तर था। कबीर की मृत्यु के 15-20 वर्षों बाद जन्मे तुलसीदास ने अपने आस-पास के वातावरण में गूँजने वाली कबीर की चुनौतियों को गंभीरता से महसूस किया था। अपनी अनेक युक्तियों से उन्हें निरस्त करने का तुलसीदास ने सफल प्रयास किया। अपने 'रामचरित मानस' में शिव-पार्वती का काक भुषुण्डि-गरुड, याज्ञवल्क-भारद्वाज के सम्वाद और अन्यान्य कथा प्रसंगों की योजना द्वारा उन्होंने जहाँ एक ओर दशरथ-सुत राम की भगवत्ता की प्रतिष्ठा की वहीं दूसरी ओर श्रुति सम्मत बताकर वर्णाश्रम धर्मी सामाजिकता के पौराणिक आदर्शों को लोक मर्यादा का रूप दिया। इस प्रक्रिया में उन्होंने अवतारवाद के साथ ही पुनर्जन्म, कर्म-फल भाग्यवाद की लोक विरोधी मान्यताओं को लोक जीवन में पुन: आरोपित किया। ये वे मान्यताएँ हैं जो वर्ण व्यवस्था और उससे उत्पन्न जातिवाद को ईश्वर कृत मान कर दृढ़ आधार प्रदान करती हैं।

यहाँ मेरा उद्देश्य सगुण-निर्गुण की तुलना में कबीर निर्गुण पंथ की व्यापक समाज निष्ठता को रेखांकित मात्र करना नहीं है। आज की परिस्थितियों में उत्तर भारत भक्ति आन्दोलन की समस्त उपलब्धियों की एक मूल्यवान सांस्कृतिक विरासत के रूप में रक्षा का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। भक्ति आन्दोलन एक देशव्यापी आन्दोलन था। समूचे देश को सांस्कृतिक सूत्र में आबद्ध किया। इस प्रक्रिया में दक्षिण के वैष्णव आचार्य 'प्रस्थानत्रयी' की नयी और उदार व्याख्या के माध्यम से राम और कृष्ण के साथ उत्तर की यात्रा करते है। चैतन्य देव के शिष्यों के माध्यम से बंगाल वृन्दावन से जुड़ता है। नाथ द्वार, द्वारिका, कन्या कुमारी के साथ ही अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन जैसे नये सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित होते हैं । कबीर की जन्म-भूमि और तुलसी कर्म भूमि प्रसिद्ध शैव नगरी काशी वैष्णवों का सबसे बड़ा तीर्थ बनती है। इन सांस्कृतिक केन्द्रों को आज राष्ट्रीय एकता और अखण्डता का केन्द्र कैसे बनाया जाए-यह हमारे लिए आम मुद्दा बन गया है। वे शक्तियाँ आज पुनः सिर उठा रहीं हैं, जो धर्म और संस्कृति के नाम पर, जाति और सम्प्रदाय के

नाम पर देश और समाज की एकता को खण्डित कर अपना हित साधती रही है। बाबरी मस्जिद और राम जन्म-भूमि के विवाद के माध्यम से अयोध्या इनका पहला निशाना बना है। अब काशी और मथुरा की बारी' का निर्लज्जता पूर्ण उद्घोष किया जा चुका है। इसके लिप साधारण जनता के सैकड़ों वर्षों के कठोर संघर्ष के परिणाम-स्वरूप उपलब्ध मूल्यवान दस्तावेज, भारतीय संविधान तक को चुनौती दी जा रही है। इसकी रक्षा का समुचित मार्ग भी भक्ति आन्दोलन की विरासत में खोजा जा सकता है।

भक्ति-आन्दोलन से लेकर राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की एक लम्बी संघर्षपूर्ण परम्परा हमारे सामने है। सगुण साधकों की उदार उच्चाशयता और निर्गुण साधकों की क्रांतिकारी विरासत ने जिस सांस्कृतिक एकता के सूत्र में पूरे देश को पिरोया था, उसे राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन ने व्यावहारिक स्तर पर ठोस रूप दिया था। उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम की सम्पूर्ण हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, सिक्ख जनता को एक मंच पर लाकर राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन ने पहली बार भारत को राजनीतिक दृष्टि से एक अखण्ड राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित किया। निर्गुण संतों के धार्मिक-सामाजिक संघर्ष में उठाये गए बहुत से महत्वपूर्ण मुद्दों को स्वाधीन भारत के संघीय संविधान में पहली बार कानून का दर्जा मिला, उनमें से अधिकांश को मौलिक अधिकारों के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। भारतीय वर्ण व्यवस्था और जाति प्रथा की विकृतियों के कट्टर विरोधी डा. अम्बेडकर की रहनुमाई में निर्मित इस संविधान के धर्म निरपेक्ष स्वरूप की रक्षा के प्रश्न के साथ गहरायी से जुड़ गया है। धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर साधारण जनता को गुमराह कर उसे फिर से अपने शोषण का शिकार बनाने वाली जन विरोधी शक्तियों की गहरी साजिश आज राजनीति का जामा धारण कर मैदान में उतरी हैं। वे न केवल हमारी मूल्यवान सांस्कृतिक विरासत को तहस-नहस करेंगी, वरन् एक लम्बे और संघर्ष से परिपूर्ण राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन द्वारा अर्जित जन तांत्रिक मूल्यों की हत्या करने पर तुली हुई हैं। इस क्रम में वे कबीर हो लेकर तुलसी तक, राम मोहन से लेकर केशव चन्द्र सेन तक, भारतेन्दु रवीन्द्रनाथ से लेकर प्रेमचन्द तक की समस्त उपलब्धियों पर पानी फेर सकती हैं। ऐसी स्थिति में कबीर और निर्गुण पंथ के सन्देश हमारे लिए पहले की अपेक्षा और अधिक प्रासंगिक बन गए हैं। जाति-पाँति पर आधारित वर्णाश्रम-व्यवस्था के निषेध, हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष के विरुद्ध जो समाजव्यापी संघर्ष कबीर ने छेड़ा था, उसे आज नयी शक्ति के साथ संवैधानिक ढाँचे की रक्षा करते हुए फिर से छेड़ने की जरूरत है। इसके लिए सामाजिक-सांस्कृतिक संघर्ष में भी साधारण जनता को विश्वास में लिये बिना सफलता नहीं मिल सकती।

# 6. मध्ययुगीय भक्ति-आन्दोलन का एक पहलू

गजानन माधव मुक्तिबोध

मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है कि कबीर और निर्गुण पन्थ के अन्य कवि तथा दक्षिण के कुछ महाराष्ट्रीय सन्त तुलसीदास की अपेक्षा अधिक आधुनिक क्यों लगते हैं? क्या कारण है कि हिन्दी-क्षेत्र में जो सबसे अधिक धार्मिक रूप से कट्टर वर्ग है, उनमें भी तुलसीदासजी इतने लोकप्रिय हैं कि उनकी भावनाओं और वैचारिक अस्त्रों द्वारा, वह वर्ग आज भी आधुनिक दृष्टि और भावनाओं से संघर्ष करता रहता है? समाज के पारिवारिक क्षेत्र में इस कट्टरपन को अब नये पंख भी फूटने लगे हैं। खैर, लेकिन यह इतिहास दूसरा है। मूल प्रश्न जो मैंने उठाया है उसका कुछ-न-कुछ मूल उत्तर तो है ही।

मैं यह समझता हूँ कि किसी भी साहित्य का ठीक-ठीक विश्लेषण तब तक नहीं हो सकता जब तक हम उस युग की मूल गतिमान सामाजिक शक्तियों से बनने वाले सांस्कृतिक इतिहास को ठीक-ठीक न जान लें। कबीर हमें आपेक्षिक रूप से आधुनिक क्यों लगते हैं, इस मूल प्रश्न का मूल उत्तर भी उसी सांस्कृतिक इतिहास में कहीं छिपा हुआ है। जहाँ तक महाराष्ट्र की सन्त-परम्परा का प्रश्न है, निर्विवाद है कि मराठी सन्त-कवि, प्रमुखत:, दो वर्गों से आये हैं, एक ब्राह्मण और दूसरे ब्राह्मणेतर। इन दो प्रकार के सन्त-कवियों के मानव-धर्म में बहुत कुछ समानता होते हुए भी, दृष्टि और रुझान का भेद भी था। ब्राह्मणेतर सन्त-कवि की काव्य-भावना अधिक जनतन्त्रात्मक, सर्वांगीण और मानवीय थी। निचली जातियों की आत्म-प्रस्थापना के उस युग में, कट्टर पुराणपन्थियों ने जो-जो तकलीफें इन सन्तों को दी हैं, उनसे ज्ञानेश्वर जैसे प्रचण्ड प्रतिभावान सन्त का जीवन अत्यन्त करुण कष्टमय और भयंकर दुढ़ हो गया। उनका प्रसिद्ध ग्रंथ ज्ञानेश्वरी तीन सौ वर्षों तक छिपा रहा। उक्त ग्रंथ की कीर्ति का इतिहास तो तब से शुरू होता है जब पुन: प्राप्त हुआ। यह स्पष्ट ही है कि समाज के कट्टरपन्थियों ने इन सन्तों को अत्यन्त कष्ट दिया। इन कष्टों का क्या कारण था? और ऐसी क्या बात हुई कि जिस कारण निम्न जातियाँ अपने सन्तों को लेकर राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक क्षेत्र में कूद पड़ीं?

मुश्किल यह है कि भारत के सामाजिक-आर्थिक विकास के सुसम्बद्ध इतिहास के लिए आवश्यक सामग्री का बड़ा ही अभाव है। हिन्दू इतिहास लिखते नहीं थे, मुस्लिम लेखक घटनाओं का ही वर्णन करते थे। इतिहास-लेखन पर्याप्त आधुनिक है। शान्तिनिकेतन के तथा अन्य पण्डितों ने भारत के सांस्कृतिक इतिहास के क्षेत्र में बहुत अन्वेषण किये हैं।

किन्तु सामाजिक-आर्थिक विकास के इतिहास के क्षेत्र में अभी तक कोई महत्वपूर्ण काम नहीं हुआ है।

ऐसी स्थिति में हम कुछ सर्वसम्मत तथ्यों को ही आपके सामने प्रस्तुत करेंगे।

(1) भक्ति-आंदोलन दक्षिण भारत से आया। समाज की धर्मशास्त्रवादी, वेद-उपनिषद्वादी शक्तियों ने उसे प्रस्तुत नहीं किया, वरन् आलवार सन्तों में और उनके प्रभाव में रहनेवाले जनसाधारण ने उसका प्रसार किया।

(2) ग्यारहवीं सदी से महाराष्ट्र की गरीब जनता में भक्ति आन्दोलन का प्रभाव अत्यधिक हुआ। राजनैतिक दृष्टि से, यह जनता हिन्दू-मुस्लिम दोनों प्रकार के सामन्ती उच्चवर्गीयों से पीड़ित रही। सन्तों की व्यापक मानवतावादी वाणी ने उन्हें बल दिया। कीर्तन-गायन ने उनके जीवन में रस-संचार किया। ज्ञानेश्वर, तुकाराम आदि सन्तों ने गरीब किसान और अन्य जनता का मार्ग प्रशस्त किया। इस सांस्कृतिक आत्म-प्रस्थापना के उपरान्त सिर्फ एक और कदम की आवश्यकता थी।

वह समय भी शीघ्र ही आया। गरीब उद्धत किसान तथा अन्य जनता को अपना एक और सन्त, रामदास, मिला, और एक नेता प्राप्त हुआ, शिवाजी। इस युग में राजनैतिक रूप से महाराष्ट्र का जन्म और विकास हुआ। शिवाजी के समस्त छापेमार युद्धों के सेनापति और सैनिक, समाज के शोषित तबकों से आये। आगे का इतिहास आपको मालूम ही है – किस प्रकार सामन्तवाद टूटा नहीं, किसानों की पीड़ाएँ वैसी ही रहीं, शिवाजी के उपरान्त राजसत्ता उच्च वंशोत्पन्न ब्राह्मणों के हाथ पहुँची, पेशवाओं (जिन्हे मराटे भी जाना जाता रहा) ने किस प्रकार के युद्ध किये और वे अंग्रेजों के विरूद्ध क्यों असफल रहे, इत्यादि।

(3) उच्चवर्गीयों और निम्नवर्गीयों का संघर्ष बहुत पुराना है। यह संघर्ष निस्संदेह धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक क्षेत्र में अनेकों रूपों में प्रकट हुआ। सिद्धों और नाथ-सम्प्रदाय के लोगों ने जनसाधारण में अपना पर्याप्त प्रभाव रखा, किन्तु भक्ति-आन्दोलन का जनसाधारण पर जितना व्यापक प्रभाव हुआ उतना किसी अन्य आन्दोलन का नहीं। पहली बार शूद्रों ने अपने सन्त पैदा किये, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किये। कबीर रैदास, नाभा सिंपी, सेना नाई, आदि-आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलन्द की। समाज के न्यस्त स्वार्थवादी वर्ग के विरुद्ध नया विचारवाद अवश्यम्भावी था। वह हुआ, तकलीफें हुईं। लेकिन एक बात हो गयी।

शिवाजी स्वयं मराठा क्षत्रिय था, किन्तु भक्ति-आंदोलन से, जाग्रत जनता के कष्टों से, खूब परिचित था, और स्वयं एक कुशल संगठक और वीर सेनाध्यक्ष था। सन्त रामदास, जिसका

उसे आशीर्वाद प्राप्त था, स्वयं सनातनी ब्राह्मणवादी था, किन्तु नवीन जाग्रत जनता की शक्ति से खूब परिचित भी था। सन्त से अधिक वह स्वयं एक सामन्ती राष्ट्रवादी नेता था। तब तक कट्टरपंथी शोषक तत्वों में यह भावना पैदा हो गयी थी कि निम्नजातीय सन्तों से भेदभाव अच्छा नहीं है। अब ब्राह्मण-शक्तियाँ स्वयं उन्हीं सन्तों का कीर्तन-गायन करने लगीं। किन्तु इस कीर्तन-गायन के द्वारा वे उस समाज की रचना को, जो जातिवाद पर आधारित थी, मजबूत करती जा रही थीं। एक प्रकार से उन्होंने अपनी परिस्थिति से समझौता कर लिया था। दूसरे, भक्ति आन्दोलन के प्रधान सन्देश से प्रेरणा प्राप्त करने वाले लोग ब्राह्मणों में भी होने लगे थे। रामदास, एक प्रकार से, ब्राह्मणों में से आये हुए अन्तिम सन्त हैं, इसके पहले एकनाथ हो चुके थे। कहने का सारांश यह कि नवीन परिस्थिति में यद्यपि युद्ध-सत्ता (राजसत्ता) शोषित और ग़रीब तबक़ों से आये सेनाध्यक्षों के पास थी, किन्तु सामाजिक क्षेत्र में पुराने सामन्तवादियों और नये सामन्तवादियों में समझौता हो गया था। नये सामन्तवादी कुनबियों, धनगरों, मराठों और गरीब जातियों से आये हुए सेनाध्यक्ष थे। इस समझौते का फल यह हुआ कि पेशवा ब्राह्मण हुए, किन्तु युद्ध-सत्ता नवीन सामन्तवादियों के हाथ में रही।

उधर सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में निम्नवर्गीय भक्तिमार्ग के जनवादी सन्देश के दाँत उखाड़ लिये गये। उन सन्तों को सर्ववर्गीय मान्यता प्राप्त हुई, किन्तु उनके सन्देश के मूल स्वरूप पर कुठाराघात किया गया, और जातिवादी पुराणधर्म पुनः निःशंक भाव से प्रतिष्ठित हुआ।

(4) उत्तर भारत में निर्गुणवादी भक्ति-आंदोलन में शोषित जनता का सबसे बड़ा हाथ था। कबीर, रैदास, आदि सन्तों की बानियों का सन्देश, तत्कालीन मानों के अनुसार, बहुत अधिक क्रांतिकारी था। यह आकस्मिकता न थी कि चण्डीदास कह उठता है:

शुनह मानुष भाई,
शबार ऊपरे मानुष शत्तो
ताहार उपरे नाई।

इस मनुष्य-सत्य की घोषणा के क्रान्तिकारी अभिप्राय कबीर में प्रकट हुए। कुरीतियों, धार्मिक अन्धविश्वासों और जातिवाद विरुद्ध कबीर ने आवाज उठायी। वह फैली। निम्न जातियों में आत्मविश्वास पैदा हुआ। उनमें आत्म-गौरव का भाव हुआ। समाज की शासक-सता को यह कब अच्छा लगता? निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का प्रारम्भिक प्रसार और विकास उच्चवंशियों में हुआ। निर्गुण मत के विरुद्ध सगुणमत का संघर्ष निम्न

वर्गों के विरूद्ध उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरूचि वालों का संघर्ष था । सगुण मत विजयी हुआ । उसका प्रारम्भिक विकास कृष्ण भक्ति के रूप में हुआ। यह कृष्णभक्ति कई अर्थों में निम्नवर्गीय भक्ति-आन्दोलन से प्रभावित थी । उच्चवर्गीयों का एक भावुक तबका भक्ति-आंदोलन से हमेशा व्रीाावित होता रहा चाहे वह दक्षिण भारत में हो या उत्तर भारत में। इस कृष्णभक्ति में जातिवाद के विरुद्ध कई बातें थी। वह एक प्रकार से भावावेशी व्यक्तिवाद था। इसी कारण, महाराष्ट्र में, निर्गुण मत के बजाय निम्न-वर्ग में, सगुण मत ही अधिक फैला। सन्त तुकाराम का विठोबा एक सार्वजनिक कृष्ण था। कृष्णभक्तिवाली मीरा 'लोकलाज' छोड़ चुकी थी। सूर कृष्ण-प्रेम में विभोर थे। निम्नवर्गीयों में कृष्णभक्ति के प्रचार के लिए पर्याप्त अवकाश था, जैसा महाराष्ट्र की सन्त परम्परा का इतिहास बतलाता है। उत्तर भारत में कृष्णभक्ति-शाखा का निर्गुण मत के विरुद्ध जैसा संघर्ष हुआ वैसा महाराष्ट्र में नहीं रहा। महाराष्ट्र में कृष्ण की शृंगार-भक्ति नहीं थी, न भ्रमरगीतों का जोर था। कृष्ण एक तारणकर्ता देवता था, जो अपने भक्तों का उद्धार करता था, चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो। महाराष्ट्रीय सगुण कृष्णभक्ति में शृंगारभावना, और निर्गुण भक्ति, इन दो के बीच कोई संघर्ष नहीं था। उधर उत्तर भारत में, नन्ददास वगैरह कृष्णभक्तिवादी सन्तों की निर्गुण मत-विरोधी भावना स्पष्ट ही है। और ये सब लोग उच्चकुलोद्भव थे। यद्यपि उत्तर भारतीय कृष्णभक्तिवाले कवि उच्चवंशीय थे, और निर्गुण मत से उनका सीधा संघर्ष भी था, किन्तु हिन्दू समाज के मूलाधार यानी वर्णाश्रम-धर्म के विरोधियों ने जातिवाद-विरोधी विचारों पर सीधी चोट नहीं थी। किन्तु उत्तर भारतीय भक्ति-आंदोलन पर उनका प्रभाव निर्णायक रहा।

एक बार भक्ति-आंदोलन में ब्राह्मणों का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर नहीं थी। ये घोषणा तुलसीदास जी ने की थी। निर्गुण मत में निम्नजातीय धार्मिक जनवाद का पूरा जोर था, उसका क्रन्तिकारी सन्देश था। कृष्णभक्ति में यह बिल्कुल कम हो गया, किन्तु फिर भी निम्नजातीय प्रभाव अभी भी पर्याप्त था। तुलसीदास ने भी निम्नजातीय भक्ति स्वीकार की, किन्तु उसको अपना सामाजिक दायरा बतला दिया। निर्गुण मतवाद के जनोन्मुख रूप और उसकी क्रान्तिकारी जातिवाद-विरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदासजी ने पुराण-मतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया । निर्गुण-मतवादियों का ईश्वर एक था, किन्तु अब तुलसीदास के मनोजगत् में परब्रह्म के निर्गुण-स्वरूप के बावजूद सगुण ईश्वर ने सारा समाज और उसकी व्यवस्था—जो जातिवाद, वर्णाश्रम पर आधारित थी—उत्पन्न की। राम निषाद और गुह का आलिंगन कर सकते थे, किन्तु निषाद गुह ब्राह्मण का अपमान कैसे कर सकते थे । दार्शनिक क्षेत्र का निर्गुण मत जब व्यावहारिक रूप से ज्ञानमार्गी भक्तिमार्ग बना, तो उसमें पुराण-मतवाद को स्थान नहीं था। कृष्णभक्ति

के द्वारा पौराणिक कथाएँ घुसीं, पुराणों ने रामभक्ति के रूप में आगे चलकर वणाश्रम धर्म की पुर्नविजय की घोषणा की।

साधारण जनों के लिए कबीर का सदाचारवाद तुलसी के सन्देश से अधिक क्रान्तिकारी था। तुलसी को भक्ति का यह मूल तत्व तो स्वीकार करना ही पड़ा कि राम के सामने सब बराबर है, किन्तु चूँकि राम ही ने सारा समाज उत्पन्न किया है, इसलिए वर्णाश्रम धर्म और जातिवाद को तो मानना ही होगा। पं. रामचन्द्र शुक्ल जो निर्गुण मत को कोसते हैं, वह यों ही नहीं। इसके पीछे उनकी सारी पुराण-मतवादी चेतना बोलती है।

क्या यह एक महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत , एक भी प्रभावशाली और महत्वपूर्ण कवि निम्नजातीय शूद्र वर्गों से नहीं आया? क्या यह एक महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि कृष्णभक्ति शाखा के अन्तर्गत रसखान, और रहीम जैसे हृदयवान मुसलमान कवि बराबर रहे आये, किन्तु रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत एक भी मुसलमान और शूद्र कवि प्रभावशाली और महत्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद नहीं कर सका? झब कि यह एक स्वतःसिद्ध बात है कि निर्गुण शाखा के अन्तर्गत ऐसे लोगों को अच्छा स्थान प्राप्त था।

निष्कर्ष यह कि जो भक्ति आन्दोलन जनसाधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरूद्ध जन साधारण की सांस्कृतिक आशा-आकांक्षाएं बोलती थी। उसका 'मनुष्य सत्य' बोलता था, उसी भक्ति आन्दोलन को उच्चवर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया, और उससे समझौता करके, फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके, और अनन्तर जनता के अपने तत्वों को उनमें से निकालकर, उन्होंने उस पर अपना पूर प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

और इस प्रकार, उच्चवंशी उच्चजातीय वर्गों का - समाज के संचालक शासक वर्गों का - धार्मिक सांस्कृतिक क्षेत्र में पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो जानेपर, साहित्यिक क्षेत्र में उन वर्गों के प्रधान भाव-श्रृंगार-विलास-का प्रभावशाली विकास हुआ, और भक्ति काव्य की प्रधानता जाती रही। क्या कारण है कि तुलसीदास भक्ति-आंदोलन के प्रधान (हिन्दी क्षेत्र में ) अन्तिम कवि थे? सांस्कृतिक साहित्यिक क्षेत्र में यह परिवर्तन भक्ति आन्दोलन की शिथिलता को द्योतित करता है । किन्तु यह आन्दोलन इस क्षेत्र में शिथिल क्यों हुआ।

ईसाई मत का भी यही हाल हुआ। ईसा का मत जनसाधारण में फैला तो यहूदी धनिक वर्गों में उसका विरोध किया, रोमन शासकों ने उसका विरोध किया। किन्तु जब वह जनता का अपना धर्म बनने लगा तो धनिक यहूदी और रोमन लोग भी उसको स्वीकार करने

लगे। रोमन शासक ईसाई हुए और सेंट पॉल ने उसी भावुक प्रेममूलक धर्म को कानूनी शिकंजों में जकड़ लिया, पोप जनता से फीस लेकर पापों और अपराधों के लिए क्षमापत्र वितरित करने लगा।

यदि हम धर्मों के इतिहास को देखें, तो यह जरूर पायेंगे कि तत्कालीन जनता की दुरवस्था के विरुद्ध उसने घोषणा की, जनता को एकता और समानता के सूत्र में बाँधने की कोशिश की। किन्तु ज्यों-ज्यों उस धर्म में पुराने शासकों की प्रवृत्ति वाले लोग घुसते गये और उनका प्रभाव जमता गया, उतना-उतना गरीब जनता का पक्ष न केवल कमजोर होता गया, वरन् उसको अन्त में उच्चवर्गों की दासता-धार्मिक दासता-भी फिर से ग्रहण करनी पड़ी।

क्या कारण है कि निर्गुण-भक्तिमार्गी जातिवाद-विरोधी आन्दोलन सफल नहीं हो सका ? उसका मूल कारण यह है कि भारत में पुरानी समाज-रचना को समाप्त करनेवाली पूँजीवादी क्रान्तिकारी शक्तियाँ उन दिनों विकसित नहीं हुई थीं। भारतीय स्वदेशी पूँजीवाद की प्रधान भौतिक-वास्तविक भूमिका विदेशी पूँजीवादी साम्राज्यवादी ने बनायी। स्वदेशी पूँजीवाद के विकास के साथ ही भारतीय राष्ट्रवाद का अभ्युदय और सुधारवाद का जन्म हुआ, और उसने सामन्ती समाज-रचना के मूल आर्थिक आधार, यानी पेशेवर जातियों द्वारा सामाजिक उत्पादन की प्रणाली समाप्त कर दी। गाँवों की पंचायती व्यवस्था टूट गयी। ग्रामों की आर्थिक आत्मनिर्भरता समाप्त हो गयी।

भक्ति-काल की मूल भावना साधारण जनता के कष्ट और पीड़ा से उत्पन्न है। यद्यपि पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कहना ठीक है कि भक्ति की धारा बहुत पहले से उद्गत होती रही, और उसकी पूर्वभूमिका बहुत पूर्व से तैयार होती रही। किन्तु उनके द्वारा निकाला गया यह तर्क ठीक नहीं मालूम होता कि मध्य युगीन भक्तों की भावना में जनता के सांसारिक कष्टों के तत्त्व नहीं है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन में हमें पर्याप्त सत्य मालूम होता है कि भक्ति-आंदोलन का एक मूल कारण जनता का कष्ट है। किन्तु पण्डित शुक्ल ने इन कष्टों के मुस्लिम-विरोधी और हिन्दू-राजसत्ता के पक्षपाती जो अभिप्राय निकाले हैं, वे उचित नहीं मालूम होते। असल बात यह है कि मुसलमान सन्त-मत भी उसी तरह कट्टरपन्थियों के विरुद्ध था, जितना कि भक्ति-मार्ग। दोनों एक-दूसरे से प्रभावित भी थे। किन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि भक्ति-भावना की तीव्र आर्द्रता और सारे दुःखों और कष्टों के परिहार के लिए ईश्वर की पुकार के पीछे जनता की भयानक दुःस्थिति छिपी हुई थी। यहाँ यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि यह बात साधारण जनता और उसमें से निकले हुए सन्तों की है, चाहे वे ब्राह्मण वर्ग

से निकले हों या ब्राह्मणेतर वर्ग से। साथ ही, यह भी स्मरण रखना होगा कि श्रृंगार-भक्ति का रूप उसी वर्ग में सर्वाधिक प्रचलित हुआ जहाँ ऐसी श्रृंगार-भावना के परिपोष के लिए पर्याप्त अवकाश और समय था, फुरसत का समय। भक्ति-आंदोलन का आविर्भाव, एक ऐतिहासिक-सामाजिक शक्ति के रूप में, जनता के दुःखों और कष्टों से हुआ, यह निर्विवाद है।

किसी भी साहित्य को हमें तीन दृष्टियों से देखना चाहिए। एक तो यह कि वह किन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों से उत्पन्न है, अर्थात् वह किन शक्तियों के कार्यों का परिणाम है, किन सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग है? दूसरे यह कि उसका अन्तःस्वरूप क्या है, किन प्रेरणाओं और भावनाओं ने उसके आन्तरिक तत्त्व रूपायित किये हैं? तीसरे, उसके प्रभाव क्या हैं, किन सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरुपयोग किया है और क्यों ? साधारण जन के किन मानसिक तत्त्वों को उसने विकसित या नष्ट किया है ?

तुलसीदासजी के सम्बन्ध में इस प्रकार के प्रश्न अत्यन्त आवश्यक भी हैं। रामचरितमानसकार एक सच्चे सन्त थे, इसमें किसी को भी कोई सन्देह नहीं हो सकता। रामचरितमानस साधारण जनता में भी उतना ही प्रिय रहा जितना कि उच्चवर्गीय लोगों में । कट्टरपन्थियों ने अपने उद्देश्यों के अनुसार तुलसीदासजी का उपयोग किया, जिस प्रकार आज जनसंघ और हिन्दू महासभा ने शिवाजी और रामदास का उपयोग किया । सुधारवादियों को तथा आज की भी एक पीढ़ी को तुलसीदासजी के वैचारिक प्रभाव से संघर्ष करना पड़ा, यह भी एक बड़ा सत्य है।

किन्तु साथ ही यह भी ध्यान में रखना होगा कि साधारण जनता ने राम को अपना त्राणकर्ता भी पाया, गुह और निषाद को अपनी छाती से लगानेवाला भी पाया। एक तरह से जनसाधारण की भक्ति-भावना के भीतर समाये हुए समान प्रेम का आग्रह भी पूरा हुआ, किन्तु वह सामाजिक ऊँच-नीच को स्वीकार करके ही, राम के चरित्र द्वारा और तुलसीदासजी के आदेशों द्वारा सदाचार का रास्ता भी मिला। किन्तु वह मार्ग कबीर के और अन्य निर्गुणवादियों के सदाचार का जनवादी रास्ता नहीं था। सचाई और ईमानदारी, प्रेम और सहानुभूति से ज्यादा बड़ा तकाजा था सामाजिक रीतियों का पालन। ( देखिए, रामायण में अनुसूया द्वारा सीता को उपदेश)। उन रीतियों और आदेशों का पालन करते हुए, और उनकी सीमा में रहकर ही, मनुष्य के उद्धार का रास्ता था। यद्यपि यह कहना कठिन है कि किस हद तक तुलसीदासजी इन आदेशों का पालन करवाना चाहते थे और किस हद तक नहीं । यह तो स्पष्ट ही है कि उनका सुझाव किस ओर था। तुलसीदासजी

द्वारा इस वर्णाश्रम धर्म की पुनः स्थापना के अन्तर हिन्दी साहित्य में फिर से कोई महान भक्त-कवि नहीं हुआ तो इसमें आश्चर्य नहीं ।

आश्चर्य की बात यह है कि आजकल प्रगतिवादी क्षेत्रों में तुलसीदास के सम्बन्ध में कुछ लिख गया है, उसमें जिस सामाजिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया के तुलसीदासजी अंग थे, उसकों जान-बूझकर भुलाया गया है पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की वर्णाश्रमधर्मी जातिवादग्रस्त सामाजिकता और सच्चे जनवाद को एक-दूसरे से मिला दिया गया है मानों शुक्लजी (जिनके प्रति हमारे मन में अत्यन्त आदर है) सच्ची जनवादी सामाजिकता के पक्षपाती हों । तुलसीदासजी को पुरातनवादी कहा जायेगा कबीर की तुलना में, जिनके विरूद्ध शुक्लजी ने चोटें की हैं।

दूसरे, जो लोग शोषित निम्नवर्गीय जातियों के साहित्यिक और सांस्कृतिक सन्देश में दिलचस्पी रखते हैं, और उस सन्देश के प्रगतिशील तत्वों के प्रति आदर रखते हैं, वे लोग तो यह जरूर देखेंगे कि जनता कितना योग रहा । चाहे रामविलास शर्मा-जैसे मार्क्सवादी और तुलसीदासजी का उसमें कितना योग रहा । चाहे रामविलास शर्मा-जैसे 'मार्क्सवादी' आलोचक हमें 'वल्गर मार्क्सवादी' या बूज्वा कहें, यह बात निस्सन्देह है कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से मध्ययुगीन भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक ऐतिहासिक शक्तियों के विश्लेषण के बिन, तुलसीदासजी के साहित्य के अन्तःस्वरूप का साक्षात्कार नहीं किया या सकता । जहाँ तक रामचरितमानस की काव्यगत सफलताओं का प्रश्न है, हम उनके सम्मुख केवल इसलिए नतमस्तक नहीं हैं कि उसमें श्रेष्ठ कला के दर्शन होते हैं, बल्कि इसलिए कि उसमें उक्त मानव-चरित्र के, भव्य और मनोहर व्यक्तित्व-सत्ता के, भी दर्शन होते हैं। तुलसीदासजी की रामायण पढ़ते हुए, हम एक अत्यन्त महान व्यक्तिगत की छाया में रहकर अपने मन और हृदय का आप-ही-आप विस्तार करने लगते हैं । और जब हम कबीर आदि महान् जनोन्मुख कवियों का सन्देश देखते हैं, तो हम उनके रहस्यवाद से भी मुँह मोड़ना चाहते हैं। हम उस रहस्यवाद के समाजशास्त्रीय अध्ययन में दिलचस्पी रखते हैं, और यह कहना चाहते हैं कि निर्गुण मत की सीमाएँ तत्कालीन विचारधारा की सीमाएँ थीं, जनता का पक्ष लेकर जहाँ तक जाया जा सकता था, वहाँ तक जाना हुआ. निम्नजातीय वर्गों के इस सांस्कृतिक योग की अपनी सीमाएँ थी। ये सीमाएँ उन वर्गों की राजनैतिक चेतना की सीमाएँ थी। आधुनिक अर्थों में वे वर्ग कभी जागरूक सामाजिक-राजनैतिक-संघर्ष-पथ पर अग्रसर नहीं हुए। इसका कारण क्या है, यह विषय यहाँ अप्रस्तुत है : केवल इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि संघर्षहीनता के अभाव कामूल कारण भारत की सामन्तयुगीन सामाजिक-आर्थिक रचना में है । दूसरे, जहाँ ये संघर्ष करते-से दिखायी

दिये, वहाँ उन्होंने एक नये सामन्ती शासक वर्ग को ही दृढ़ किया, जैसा कि महाराष्ट्र में हुआ।

प्रस्तुत विचारों के प्रधान निष्कर्ष ये हैं:

(1) निम्नवर्गीय भक्ति-भावना एक सामाजिक परिस्थिति में उत्पन्न हुई और दूसरी सामाजिक स्थिति में परिणत हुई। महाराष्ट्र में उसने एक राष्ट्रीय जाति खड़ी कर दी, सिख एक नवीन जाति बन गये। इन जातियों ने तत्कालीन सर्वोत्तम शासक वर्गों से मोर्चा लिया। भक्तिकालीन सन्तों के बिना महाराष्ट्रीय भावना की कल्पना नहीं की जा सकती, न सिख गुरुओं के बिना सिख जाति की। सारांश यह कि भक्ति भावना के राजनैतिक गर्भितार्थ थे । ये राजनैतिक गर्भितार्थ तत्कालीन सामन्ती शोषक वर्गों और उनकी विचारधारा के समर्थकों के विरुद्ध थे।

(2) इस भक्ति-आंदोलन के प्रारम्भिक चरण में निम्नवर्गीय तत्त्व सर्वाधिक सक्षम और प्रभावशाली थे। दक्षिण भारत के कट्टरपन्थी तत्त्व, जो कि तत्कालीन हिन्दू सामन्ती वर्गों के समर्थक थे, इस निम्नवर्गीय सांस्कृतिक जनचेतना के एकदम विरुद्ध थे। वे उन पर तरह-तरह के अत्याचार भी करते रहे। मुस्लिम तत्त्वों से मार खाकर भी, हिन्दू सामन्ती वर्ग, उनसे समझौता करने की विवशता स्वीकार कर, उनसे एक प्रकार से मिले हुए थे। उत्तर भारत में हिन्दुओं के कई वर्गों का पेशा ही मुस्लिम वर्गों की सेवा करना था। अकबर ही पहला शासक था, जिसने तत्कालीन तथ्यों के आधार पर खुलकर हिन्दू सामन्तों का स्वागत किया।

उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली के आस-पास के क्षेत्रों में हिन्दू सामन्ती तत्त्व मुसलमान सामन्ती तत्वों से छिटककर नहीं रह सके। लूट-पाट, नोच-खसोट के उस युग में, जनता की आर्थिक-सामाजिक दुःस्थिति गम्भीर थी। निम्नवर्गीय जातियों के सन्तों की निर्गुण-वाणी का, तत्कालीन मानों के अनुसार, क्रान्तिकारी सुधारवादी स्वर, अपनी सामाजिक स्थिति के विरुद्ध क्षोभ, और अपने लिए अधिक मानवोचित परिस्थिति की आवश्यकता बतलाता था। भक्तिकाल की निम्नवर्गीय चेतना के सांस्कृतिक स्तर अपने-अपने सन्त पैदा करने लगे। हिन्दु-मुस्लिम सामन्ती तत्वों के शोषण-शासन और कट्टरपन्थी दृढ़ता से प्रेरित हिन्दू-मुस्लिम जनता भक्ति-मार्ग पर चल पड़ी थी, चाहे वह किसी भी नाम से क्यों न हो। निम्नवर्गीय भक्ति-मार्ग निर्गुण-भक्ति के रूप में प्रस्फुटित हुआ। इस निर्गुण-भक्ति में तत्कालीन सामन्तवाद-विरोधी तत्व सर्वाधिक थे। किन्तु तत्कालीन समाज-रचना के कट्टर पक्षपाती तत्वों में से बहुतेरे भक्ति-आंदोलन के प्रभाव में आ गये थे। इनमें से बहुत-से भद्र सामन्ती परिवारों में से थे । निर्गुण भक्ति उदारवादी और सुधारवादी सांस्कृतिक विचारधारा का उन पर भी प्रभाव हुआ । उन पर भी प्रभाव तो हुआ, किन्तु आगे चलकर उन्होंने भी

भक्ति-आन्दोलन को प्रभावित किया। अपने कट्टरपन्थी पुराणमतवादी संस्कारों से प्रेरित होकर, उत्तर भारत की कृष्णभक्ति, भावावेशवादी आत्मवाद को लिये हुए, निर्गुण मत के विरुद्ध संघर्ष करने लगी। इस सगुण मत में उच्चवर्गीय तत्त्वों का पर्याप्त से अधिक समावेश था। किन्तु फिर भी इस सगुण शृंगार प्रधान भक्ति की इतनी हिम्मत नहीं थी कि वह जाति-विरोधी सुधारवादी वाणी के विरुद्ध प्रत्यक्ष और प्रकट रूप से वर्णाश्रम धर्म के सार्वभौम औचित्य की घोषणा करे। कृष्णभक्ति-वादी सूर आदि सन्त-कवि इन्हीं वर्गों से आये थे। इन कवियों ने भ्रमरगीतों द्वारा निर्गुण मत से संघर्ष किया और सगुणवाद की प्रस्थापना की। वर्णाश्रम धर्म की पुनःस्थापना के लिए सिर्फ एक ही कदम आगे बढ़ना जरूरी था। तुलसीदासजी के अदम्य व्यक्तित्व ने इस कार्य को पूरा कर दिया। इस प्रकार भक्ति-आन्दोलन, जिस पर प्रारम्भ में निम्नजातियों का सर्वाधिक जोर था, उस पर अब ब्राह्मणवाद पूरी तरह छा गया और सुधारवाद के विरुद्ध पुराण मतवाद की विजय हुई। इसमें दिल्ली के आस-पास के क्षेत्र तथा उत्तरप्रदेश के हिन्दू-मुस्लिम सामन्ती तत्त्व एक थे। यद्यपि हिन्दू-मुसलमान के अधीन थे, किन्तु दुःख और खेद से ही क्यों न सही, यह विवशता उन्होंने स्वीकार कर ली थी। इन हिन्दू सामन्त तत्त्वों की सांस्कृतिक क्षेत्र में अब पूरी विजय हो गयी थी।

(3) महाराष्ट्र में इस प्रक्रिया ने कुछ और रूप लिया। जन-सन्तों ने अप्रत्यक्ष रूप से महाराष्ट्र को जाग्रत और सचेत किया, रामदास और शिवाजी ने प्रत्यक्ष रूप से नवीन राष्ट्रीय जाति को जन्म दिया। किन्तु तब तक ब्राह्मणवादियों और जनता के वर्ग से आये हुए प्रभावशाली सेनाध्यक्षों और सन्तों में एक-दूसरे के लिए काफी उदारता बतलायी जाने लगी। शिवाजी के उपरान्त, जनता के गरीब वर्गों से आये हुए सेनाध्यक्षों और नेताओं ने नये सामन्ती घराने स्थापित किये। नतीजा यह हुआ कि पेशवाओं के काल में ब्राह्मणवाद फिर जोरदार हो गया। कहने का सारांश यह कि महाराष्ट्र में वही हाल हुआ जो उत्तरप्रदेश में। अन्तर यह था कि निम्नजातीय सांस्कृतिक चेतना जिसे पल-पल पर कट्टरपन्थ से मुकाबला करना पड़ा था, वह उत्तर भारत से अधिक दीर्घकाल तक रही। पेशवाओं के काल में दोनों की स्थिति बराबर-बराबर रही। किन्तु आगे चलकर, अंग्रेजी राजनीति के जमाने में पुराने संघर्षों की यादें दुहरायी गयी, और 'ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरवाद' का पुनर्जन्म और विकास हुआ। और इस समय भी लगभग वही स्थिति है। फर्क इतना ही है कि निम्नजातियों के पिछड़े हुए लोग शिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन में हैं, और अग्रगामी लोग कांग्रेस, पेजेन्ट्स ऐण्ड वर्कर्स पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी तथा अन्य वामपक्षी दलों में शामिल हो गये हैं। आखिर जब इन्हीं जातियों मे से पुराने जमाने में सन्त आ सकते थे, आगे चलकर सेनाध्यक्ष निकल सकते थे, तो अब राजनैतिक विचारक और नेता क्यों नहीं निकल सकते?

(4) सामन्तवादी काल में इन जातियों को सफलता प्राप्त नहीं हो सकती थी, जब तक कि पूँजीवादी समाज-रचना सामन्ती समाज-रचना को समाप्त न कर देती। किन्तु सच्ची आर्थिक-सामाजिक समानता तब तक प्राप्त नहीं हो सकती, जब तक कि समाज आर्थिक-सामाजिक आधार पर वर्गहीन न हो जाये।

(5) किसी भी साहित्य का वास्तविक विश्लेषण हम तब तक नहीं कर सकते, जब तक कि हम उन गतिमान सामाजिक शक्तियों को नहीं समझते, जिन्होंने मनोवैज्ञानिक-सांस्कृतिक धरातल पर आत्मप्रकटीकरण किया है। कबीर, तुलसीदास, आदि सन्तों के अध्ययन के लिए यह सर्वाधिक आवश्यक है। मैं इस ओर प्रगतिवादी क्षेत्रों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

# 7. भक्ति आन्दोलन की क्रांतिकारिता बनाम् जनवादी चिन्ताधारा की विरासत

डॉ. तल्लन राय

भक्ति आन्दोलन की क्रांतिकारिता पर विचार करने के लिए उसे एक सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में देखने से पूर्व इस तथ्य की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि धर्म, साहित्य, सभ्यता और संस्कृति के तमाम रूपों के परिष्कार और पोषण के केन्द्र प्राय सत्ता प्रतिष्ठान ही रहे हैं। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से साहित्य एवं संस्कृति के विभिन्न रूपों में व्यक्त मूल्य-मान भी प्राय: उन्हीं प्रतिष्ठानों द्वारा नियंत्रित-निर्देशित होते रहे हैं। लेकिन कला और साहित्य का मूल स्रोत मेहनतकश आम जनता ही है और वही उसे प्रथमत निर्मित भी करती है। इस तथ्य को रेखांकित करते हुए ई.एम.एस. नम्बूदिरीपाद ने लिखा है : 'इस सिलसिले में यह समझना होगा कि संस्कृति का निर्माण जनता करती है। दुनिया में जो कुछ भी सुन्दर है, शक्तिशाली है, मनुष्य जाति के सामूहिक श्रम की उपज है। मानव समाज में जो कुछ भी अच्छा है, महान है, सुन्दर है, शक्तिशाली है, जिसमें संस्कृति भी शरीक है, मेहनत करने वालों ने पैदा किया है। लेकिन संस्कृति का निखार, सुधार विकास और परिष्कार प्रभुत्वशाली वर्गों से सम्बद्ध व्यक्ति या व्यक्ति-समूह करते हैं। (कला साहित्य एवं संस्कृति, पृ. 104), फलस्वरूप धर्म, साहित्य, संस्कृति एवं अन्योन्य कलाओं का चरित्र भी अपने आशय एवं आग्रहों की दृष्टि से प्राय: वर्गीय ही रहा है। लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ है कि महान कलाकृतियों या संस्कृति के विभिन्न रूपों से मेहनतकश आम जनता के सभी उपयोग तत्वों को पूरी तरह से निष्काषित किया जा सकता है।

इसके साथ ही इस वास्तविकता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि सामाजिक विकास के कुछ खास युगों में कुछ, विशिष्ट मोड़ों पर, ऐसे नये मूल्य-मान जन्म लेते हैं, जिन पर सत्ताधारी वर्ग की गिरफ्त ढीली हुई है। ऐसे ही विशिष्ट मोड़ों पर बौद्ध, जैन, ईसाई, इस्लाम आदि जैसे नये सामाजिक, धार्मिक आन्दोलन सामने आए हैं, जो परम्परागत एवं स्थापित मूल्य-व्यवस्था के विरोध और लोक-चेतना के दबाव के सूचक हैं। उत्पीड़ित एवं पददलित जनसाधारण की आशा-आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे आन्दोलनों को सर्वत्र प्रभुता-सम्पन्न सत्ताधारी वर्गों के कोप का भाजन भी बनना पड़ा है। बौद्ध, ईसाई, इस्लाम आदि सभी आन्दोलनों को अपने विकास के आरंभिक दौर में एक दमनकारी यंत्रणा से गुजरना पड़ा है। लेकिन यह भी एक ठोस वास्तविकता है कि जब इन आन्दोलनों की वैचारिकता ने जन-जीवन में प्रवेश कर एक भौतिक शक्ति का रूप धारण कर लिया है

तब सत्ताधारी समपन्न वर्गों ने उसे बिना किसी परेशानी के अपना कर, उसकी तीखी क्रांतिकारी धार को कुंठित करते हुए, अपने हित में नियोजित कर लिया है। इस वास्तविकता के तहत् बौद्ध, ईसाई, इस्लाम आदि धार्मिक-सामाजिक आन्दोलन कालान्तर में राजधर्म बने हैं। भक्ति आन्दोलन की अंतिम परिणति भी प्राय: यही हुई है। फिर भी हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि भक्ति-आन्दोलन की क्रांतिकारिता, आज के संदर्भ में, हमारी जनवादी चिन्ताधारा की एक समृद्ध विरासत बनने की पूर्ण क्षमता रखती है।

भारतीय समाजेतिहास के संदर्भ में विचार करें तो हमें स्पष्ट रूप से यह दिखायी देगा कि समाजार्थिक विकास के ऐसे विशिष्ट मोड़ों पर और लोक-चेतना के दबाव से जहाँ एक ओर संस्कृतेतर पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि लोक भाषाएँ अपने साहित्यिक अस्तित्व में आयीं, वहीं आगे चलकर तमाम सारी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के साथ ही दक्षिण भारत की आधुनिक भाषाओं का विकास संभव हुआ। यदि हम आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्भव और विकास पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट रूप से देखेंगे कि आधुनिक तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम आदि दक्षिण भारत से लेकर महाराष्ट्र, गुजरात, उड़ीसा, बंगाल और सम्पूर्ण उत्तर भारत में भाषिक विकास की यह घटना लगभग एक ही ऐतिहासिक युग में घटित हुई। इसे केवल एक संयोग मात्र नहीं माना जा सकता। ग्याहरवीं-बारहवीं शताब्दी के बाद इस समूचे देश में धार्मिक जनवाद का एक ऐसा तेज तूफान उठा था, जिसने इस भाषिक विकास को संभव बनाया। बदले में इस भाषिक विकास ने भक्ति आन्दोलन को अपूर्व शक्ति प्रदान की।

अपने आरंभिक दौर में भारत की तमाम आधुनिक भाषाओं के साहित्य की वैचारिक चेतना और विषय-वस्तु लगभग समान रही है। इस संदर्भ में यह भी बहुत स्पष्ट है कि इस नये साहित्य, जिसे हम भक्ति -साहित्य की संज्ञा देते हैं, के उद्भव के मूल में लोक-चेतना का दबाव और शोषित-उत्पीड़ित लोक-जीवन की आशाओं-आकांक्षाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । इन पिछड़े हुए तथा निम्न जातीय तत्वों द्वारा ही इसका सूत्रपात भी हुआ है। लेकिन उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन के उद्भव को लेकर हिन्दी-साहित्येतिहास के क्षेत्र में जो धारणाएँ बनी है, उन पर व्यापक विचार-विमर्श के साथ पर्याप्त संशोधन की आवश्यकता है।

इस संबंध में सर्वप्रथम जार्ज ग्रियर्सन ने अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है "हम अपने को एक ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है, जिन्हे भारतवर्ष ने कभी देखा था ।.....इस युग में धर्म

ज्ञान का नहीं, बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। यहाँ से हम साधना और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं, जो काशी के दिग्गज पंडितों की जाति का नहीं है, बल्कि जिसकी एकता मध्य युग के यूरोपियन भक्त बर्नर्ड ऑफ क्लेअरवक्स, टामस-ए-केम्पिस और सेण्ट थेरिसा से है। .... बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अंधकार के ऊपर एक नयी बात दिखायी दी। कोई हिन्दू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का कारण निश्चय नहीं कर सकता।'' ग्रियर्सन का अनुमान है कि ईस्वी सन की दूसरी-तीसरी शताब्दी में नेस्टोरियन ईसाई मद्रास प्रेसिडेंसी के कुछ हिस्सों में आ बसे थे। रामानुजाचार्य को इन्हीं ईसाई भक्तों से भावावेश और प्रेमोल्लास की धार्मिक भावना का परिचय मिला था, जो उत्तर भारत में प्रचारित-प्रसारित हुआ। इसी आधार पर उन्होंने सिद्ध किया कि उत्तर भारत का भक्ति आन्दोलन ईसाईयत की देन है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस मान्यता का प्रतिवाद किया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति आन्दोलन के उद्भव का मुख्य कारण हिन्दुओं पर मुसलमानों के अत्याचार को माना। उन्होंने काफी विस्तार के साथ यह सिद्ध किया कि हारी हुई हिन्दू जाति की असहाय चित्त की प्रतिक्रिया के रूप में भक्ति आन्दोलन अस्तित्व में आया। आगे चलकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त दोनों मान्यताओं का विस्तार पूर्वक खण्डन किया। उन्होंने बताया कि भक्ति आन्दोलन न तो अचानक बिजली की चमक की तरह फैला और न ही वह ईसाई मत की देन था। "इसके लिए सैकड़ों वर्ष से मेघ-खण्ड एकत्र हो रहे थे फिर भी ऊपर-ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि उसका प्रादुर्भाव एकाएक हो गया। इसका कारण उस काल की लोक-प्रवृत्ति का ठोस शास्त्रसिद्ध आचार्यों और पौराणिक ठोस कल्पनाओं से युक्त हो जाना था। शास्त्रसिद्ध आचार्य दक्षिण के वैष्णव थे।'' (हिंदी साहित्य, पृ. 63) इसके साथ ही द्विवेदी जी ने बतलाया है कि भक्ति आन्दोलन हारी हुई हिन्दू जाति के असहाय चित्त की प्रतिक्रिया या मुसलमान शासकों के अत्याचार से उत्पन्न निराशा का भी परिणाम नहीं था। "मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में''। इस प्रकार आचार्य द्विवेदी ने उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन की कुछ भ्रांतियों का निराकरण अवश्य किया है, लेकिन तत्कालीन सामाजिक अन्तर्विरोधों के परिप्रेक्ष्य में उसके मूल चरित्र को वे भी स्पष्टता के साथ रेखांकित नहीं कर सके हैं। अत: इस पर गहराई से विचार करने की जरूरत है।

आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी ने उत्तर भारत की भक्ति-आन्दोलन के उद्भव के लिए अपने-अपने ढंग से, दक्षिण के आलवार भक्तों की भूमिका को स्वीकार किया है। शांकर अद्वैत द्वारा भक्ति की धारा में अवरोध की स्थिति में दक्षिण के आचार्यों ने ही शंकाराचार्य के मायावाद के विरोध में वैष्णव भक्ति को एक दार्शनिक आधार दिया - इसे भी दोनों आचार्यों ने स्वीकार किया है। दोनों ही आलोचक इस बात पर भी सहमत हैं कि उत्तर भारत में प्रवर्तित भक्ति का दार्शनिक आधार दक्षिण के वैष्णव आचार्यों का चिन्तन है। लेकिन आचार्य शुक्ल ने उत्तर भारत में इसके आन्दोलनकारी स्वरूप के लिए सारा श्रेय तत्कालीन मुसलमान शासकों द्वारा हिन्दुओं पर किए जा रहे अत्याचार को दिया है। इसके विपरीत आचार्य द्विवेदी ने आलवारों की वैष्णव भक्ति का स्वाभाविक विकास मानते हुए उसे प्रस्थानत्रयी (गीता, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र) तथा परवर्ती पौराणिक मान्यताओं के साथ सम्बन्ध किया है। लेकिन वास्तविकता यह है कि कबीर आदि निर्गुण संतों और प्रेमोल्लास में लीन सूफी संतों के द्वारा उत्तर भारत में जिस भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, उसमें हिन्दू-मुस्लिम सामंतवादी तत्वों के विरुद्ध निम्न-वर्गीय साधारण हिन्दू-मुस्लिम आम जनता का विक्षोभ व्यक्त हुआ है। उन्होंने समान रूप से हिन्दू और इस्लाम धर्म की कट्टरता, शास्त्रबद्धता और पुरोहिती कर्मकाण्ड का विरोध किया है तथा जातीय एकता पर बल दिया है।

यह सही है कि दक्षिण के सभी वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थान त्रयी की नयी और उदार व्याख्याएँ की जिसमें जाति-पांति और छुआ-छूत के निराकरण का भी समुचित विद्यमान था। शंकराचार्य ने इस प्रस्थान त्रयी की व्याख्या द्वारा पूर्णद्वित की स्थापना के साथ ब्रह्म को भावावेश पर आधारित भक्ति भावना के क्षेत्र से निकाल कर निर्गुण-निराकार के रूप में केवल ज्ञान का विषय बनाया था। पूर्णद्वित की यह मान्यता सामाजिक क्षेत्र में सामंती हितों के विरूद्ध जा सकती थी। इस खतरे के प्रति सावधान होकर शंकराचार्य ने 'ब्रह्म सूत्र' के आधार पर वर्ण-व्यवस्था के औचित्य का भी प्रतिपादन किया। इस तथ्य को रेखांकित करते हुए के दामोदरन ने लिखा है कि अपने मत को न्यायसंगत ठहराते हुए शंकराचार्य ने वादरायण के ब्रह्मसूत्र (1.3. 34.8) का सहारा लेते हुए स्पष्ट शब्दों में यह प्रतिपादित किया : " इन बातों के बारे में हम "गौतम धर्मशास्त्र' में स्पष्ट निर्देश देखते हैं। 'जो शूद्र वेदों को सुने उसके कानों में पिघला हुआ शीशा और लाख भर दिया जाना चाहिए।' 'केवल द्विज को ही यज्ञ-पाठ करने और दान देने व लेने का अधिकार है।' 'शूद्र को ज्ञान नहीं दिया जाना चाहिए।' (भारतीय चिंतन परंपरा, पृ. 270)। शंकराचार्य (आठवीं शती का अंतिम भाग) की यह मान्यता आलवार भक्तों की सामाजिक समानता की भावना के विपरीत ही नहींए वरन् असामाजिकता की सीमा का भी अतिक्रमण कर रही थी। उनके

आध्यात्म-दर्शन के साथ ही उसके सामाजिक निहितार्थों का विरोध दक्षिण के वैष्णव आचार्यों ने अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से किया। इनमें रामानुजाचार्य (ग्यारहवीं शती का मध्य) और गुजरात के मध्वाचार्य (तिरहवीं शती का आरंभ) का महत्वपूर्ण स्थान है।

आलवार वैष्णव भक्तों का गहरा प्रभाव रामानुजाचार्य पर बचपन से ही था। उन्होंने वेदों, उपनिषदों के साथ ही सभी धार्मिक-दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन किया। उनकी सबसे महत्वपूर्ण कृति ब्रह्मसूत्र का भाष्य है, जो 'श्रीभाष्य' के नाम से जानी जाती है। 'भगवद्गीता भाष्य', वेदांत्तदीप', 'वेदांतसार' आदि उनकी अन्य रचनाएँ है। इन रचनाओं के माध्यम से उन्होंने अपनी दाकच्छिक प्रणाली को प्रस्तुत किया, जो विशिष्ट द्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। शंकराचार्य के विरुद्ध उनकी मुख्य स्थापना थी कि ब्रह्म, जीवात्मा और भौतिक जगत् यथार्थ हैं और एक दूसरे से भिन्न हैं। वे जीवात्मा की परमात्मा से एकाकारता को स्वीकार करते हुए भी जीवात्मा के अलग अस्तित्व को मानते थे। जीवात्मा परमात्मा का ही एक अंश है, जो सम्पूर्ण (ब्रह्म) के बराबर नहीं है, वरन् उसके आधीन है। शंकराचार्य की वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध रामानुजाचार्य ने भक्ति के क्षेत्र में सबकी समानता को स्वीकार किया और अछूत जाति के एक भक्त तिरुपन आलवार द्वारा रचित 'तिरूवैमोली' को वैष्णवों का वेद बताया। बावजूद इसके रामानुजाचार्य को भी अपने सिद्धांतों का विकास सामंतवाद की परिधि में रहकर ही करना पड़ा। वैष्णव समाज को विभाजित करने वाले जाति-पांत के बंधनों को सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र में चुनौती दे पाना उनके लिए भी कठिन हो रहा था। इसके लिए विवश होकर उन्होंने मध्यमार्ग का अनुगमन करते हुए यह निर्देश दिया कि सभी भक्त भजन कीर्तन तो एक साथ करेंगे लेकिन भोजन अपनी जाति के अनुसार अलग-अलग पंक्ति में बैठकर करेंगे। इस मान्यता को दक्षिणवाद या 'तेनकलाई' के नाम से जाना जाता है। इस परम्परा के परवर्ती भक्तों ने इसे सामाजिक क्षेत्र में भी पर्याप्त शिथिल किया। इस दृष्टि से रामानन्द का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

इससे स्पष्ट है कि रामानुजाचार्य भी सामाजिक क्षेत्र की जातीय विषमता का निराकरण करने में असमर्थ रहे। इनके परिवर्ती गुजरात के वैष्णव आचार्य मध्व (तिरहवीं शती के आरम्भ) ने शंकराचार्य ने पूर्णद्वैत के साथ ही रामानुजाचार्य के विशिष्ट द्वैत मत के विरोध में अपने द्वैत मत की स्थापना की। इन्होंने ब्रह्म, जीवात्मा और जगत्-तीनों को शाश्वत् यथार्थ के रूप में स्वीकार किया और तीनों का अपना अलग-अलग और एक दूसरे से स्वतंत्र अस्तित्व माना। ब्रह्म सूत्र और भगवद्गीता पर लिखे गऐ उनके भाष्य अध्यात्म-दर्शन के क्षेत्र में इतने क्रांतिकारी सिद्ध हुए कि परम्परानिष्ठ-पुराणपंथी पंडितों के समुदाय में खलबली मच गयी।

'मध्व मुख-मर्दन' आदि जैसे कई ग्रंथों द्वारा उनका विरोध भी किया गया। सामाजिक क्षेत्र में भी उनके विचार रामानुजाचार्य से अधिक क्रांतिकारी थे। उन्होंने शंकराचार्य द्वारा जाति - प्रथा और अन्यान्य सामाजिक असमानताओं के औचित्य-स्थापन का खुलकर विरोध किया। अपने शिष्यों को उनका स्पष्ट निर्देश था कि वे जाति और सम्पद्राय-भेद पर आधारित सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास करें। उनका स्पष्ट मत था कि ब्राह्मणों तथा उच्च जातियों की भांति ही शूद्रों को भी वेदों के अध्ययन का अधिकार होना चाहिए और अछूतों को भी विष्णु-भक्ति से रोका नहीं जाना चाहिए। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में भी जातीय भेद-भाव का समावेश नहीं था। वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित अष्टछाप के आठ कवियों में से कृष्णदास, कुंभनदास और चतुर्भुजदास शूद्र जाति के थे। मुसलमान कृष्ण-भक्त रसखान को भी वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ का अत्यन्त प्रिय शिष्य बताया जाता है।

रामानुजाचार्य की शिष्य परंपरा में आनेवाले रामानन्द (चौदहवीं शती का आरंभ) का उत्तर भारत के भक्ति आन्दोलन में विशिष्ट योगदान रहा है। उन्होंने देश के विभिन्न भागों का भ्रमण किया और भक्ति तथा धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मणों के एकाधिकार और जाति-प्रथा से उत्पन्न छुआ-छूत की भावना का जोरदार खण्डन किया। उनके बारह शिष्यों की परम्परा में आने वाले कबीर जुलाहा, रैदास हरिजन, धर्मदास अछूत जाट किसन और सेना नाई जाति के थे। उत्तर भारत की निर्गुण भक्ति और महाराष्ट्र की सगुण भक्ति का नेतृत्व करने वाले अधिकांश भक्तों का सम्बन्ध नीची जातियों से था। सधना (कसाई), धना (जाट), दादू (धुनियाँ), मराठी संत नामदेव (दर्जी) और तुकाराम (नीची जाति के व्यापारी), नानक देव (मामूली व्यापारी) पीपा आदि सभी भक्त नीची श्रेणियों से ही आए थे। यह सही है कि उत्तर भारत में एक भक्ति के पुरस्कर्ता रामानन्द और कृष्ण-भक्ति के प्रमुख पुरस्कर्ता वल्लभाचार्य से लेकर मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्क आदि ब्राह्मण कुल से सम्बन्ध रखने वाले थे। लेकिन ये सभी अपनी जाति की सुविधाओं और उच्च वर्ग के दृष्टिकोण को त्याग कर ही भक्ति, आन्दोलन में सम्मिलित हुए तथा उसका नेतृत्व किया। इन सभी ने धार्मिक कर्मकाण्डों, बाह्यचारों और ब्राह्मण पुरोहितों के वर्चस्व के साथ ही जातीय भेदभाव को भी अस्वीकार किया है।

मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन की उद्देश्य सम्बन्धी एकता पर प्रकाश डालते हुए के. दामोदरन ने लिखा है : " भक्ति- आन्दोलन उस समय आरम्भ हुआ था, जब हिन्दू और मुसलमान पुरोहितों और उनके द्वारा समर्थित और समूह किए गए निहित स्वार्थों के खिलाफ संघर्ष एक ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया थां जनता को, जो अब तक क्षेत्रीय निष्ठाओं से

आबद्ध थी और युगों पुराने अंधविश्वासों और दमन-शोषण के बावजूद हतोत्साह नहीं हुई थी, जगाया जाना और अपने हितों तथा आत्म-सम्मान की भावना के लिए उसे एक किया जाना आवश्यक था। स्थानीय बोलियों और क्षेत्रीय भाषाओं को एकता स्थापित करने वाली राष्ट्र भाषाओं के स्तर पर उठाना था। भक्ति-आन्दोलन के नेताओं को ये ही कुछ काम करने थे।'' (भारतीय चिंतन-परम्परा, पृ. 328)। भक्ति आन्दोलन के अधिकांश नेताओं ने अपनी युगीन सीमाओं में बंधते और कभी-कभी उसे तोड़ते हुए यथा-शक्ति इस कार्य को सम्पन्न किया।

बंगाल में चण्डीदास से लेकर चैतन्य (1485-1533ई.) ने मनुष्य मात्र की समानता पर जोर देते हुए वैष्णव-भक्ति-भावना को दृढ़ किया। चण्डीदास ने भक्ति के मंच से मनुष्य सत्य की सर्वोच्चता की इस प्रकार घोषणा की :

"शुनह मानुष भाई,
शबार उपरे मानुष शत्तो
ताहार उपरे नाई।''

हिन्दू तथा मुसलमानों की निम्नतम श्रेणियों से सम्बद्ध लोग चैतन्य के शिष्य बने। रुज, सनातन, हरिदास आदि मुसलमान थे, जो चैतन्य के प्रधान शिष्यों में गिने जाते हैं। जाति पर आधरित धार्मिक प्रणालियों को त्यागकर कृष्ण की शरण में जाने का उन्होंने संदेश दिया। संत ज्ञानेश्वर, नामदेव (तिरहवीं-चौदहवीं शती), तुकाराम और रामदास (सत्रहवीं शती) ने महाराष्ट्र में जातीय एवं साम्प्रदायिक एकता को दृढ़ किया। महाराष्ट्र में भक्ति आन्दोलन के आरंभिक दौर में उसके पुरस्कर्ता संतों का विरोध भी हुआ, जिसका उल्लेख करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है :'' निचली जातियों की आत्म-प्रत्थापना के उस युग में, कट्टर पुराण पंथियों ने जो-जो तकलीफें इन संतों को दी हैं, उनसे ज्ञानेश्वर जैसे प्रचंड प्रतिभावान संत का जीवन, अत्यंत करुण, कष्टमय और भयंकर दृढ़ हो गया। उनका प्रसिद्ध ग्रंथ ज्ञानेश्वर (गीता का मराठी रूपांतर) तीन सौ वर्षों तक छिपा रहा।'' (रचनावली-5, पृ. 292)। लेकिन भक्ति-आन्दोलन के गृढ़ हो जाने पर ऐसा संभव नहीं रह गया। संत तुकाराम और समर्थ गुरु रामदास तक आते-आते यह महाराष्ट्रीय जनजीवन की एक शक्ति बन गया और शिवाजी के माध्यम से राजनीतिक रूप से महाराष्ट्र का जन्म हुआ। बंगाल की भाँति ही महाराष्ट्र में भी भक्ति आन्दोलन के अन्तर्गत निर्गुण और सगुण का विवाद नहीं था। संत ज्ञानेश्वर से लेकर तुकाराम तक वहाँ निम्न जातीय जनता में सगुण कृष्ण भक्ति का निर्बाध प्रसार हुआ। इसके साथ ही वहाँ

बंगाल और उत्तर भारत की भाँति शृंगार-कृष्ण-भक्ति भी नहीं थी और न ही भ्रमरगीत परंपरा अपने लिए स्थान बना पायीं।

उत्तर भारतीय आन्दोलन का मूल चरित्र भारत के अन्य क्षेत्रों से भिन्न है। यहाँ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह मत विचारणीय है: "स्पष्ट है कि आलवारों का भक्तिवाद भी जन साधारण की वस्तु था, जो शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारत वर्ष में फैल गया। भक्तों के अनुभूतिगम्य सहज सत्य को बाद के आचार्यों ने दर्शन का क्रम-बद्ध और सुनिश्चित रूप दिया। यही बात उत्तर भारत के विषय में भी सत्य है। यहाँ भी साधारण जनता के भीतर जो धर्म-भावना वर्तमान थी, उसने शास्त्र की अंगुली पकड़कर अपने शक्तिशाली रूप में प्रकट किया। इन प्रदेशों में पौराणिक धर्म का प्रचार पहले से ही था।. .... भक्ति के लिए जो बात नितान्त आवश्यक है, वह है भगवान के ऐसे रूप की कल्पना, जिसके साथ व्यक्तिगत संबंध स्थापित किया जा सके।" (हिन्दी साहित्य, पृ. 63)। यहाँ भगवान के ऐसे रूप से द्विवेदी जी का स्पष्ट अभिप्राय है, भगवान का अवतारी रूप-विशेषत: एक और कृष्ण का अवतारी रूप। अत: यह मत उत्तर भारत की वैष्णव भक्ति तक ही सीमित है, जिसका सम्बन्ध आलवारों के साथ ही 'प्रस्थानत्रयी' और उसके विशिष्ट भाष्यकर्ताओं - रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ आदि आचार्यों के साथ जोड़ा जाता है। उत्तर भारतीय निर्गुण भक्ति-आन्दोलन को प्रस्थान त्रयी या उसके विशिष्ट भाष्यकर्ताओं की सगुण वैष्णव-भक्ति के साथ एकमेक करके नहीं देखा जा सकता। सगुण राम भक्ति के प्रचारक रामानन्द एक सीमा तक ही इसके प्रेरक हैं। यदि परम्परा के साथ इसे जोड़ना ही हो तो संत ज्ञानेश्वर, नामदेव और सबसे अधिक इसे सिद्धों और नाथों की परम्परा से जोड़ा जा सकता है। भक्ति के उद्‌भव और विकास के संबंध में हिन्दी की यह उक्ति यहाँ विचारणीय है :

भक्ती द्राबिड उपजी लाए रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्तदीप नौ खंड।।

संस्कृत की पुरानी उक्ति (उत्पन्ना द्राबिडे.....) पर आधारित उसका संशोधित रूप होने के बावजूद यह उक्ति उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन में निहित एक वास्तविक तथ्य को उद्‌घाटित करती है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्त होने वाले भक्ति के आन्दोलनकारी स्वरूप को ध्यान में रखकर देखें तो उसका निर्गुण रूप कबीर, दादू, नानक आदि की बानियों में पहले प्रकट हुआ है। कबीर और उनके द्वारा प्रवर्तित निर्गुण पंथ ने आरंभ से ही सगुणोपासना और उसके अवतारवादी स्वरूप का तीखा विरोध किया है। जहाँ तक गहन लगाव और व्यक्तिगत संबंध-स्थापन के लिए वैष्णव अवतारवाद की

परिकल्पना की अनिवार्यता का प्रश्न है, निर्गुणोपासक संतों ने इसके बिना भी निराकार ब्रह्म के साथ प्रेमी-प्रेमिका, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, स्वामी-सेवक सभी प्रकार के अत्यंत रागात्मक संबंध स्थापित किए हैं। इन संतों ने, चाहे वे सूफी ही क्यों न हों, शास्त्र की उँगली पकड़कर नहीं, उससे पीछा छुड़ा कर और अधिकाशत: उसके विरोध में भक्ति के मार्ग पर अग्रसर हुए हैं। इन सभी में हमें हिन्दू इस्लाम धर्मों की साम्प्रदायिक और शास्त्रीय कट्टरता का सर्वत्र विरोध दिखायी देता है।

कबीरादि निर्गुण संतों ने जहाँ रामानन्द के प्रति गुरुवत् आदर व्यक्त किया है, वहीं संत ज्ञानेश्वर और नामदेव के प्रति अपना पूरा सम्मान भी व्यक्त किया है। इन सभी में निर्गुण भक्ति के लिए पूरा अवकाश भी मिलता है। कबीर पर रामानन्द के सामाजिक विचारों का गहरा प्रभाव था। स्वाधीन चेता रामानन्द अपने गुरु राघवानन्द के उत्तराधिकारी थे। लेकिन उनकी अतिशय अनुशासन प्रियता और मर्यादा-दृष्टि से असंतुष्ट होकर रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय ही नहीं, उसकी गद्दी के उत्तराधिकार का परित्याग कर पुन: उत्तर भारत की ओर चल पड़े थे। अपने इस उन्मुक्त स्वभाव के कारण ही उनकी शिष्य परम्परा में निर्गुण और सगुण दोनों ही प्रकार के शिष्यों को स्थान मिला। आचार्य क्षितिमोहन सेन कृत 'भारतीय मध्ययुगेर साधना' नामक पुस्तक का हवाला देते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है: "रामानन्द ने देखा कि भगवान के शरणागत् होकर जो भक्ति के पथ में आ गया उसके लिए वर्णाश्रम का बंधन व्यर्थ है, इसीलिए भगवद्भक्त को खान-पान की झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। यदि ऋषियों के नाम पर गोत्र और परिवार बन सकते हैं तो ऋषियों के भी पूजित परमेश्वर के नाम पर सबका परिचय क्यों नहीं दिया जा सकता? इस प्रकार सभी भाई-भाई हैं, सभी एक जाति के हैं। श्रेष्ठता भक्ति से होती है, जन्म में नहीं।" -(हिन्दी साहित्य पृ. 75) उपर्युक्त मान्यता का उल्लेख रामानुज हरिवरदास रचित 'भक्त माल' की टीका में हुआ है। रामानन्द का यह संदेश ही कबीर की सामाजिक विचारधारा का स्रोत है, जिसे उन्होंने अपने जीवानुभवों से और अधिक पुष्ट किया है।

उपर्युक्त तथ्यों से इसी बात की पुष्टि होती है कि द्राबिड़ देश में उत्पन्न भक्ति को रामानन्द उत्तर भारत में लाए और कबीर ने उसे सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रकट किया। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि दक्षिण की आलवार भक्ति की विरासत के वास्तविक उत्तराधिकारी कबीरादि हैं, न कि अवतारवादी वैष्णव भक्त। यहाँ मैं इस तथ्य को विशेष रूप से रेखांकित करना चाहता हूँ कि एक विशेष युग के जिन आर्थिक-सामाजिक दबावों के तहत् और सामंती शोषण की परिस्थितियों में दक्षिण की आलवार भक्ति का उदय हुआ

था, तेरहवीं शताब्दी के बाद की उत्तर भारतीय परिस्थितियाँ उगसे पर्याप्त भिन्न थी। उत्तर भारत का यह भक्ति आन्दोलन हिन्दू-मुस्लिम सामंती शोषण और उसके कर्मकाण्डों पुरोहितवाद के विरुद्ध हुआ था, जो आलवार भक्तों की तरह ही पूर्णत: शास्त्र-निरपेक्ष था। दक्षिण की आलवार भक्ति के मूल चरित्र को उद्घाटित करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है। "भक्ति आन्दोलन दक्षिण भारत से आया। समाज की धर्मशास्त्रवादी, वेद-उपनिषद्वादी शक्तियों ने उसे प्रस्तुत नहीं किया, वरन् आलवार संतों ने और उनके प्रभाव में रहने वाले जनसाधारण ने उसका प्रसार किया।" (रचनावली-5, पृ. 293)। यही बात महाराष्ट्र की सगुण और उत्तर भारत की निर्गुण भक्ति आन्दोलन के विषय में भी सत्य है। निर्गुण भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक कबीर के प्राचीनतम मूल्यांकनकर्ता और गोस्वामी तुलसीदास के लगभग समकालीन भक्त नाभादास ने अपने 'भक्तिमाल' शीर्षक भक्तों के परिचय ग्रंथ में लिखा है :

भक्ति विमुख जो धरम, ताहि अधरम करि गायो।
जोग जग्य व्रतदान भजन बिनु तुच्छ दिखायो।।
हिन्दू-तुरुक प्रमान रमैनी सब दी साखी।
पच्छपात नहिं बचन सबहि के हित की भाखी।
आरूढ़ दसा होई जगत पर मुख देखी नाहिन कही।
कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षटदर्शनी।।

यह कबीरदास का समग्र मूल्यांकन है। शास्त्र-निरपेक्ष, अन्यान्य धार्मिक कर्मकाण्डों से विरहित, हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए मान्य और वर्णाश्रम की मर्यादा को अस्वीकार करने वाली इस भक्ति अभियान में कबीर अकेले नहीं थे। उनके साथ रैदास, दादू, धर्मदास, सेना, पीपा, नानक, सधना, दरिया आदि अनेक निर्गुण संत थे। इन अधिकांश संत कवियों ने एक सद्गृहस्थ की तरह अपना जीवन-यापन किया था। वे बुनकर, मोची, नाई, धुनियाँ, किसानी, दर्जी आदि के पेशेवर व्यवसाय से पूरी तरह जुड़े हुए थे । निर्गुण भक्ति का यही वास्तविक जनाधार था, जिसमें शोषित-उत्पीड़ित हिन्दू एवं मुसलमान-दोनों ही संप्रदायों के निम्नवर्गीय और निम्नजातीय लोग सम्मिलित थे ; यही बात सूफी संतों के विषय में भी कही जा सकती है।

तत्कालीन इस्लामी कट्टरता के विरुद्ध मुसलमान सूफी-संतों ने एक महत्वपूर्ण सामाजिक भूमिका का निर्वाह किया था । इन्होंने खण्डन-मंडन की पद्धति का परित्याग कर प्रेम और भाई-चारे का संदेश दिया। भारत की लोक-संस्कृति और किसानी जीवन के साथ इनका गहरा संबंध था। इन सूफी संतों के साथ ही मुसलमानों का मेहदी आन्दोलन, रोशनिया सम्प्रदाय

आदि मुस्लिम सामंतों और उनके समर्थक कट्टरपंथी काज़ी-मुल्लाओं के विरोध की भावना से प्रेरित था। इनके महत्व पर प्रकाश डालते हुए के. दामोदरन ने लिखा है: "इस्लाम के इन विधर्मी पंथों की शिक्षाओं ने मध्ययुग के उत्तरार्ध में सामाजिक विचार-प्रणाली के समूचे विकास पर गहरा प्रभाव डाला। इनमें से अधिकांश पंथ दिल्ली सल्तनत के शासनकाल में प्रकट हुए थे।..... इस्लाम के इन विधर्मी पंथों का संघर्ष न तो हिन्दू धर्म के खिलाफ था और न एक समुदाय क़े रूप में हिन्दुओं के खिलाफ। सच्चाई तो यह है कि इन पंथों के अनुयायियों ने उन अनेक हिन्दू सुधारकों के साथ नाता जोड़ा, जो एक श्रेष्ठतर सामाजिक व्यवस्था के लिए संघर्ष कर रहे थे।" (भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. 325)। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर मैं केवल इस ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि भक्ति आन्दोलन में कहीं भी हिन्दू-मुस्लिम विरोध नहीं दिखायी देता, चाहें वह सगुण कृष्ण भक्ति ही क्यों न हो। अत: इसे हमारी जनवादी चिन्ताधारा की एक महान विरासत के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा।

उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन के संदर्भ में एक अन्य वास्तविकता पर भी विचार करना अपेक्षित है। कबीरादि ज्ञानाश्रयी निर्गुण संतों के साथ ही मुसलमान सूफ़ी संतों तथा मेहदी, रोशनियाँ आदि सम्प्रदायों की सामाजिक चेतना निम्नवर्गीय उत्पीड़ित हिन्दू-मुस्लिम समुदायों की आशा-आकांक्षा के साथ जुड़ी हुई थी। इस दृष्टि से इसे कबीर-युगीन समाज की एक वर्गीय चेतना माना जा सकता है, जो उत्पादक वर्ग से जुड़ी हुई थी। अधिकांश निर्गुण संत अपने जातीय पेशे का निर्वाह करते हुए भक्ति-आन्दोलन में सम्मिलित हुए थे। इसके विपरीत मुट्ठी भर राजों-महाराजों और उनके निजी क्रिया-कलापों से जुड़ा हुआ कुछ थोड़े से सम्पन्न और कुलीनों का वर्ग था, जो वास्तविक उत्पादन-कार्य से पूरी तरह कटकर केवल उपभोक्ता मात्र रह गया था। उत्तर भारत के अधिकांश सगुणोपासक इसी वर्ग से सम्बद्ध थे और प्राय: गृहस्थ जीवन का परित्याग कर उपासना के क्षेत्र में आए थे। अत: उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना उत्पादक वर्ग से प्राय: विच्छिन्न थी। यह सही है कि सगुणोपासना के क्षेत्र में आए विभिन्न शास्त्रनिष्ठ आचार्यों और उनके सम्प्रदायों ने निम्नवर्गीय समुदाय की आशा-आकांक्षा को भी बहुमान अवश्य दिया। भक्ति एवं उपासना के क्षेत्र में उनकी समानता की भावना का समावेश भी हुआ, लेकिन सामाजिक क्षेत्र में उनके अनुरोध उपेक्षित रहे, अधिक से अधिक नैतिक आग्रह बन कर रह गए। वास्तविकता यह है कि अपने वर्गीय आधार के कारण सगुण और निर्गुण मतावलम्बियों की शोषित एवं उत्पीड़ित आम जनता की मुक्ति से संबंधित धारणाएँ और उद्धार उपायों में पर्याप्त भिन्नता थी, जो कालान्तर में उग्र विरोध के रूप में भी प्रकट हुई।

उपेक्षित-उत्पीड़ित जनता की मुक्ति के लिए कबीरादि निर्गुण सन्तों ने सुलह-समझौतों से रहित एक संघर्षधर्मी सुधार का मार्ग अपनाया था। वर्ण, आश्रम एवं तमाम सारी शास्त्र-सम्मत मर्यादाओं की खुले आम निन्दा करते हुए निर्गुणोपासक संतों के हिन्दू और मुसलमान-दोनों के उत्पीड़ित तबके के लिए भक्ति का एक समान वर्ग प्रस्तुत किया। यह मार्ग था निर्गुण-निराकार की उपासना। तत्कालीन परिवर्तित धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियों में एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्तर भारत की यह एक ऐतिहासिक अनिवार्यता थी। यह उद्देश्य शास्त्रनिष्ठ सगुण वैष्णव भक्ति के द्वारा पूरा नहीं हो सकता था। कबीर ने निर्गुण निराकार की उपासना के माध्यम से दीन-हीन और असहाय समझी जाने वाली जातियों के लिए भक्ति का द्वार खोल दिया। निर्गुण भक्ति आन्दोलन द्वारा निम्नजातीय धार्मिक जनवाद की घोषणा अपने समय का एक ऐसा क्रांतिकारी संदेश था, जो उपेक्षित जनता की आध्यात्मिक मुक्ति से लेकर उसकी सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक मुक्ति से भी जुड़ गया था। इसलिए इसे हम अपनी जनवादी चिन्ताधारा की एक अमूल्य विरासत के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। कबीर ने अपनी निर्भ्रान्त वाणी में काजी मुल्ला और पण्डित-पुरोहितों की इस प्रकार निन्दा की है :

क्या उजूँ जप संजम कीएँ क्या मसीति सिरु नाएँ।
दिल महि कपट निवाज गुजारै क्या हज काबै जाएँ।।
बाह्मन ग्यारसि करै चौबीसो काजी मांह रमजानां।।
ग्यारह मास कहौ क्यू खाली एकहि माह नियाना।।
जौ रे खुदाई मसीति बसतु है और मुलुक किस केरा।
तीरथि मूरति राम निवासी दुहु महिं किनहु न हेरा।।
पूरब दिसा हरिहि का बासा पच्छिम अलह मुकामा।
दिल महि खोज दिलै दिल खोजहु इहइं रहीमा-रामा।।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीरदास की इस तरह की उक्तियों के साथ ही मंदिर-मस्जिद, वेद-पुराण, कतेब-कुरान आदि की निन्दा करनेवाली उक्तियों को चिढ़ानेवाली और भेद-भाव की खामी को और गहरा करने वाली माना है। यह सही है कि इससे हिन्दू-मुसलमानों के सामंती-कुलीन तबकों और उनकी उच्चता को कायम रखने वाले पुरोहित वर्ग में खीझ और आक्रोश पैदा हुआ। उच्च हिन्दू-मुस्लिम वर्ग और निम्न हिन्दू-मुस्लिम वर्ग के बीच खाई भी बढ़ी। लेकिन यह सत्य है कि इससे निम्नवर्गीय हिन्दू-मुस्लिम एकता में वृद्धि हुई और उनकी चेतना पर छाए हुए धार्मिक-सामाजिक आडम्बर और झूठ के पर्दे का अनावरण भी हुआ। कबीर और उनके निर्गुण पंथ का यही उद्देश्य था, जो आज के संदर्भ

में भक्ति आन्दोलन की एक अत्यंत क्रांतिकारी विरासत है। राम और रहीम की एकता केवल हिन्दू-मुसलमानों की एकता नहीं थी। इसमें भाव मात्र की एकता, धार्मिक-सामाजिक दृष्टि से सबकी समानता का भाव निहित था। यह भावधारा साधारण जनता में फैली। निम्न जातियों में आत्मविश्वास और आत्म-गौरव के भाव का उदय हुआ। हमें पहली बार दिखायी देता है कि इतनी बड़ी संख्या में शूद्र और उपेक्षित समझी जाने वाली उत्पीड़ित जातियों के संत-महात्मा, कवि-कलाकार और चिन्तक सामने आते हैं। वे सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर अपनी बराबरी का दावा प्रस्तुत करते हैं। कुलीनतावादी संभ्रांत समाज इस दावे को स्वीकार करने के लिए विवश हो जाता है। समाज की उच्च वंशीय शासक-शोषक सत्ता को यह सब गंवारा नहीं था। लेकिन जब निर्गुण भक्ति के बाद सगुण भक्ति आन्दोलन भी सामने आया तो उस तबके को एक सहारा मिला। यद्यपि कृष्ण भक्ति केवल सगुण-निर्गुण के उपासना संबधी विवाद तक ही सीमित रही, लेकिन आगे चलकर सगुण रामभक्ति के माध्यम से उच्चवंशीय शासक-शोषक सत्ता का अपना मनोवांछित उद्देश्य पूरा हुआ। इस दृष्टि से देखा जाए तो कुलीन हिन्दू-मुस्लिम तबके में एक प्रकार से आपसी सहमति थी। मुगलकाल में तुलसी की कुलीनतावादी वर्ण व्यवस्था के समर्थन के साथ इसलाम धर्म के कट्टर-पंथियों ने भी सामाजिक क्षेत्र में कुलीनतावाद की स्थापना पर काफी जोर दिया था।

श्री के. दामोदरन ने अपनी पुस्तक 'भारतीय चिन्तन-परंपरा' में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि मुगलकाल के बहुत सारे प्रतिष्ठित मुसलमानों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि समाज व्यवस्था में ऊँच-नीच की भावना तो अल्लाह के हुक्म से है, अत: उसे कायम रखा जाना चाहिए। मुहम्मद बाकिर खां की रचना 'सरकार को आदेश' से एक उद्धरण देकर भी दामोदरन ने अपने मत की पुष्टि की है, जो इस प्रकार है: "शासकों को बुरे स्वभाव वाले अयोग्य लोगों को उन लोगों की बराबरी करने की इजाजत नहीं देनी चाहिए, जो पवित्र कुल में जन्में और बुद्धिमान लोग हैं। उन्हें चाहिए कि वे अलग-अलग श्रेणियों को कायम रखना हुकूमत का बुनियादी ऊसूल और रिवाज माने। वजह यह थी कि अगर वर्गों के बीच भेद मिट गए और निचले वर्ग के लोग मझोले वर्ग से बराबरी की हैसियत से और मझोले वर्ग के लोग ऊपरी तबके के लोगों के साथ बराबरी की हैसियत से रहने का दावा करने लगे तो हुकूमत करने वालों की इज्जत धूल में मिल जाएगी और सल्तनत् की नीवें पूरी तरह खत्म हो जाएँगी।'' (भारतीय चिन्तन-परम्परा से उद्धृत, पृ. 306).। अत: मस्ज़िद के अन्दर नमाज़ या इबादत के समय सबकी बराबरी स्वीकार की जाती थी, लेकिन बाहर आकर वे फिर 'शरीफ़' और 'अजलाफ़' सभ्य और असभ्य या ऊँच और नीच में विभक्त हो जाते थे।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था-जन्य जाति-पांत की भावना की कठोरता और तीव्रता की वृद्धि में इस्लामी संपर्क को सहायक माना है। इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है: "यह अद्‌भुत विरोधाभास है कि जाति-पांत के कुफ्र को तोड़ने वाले धर्म-सम्प्रदाय के सम्पर्क में आने के बाद हिन्दुओं की जाति-पांत की प्रथा और भी संकीर्ण और कठोर होती गयी और कसी जाने लगी। इस कसाव का परिणाम यह हुआ कि किनारे पर खड़ी हुई बहुत सी जातियाँ छंट गयीं और बहुत दिनों तक ना-हिन्दू ना-मुसलमान बनी रहीं। बहुत सी पाशुपत मत को मानने वाली और संन्यासी से गृहस्थ बनी जातियाँ धीरे- धीरे मुसलमान होने लगीं। इस प्रकार काशी की जुलाहा जाते नाथ मत को मानने वाली थी, जो निरंतर उपेक्षित रहने के कारण क्रमशः मुसलमान होती गयी। इसी जाति में मध्यकाल के स्वाधीन चेता संत कबीर उत्पन्न हुए थे।" (हिन्दी साहित्य, पृ.69)। इसी प्रकार की जातीय कट्टरता के शिकार राजस्थान के दादू, महाराष्ट्र के नामदेव आदि भी हुए थे। उत्तर भारत में जुलाहा, धुनियाँ, दरजी, मोची, नाई आदि बहुत सी पेशेवर जातियों ने इस्लाम की धार्मिक समानता की भावना से आकृष्ट होकर उसे कबूल किया था। लेकिन आगे चलकर वे जातियाँ और अधिक बदतर स्थिति में डाल दी गयीं। वे हमेशा अछूतों की श्रेणी में ही रहीं। मुसलमानों के आने के पूर्व सिद्धों और नाथों ने इस व्यवस्था की कट्टरता के प्रति विरोध प्रकट करते हुए समूची सामाजिक मर्यादा पर करारी चोट की थी। निम्नवर्गीय जातियों पर इसका प्रभाव भी दिखायी दिया।

वास्तविकता यह है कि संस्कारशील उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के बीच संघर्ष का इतिहास बहुत पुराना है। भारत में यह संघर्ष उच्च एवं निम्न जाति के रूप में प्रकट हुआ है। यह धर्म, संस्कृति और समाज के क्षेत्र में अनेक रूपों में प्रकट होता रहा है। लेकिन भक्ति आन्दोलन ने, विशेष रूप से निर्गुण भक्ति आन्दोलन ने विशाल उपेक्षित जन समुदाय को जितना आन्दोलित किया, अन्य किसी भी आन्दोलन ने नहीं। इसके प्रमाण का उल्लेख करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है: "पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किए, अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किए। कबीर, रैदास, धर्मदास, नाभा, सिम्पी, सेना नाई आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज बुलंद की । समाज के न्यस्त स्वार्थवादी वर्ग के विरूद्ध नया विचारवाद अवश्यंभावी हुआ।" (रचनावली-5, पृ. 293-94)। यह कार्य उतनी तीव्रता और दृढ़ता के साथ वैष्णव कृष्ण भक्तों द्वारा सम्पन्न नहीं हो सका। इस दृष्टि से उनका अनुरोध आन्तरिक दबाव के अभाव में मात्र औपचारिकता बन कर रह गया।

यहाँ इस बात की चर्चा भी आवश्यक है कि कबीर, दादू आदि निर्गुण संतों के सामने वल्लभ सम्प्रदाय के भक्त कवियों या राम-भक्त तुलसीदास का साहित्य नहीं था। लेकिन तत्कालीन हिन्दू समाज में अवतारवाद की पौराणिक मान्यताओं का पूरा जोर था। राम और कृष्ण को विष्णु का अवतार मान कर उनकी उपासना का भी जोर था। मंदिर, मूर्ति, तीर्थस्थान, विभिन्न पर्व आदि पूजा और भक्ति के केन्द्र बने हुए थे संध्या, गायत्री, व्रत, तीर्थस्नान, तिलक, छाया, पूजा-अर्चना आदि धर्म के अन्यान्य कर्मकाण्डी विधान समाज में प्रचलित थे। संस्कार के रूप में जन्म से लेकर मृत्यु तक और उसके बाद श्राद्ध के रूप में अनेक विधान मौजूद थे। इन सबका सूत्र ब्राह्मण समुदाय के पण्डों-पुरोहितों के हाथ में था। धार्मिक क्षेत्र की यह कर्मकाण्ड बहुलता सामाजिक क्षेत्र में वर्ण व्यवस्थाजन्य जाति-पांत, ऊँच-नीच, छुआ-छूत की कट्टरता को बढ़ावा दे रही था। कबीरदास ने अपने युग की इन सामाजिक-धार्मिक विसंगतियों पर खुलकर आक्रमण किया है। समाज का एक विशाल जन समुदाय वर्ण एवं जाति के आधार पर सभी मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। इस विशाल जन समाज का पेक्ष लेकर कबीर ने पहली बार ब्राह्मणवादी वर्ण-व्यवस्था को खुलकर ललकारा है:

1. 'तू बामन बामनि का जाया, आन बाट है क्यों नहि आया।'
2. 'तू बामन मैं कासी का जुलाहा, चीन्हि न मोर गियाना।'
3. 'काहे को कीजै पाण्डे छोति बिचारा।
   छोतिहि ते उपना संसारा।।
   हमारे कैसे लोहू, तुम्हारे कैसे दूध।
   तुम कैसे बामन पाण्डे, हम कैसे सूद।।
   छोति छोति करता, तुम्ह ही जाए।
   तो गर्भवास काहे को आए।

इस तरह कबीर ने शास्त्र-पुराण-मतवादी ब्राह्मणवाद और उसके छुआ-छूत, ऊँच-नीच की जातिवादी भावधारा पर निर्मम आघात किया। ऐसी आक्रामकता वैष्णव कृष्ण भक्तों के लिए असंभव थी। इस ब्राह्मणवाद का वैचारिक आधार परम्परागत शास्त्र और शास्त्रीय कर्मकाण्ड था, जिस पर भी निर्गुण संतों ने गिन-गिनकर चोटें की है। वेद, उपनिषद, स्मृति, पुराण आदि की तथाकथित शास्त्रीय मान्यता की आड़ से जिस वर्गवादी मर्यादा को लोकजीवन पर थोपा गया था, उसकी कलई, कबीर ने पूरी तरह उतार दी है। रूढ़ शास्त्रमतवादी तत्कालीन संभ्रान्त समाज के सामने उन्होंने एक गंभीर चुनौती इस रूप में रखी है :

1 'मैं कहता आंखिन की देखी, तू कहता कागद की लेखी।'
2. 'पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा पंडित भया न कोई।
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होइ।।'

इस प्रकार कबीरदास ने समूचे धर्मशास्त्रीय ज्ञान और उसके विभिन्न भाष्यकर्ताओं के ग्रंथबद्ध ज्ञान पर एक प्रश्नवाचक चिन्ह लगा दिया। हिन्दू समुदाय के धार्मिक-सामाजिक पाखण्डों के साथ ही कबीर ने इस्लाम धर्म के बाह्याचारों पर भी जमकर प्रहार किया। रोजा नमाज, सुन्नत आदि जैसे बाहरी क्रिया-कलापों का आड़ में फैलाए जा रहे साम्प्रदायिक वैमनस्य की उन्होंने निन्दा की! 'अरे इन दोउन राह न पाई', 'संतो राह दुनौ हम दीठा।' आदि जैसी तमाम सारी उक्तियों के माध्यम से कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम-दोनों समुदायों के पारस्पारिक भेद-भाव पर गहरी चिन्ता प्रकट करते हुए उनकी एकता पर जोर दिया। इस क्रम में उन्होंने ईश्वर की आराधना को मंदिर और मस्जिद की चहारदिवारी से बाहर निकाल कर संघर्षपूर्ण वास्तविक जीवन के क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया। तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में यह कार्य निर्गुणोपासना के माध्यम से ही हो सकता था। सगुणोपासना का पूरा क्षेत्र प्राय: उच्च वर्णों के लिए सुरक्षित था। मन्दिर, मूर्ति, तीर्थ, व्रत, पर्व, संध्या-वंदन, यज्ञ, जप-तप, दान-पुण्य, शास्त्र-पुराण का पठन-पाठन निम्न एवं उपेक्षित जातियों के लिए वर्जित था। निर्गुण-निराकार की उपासना के लिए इन बाह्य-विधानों और औपचारिकताओं की आवश्यकता नहीं थी और न ही गृहत्याग तथा अपने पेशेवर नित्त-प्रति के कार्यों से छुटकारा पाने की ही जरूरत। निम्नजातीय समुदायों के लिए निर्गुण पंथ ही एक मात्र सुगम मार्ग था। धर्म के ठेकेदारों और समाज के सत्ताधारी कुलीन वर्ग के लिए यह स्थिति प्रिय नहीं थी। अत: इसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी जो उत्तर भारत में सगुणोपासना के रूप में प्रकट हुई। इस संबंध में मुक्तिबोध ने लिखा है : "निर्गुण-मत के विरुद्ध सगुण-मत का संघर्ष निम्नवर्गों के विरुद्ध उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरुचि वालों का संघर्ष था, जिसका आरंभिक विकास कृष्ण-भक्ति के रूप में हुआ।" (रचनावली-5, पृ. 295)।

कृष्ण-भक्ति की एक विशेषता रही है, जिसके कारण उसके प्रति निम्नवर्गीय जनता का आकर्षण आरम्भ से ही दिखायी देता है। दक्षिण भारत से लेकर महाराष्ट्र, बंगाल आदि में कृष्ण-भक्ति की परम्परा से इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। उत्तर भारतीय भक्ति-आन्दोलन में कृष्ण का जो रूप उभरकर सामने आया वह महाभारत की अपेक्षा 'भागवत पुराण' पर अधिक आधारित थां कृष्ण के इस रूप में उच्चवंशीय अभिजात तत्वों की अपेक्षा किसान एवं चरवाहा संस्कृति की चेतना अधिक थी। इसका केन्द्र मथुरा-वृन्दावन बना। उत्तर

भारत में भक्ति आन्दोलन के आरंभिक वैष्णव भाष्यकर्ता रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि से लेकर रामानन्द और बंगाल के चैतन्य आदि ने भक्ति के क्षेत्र में जातीय संकीर्णता की निरर्थकता की घोषणा अवश्य की थी, लेकिन किसी ने सामाजिक क्षेत्र में इसे उन्मूलन का कारगर अभियान नहीं चलाया था। वल्लभाचार्य और गोसाई बिट्ठलनाथ के आठ प्रधान शिष्यों में से कम से कम तीन निम्न जाति के थे। इसके साथ ही आरम्भिक वैष्णवाचार्यों ने पुरोहिती और उसके कर्मकाण्डों को भी स्वीकृति नहीं दी थी। इसके बावजूद उत्तर भारत की कृष्ण भक्ति में भ्रमरगीत परम्परा का सूत्रपात हुआ। सूरदास, नन्ददास, जैसे महत्वपूर्ण कृष्णभक्तों ने भ्रमरगीत का आश्रय लेकर निर्गुण के खण्डन और सगुण के मण्डल का जो जोरदार अभियान चलाया, उसे पर्याप्त सफलता मिली। इस सफलताके बावजूद निर्गुण मतावलंबी संतों के वर्णाश्रम धर्म एवं जातिवाद विरोधी विचारों पर कृष्ण भक्त कवियों ने कभी सीधी चोट नहीं की। लेकिन कृष्ण काव्य के अन्तर्गत 'भागवत पुराण' के प्रभाव से पौराणिक कथाओं के अत्यधिक समावेश के माध्यम से अवतारवाद की स्थापना द्वारा वर्णाश्रम धर्मी जातिवाद के लिए एक ठोस आधार बना। इसका सहारा लेकर गोस्वामी तुलसीदास को वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई दिक्कत नहीं हुई । तुलसीदास तक पहुँच कर उत्तर भारतीय भक्ति-आन्दोलन मध्ययुगीन सामंती समाज की दो विरोधी सामाजिक सांस्कृतिक शक्तियों की खुली टकराहट बन कर सामने आता है, जिसके माध्यम से दो विरोधी सांस्कृतिक अभिरूचियों और परस्पर विरोधी - सामाजिक हितों की भी अभिव्यक्ति हुई है।

अपनी युगीन परिस्थितियों में अवतारवाद की धारणा का अतिशय विस्तार कबीरादि निर्गुण संतों के लिए घातक प्रतीत हुअ। उन्होंने सभी अवतारों की निरर्थकता दिखाने के साथ ही कृष्णावतार और रामावतार पर विशेष रूप से आक्रमण किया। जहाँ तक अवतारों का प्रश्न है, वैष्णव भक्तों ने इसका कभी विरोध नहीं किया था। दक्षिण के आलवार भक्त मुख्यतः कृष्णोपासक होते हुए भी रामावतार के साथ ही सभी अवतारों के प्रति आदर-भाव रखते थे। इस परम्परा के लगभग अंतिम भक्त कुलशेखर आलवार ने नवीं शती के मध्य रामभक्ति का अत्यंत प्रभावशाली ढंग से निरूपण किया। ग्यारहवीं शती में रामानुजाचार्य ने दार्शनिक आधार पर रामभक्ति को पूरी तरह प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया । इन्हीं की शिष्य परम्परा में आने वाले रामानन्द ने रामभक्ति को उत्तर भारत में प्रचारित किया। कबीर के समय तक परब्रह्म के अवतार के रूप में दशरथ - सुत राम की भक्ति उत्तर भारतीय सामाजिक- धार्मिक जीवन में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। इससे ब्राह्मण श्रेष्ठता, शास्त्र सम्मत मान्यताओं के प्रति आस्था,वर्णव्यवस्था के प्रति विश्वास, पुनर्जन्म और कर्मफल के रूप में भाग्यवाद की पुष्टि के लिए शक्तिशाली आधार निर्मित हुआ। ब्रह्म के अवतार

के रूप में दाशरथि राम हिन्दू समाज की सम्पूर्ण आचारनिष्ठा और सामाजिक-धार्मिक मान-मर्यादा के जीवन प्रतीक बन चुके थे। कबीरदास ने रामानन्द से 'रामनाम' का मंत्र लेकर राम को निर्गुण निराकार ब्रह्म का स्वरूप प्रदान किया और पूरे विश्वास के साथ यह घोषित किया :

दशरथ सुत तिहलोक बखाना। राम नाम का मरन है आना।।

कबीरदास पहले भक्त हैं, जिन्होंने दशरथ-सुत राम की भगवत्ता को चुनौती दी है। ब्राह्मण श्रेष्ठता, शास्त्र सम्मत वर्णाश्रमधर्मी लोक मर्यादा के इस आधार-स्तंभ को खण्डित करना कबीर और उनके निर्गुण पंथ के लिए आवश्यक प्रतीत हुआ। कबीर की मृत्यु के 15-20 वर्षों के बाद जन्मे तुलसीदास ने अपने आस-पास के वातावरण में गूँज रही निर्गुण पंथ की तमाम चुनौतियों को गंभीरता से महसूस किया था। ऐसा लगता है कि कबीर की एतद्विषयक उक्तियाँ हमेशा तुलसीदास के सामने चुनौती के रूप में रही हैं, जिन्हें अनेक युक्तियों से निरस्त करने का उन्होंने सजग प्रयास किया है। 'रामचरित् मानस' में शिव-पार्वती, कागमुसुंडि-गरुड़ और याज्ञवल्क-भारद्वाज के संवाद तथा अन्यान्य कथा-प्रसंगों की योजना द्वारा तुलसीदास ने दशरथ-सुत राम की भगवत्ता के साथ ही शास्त्र-पुराण सम्मत वर्णाश्रमधर्मी सामाजिकता के आदर्शों को, लोक मर्यादा का रूप देते हुए, अत्यंत नि:शंक भाव से प्रतिष्ठित किया। प्रमाण-स्वरूप एतद्विषयक कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं

1 'तुम्हें जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहि मुनि ध्याना।।
कहहि सुनहि अस अधम नर, ग्रसे जे मोह-पिचास।
पाखण्डी हरि-पद विमुख, जानहिं झूठ न सांच।।' - मानस

2. 'बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम्हतें कछु घाटि।
जागहि ब्रह्म सो विप्रवर, आँख देखवाहिं डाँटि।।
साखी सब दी दोहरा कहि किहनी उपखांन।
भगति निरूपहि भगत कलि निन्दहि वेद-पुरान।।' - दोहावली

'सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ज्ञाना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना।
जे बनहाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा।
नारि सुई घर संपत्ति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी।।
ते विप्रन सन आपु पुजातहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं।।
सूद्र करहिं जप तप व्रत नाना। बैठि बरासन पढ़हिं पुराना।।' - मानस

4. 'आश्रम-वरन-धरम-विरहित जग
लोग वेद मरजाद गयी है।
प्रजापतित पाखंड पापरत
अपने अपने रंग रई है।।' - विनय पत्रिका

5. 'बरन धरम गयो आश्रम निवास तज्यो
त्रासन चकित सो परावनों परो सो है।' - कवितावली

वस्तुत: तुलसीदास की ये उक्तियाँ 'मानस' के कथा-प्संगों के दबाव की अनिवार्यता में कही गयी न होकर उनके एतद्विषयक रुख को ही अधिक प्रतिबिम्बित करती हैं। कवितावली, विनय-पत्रिका, दोहावली आदि सभी रचनाओं में तुलसीदास की ये मान्यताएँ समान रूप से व्यक्त हुई हैं।

दक्षिण की आलवार भक्ति पर अंकुश लगाने के लिए शंकराचार्य को क्यों विवश होना पड़ा? यहाँ इस तथ्य पर भी विचार करना अधिक समीचीन होगा। 'प्रस्थान त्रयी' की अपनी नयी व्याख्या में उन्होंने जिस पूर्णाद्वैत की स्थापना की थी, उसमें मात्र ब्रह्म ही सत्य था और शेष जड़-चेतन सभी वस्तुएँ अर्थात् दृश्यमान जगत् मिथ्या था। उनके अनुसार ज्ञान के द्वारा 36 मिथ्यात्व से मुक्त आत्मा ब्रह्मस्वरूप अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करती है। इस दार्शनिक मान्यता द्वारा सामाजिक दृष्टि से इस निष्कर्ष पर आसानी से पहुँचा जा सकता था कि यदि एक ही ब्रह्म, ब्राह्मण और शूद्र में समान रूप से विद्यमान है तो सभी मनुष्य बिना किसी भेद-भाव के बराबर हैं। अद्वैत-वाद से यही सामाजिक आशय निकालकर कबीर ने सबकी समानता का अभियान चलाया था। स्वयं शंकराचार्य को भी यह समझ में आ गया कि इस तर्क का सहारा लेकर तत्कालीन सामंती समाज में ऊँच-नीच के भेद को असंगत ठहराया जा सकता है। इस अरुचिकर और खतरनाक स्थिति से बचने के लिए उन्होंने 'गौतम धर्मशास्त्र' के सहारे अपनी ब्राह्मण श्रेष्ठता और कुलीनतावादी दृष्टि का एक अत्यन्त असामाजिक पद्धति पर विस्तार से प्रतिपादन किया। (भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. 270-71)। डॉ. सेवासिंह ने अपनी पुस्तक 'माया और मायावाद' के अन्तर्गत पृ. 170 से 176 तक शंकराचार्य की वर्णधर्माश्रित जाति पांत सम्बन्धी मान्यताओं का विस्तार से परिचय दिया है। इसे यदि गोस्वामी तुलसीदास की एतद्विषयक मान्यताओं के साथ मिलाकर देखें तो अद्भुत समानता मिलेगी। दोनों में अन्तर यह है कि अपनी युगीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शंकराचार्य ने निर्गुण ब्रह्म का सहारा लेकर आलवारों की सगुणोपासक भक्ति पर अंकुश लगाया, जब कि तुलसीदास ने सगुण ब्रह्म का सहारा लेकर निर्गुण निराकार की उपासना पर अंकुश लगाया।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण और निर्गुण मत अपने आप में कोई विशेष महत्व नहीं रखते। भारत की उत्तर मध्यकाल की परिस्थितियों में समाज की वेद-उपनिषद्वादी, धर्मशास्त्रवादी शक्तियों का निषेध कर सामंती समाज की कुलीनतावादी शक्तियों के विरुद्ध दक्षिण के आलवारों ने सगुण-साकार ईश्वर के नाम पर उत्पीड़ित जनसमुदाय के बीच सबकी समानता का आन्दोलन शुरू किया था। लेकिन आगे चलकर अत्यधिक शास्त्रशबलित सगुणोपासना के क्षेत्र से उत्पीड़ित मानवता के अपने तत्व लगातार बहिष्कृत होते गए या उनके लिए अवकाश कम होता गया। वेद-उपनिषद्वादी, शास्त्रीय-पौराणिक तत्वों का समावेश भी उसमें लगातार बढ़ता गया। एक नये धर्म-सम्प्रदाय इस्लाम के आगमन के बावजूद इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। परिवार, पुर या ग्राम स्तर पर पुरोहिती कर्मकाण्ड तो कुलीन समाज के व्यवहार में मूलबद्ध थे ही, इस्लाम धर्म के काजी-मुल्लाओं ने भी उसमें अपना योगदान किया। अतः कबीर के लिए परम्परागत वेद-उपनिषद्वादी और नवीन-शास्त्रीय-पौराणिक मान्यताओं के साथ ही हिन्दू-मुस्लिम पुरोहिती का विरोध भी आवश्यक प्रतीत हुआ। इसके लिए निर्गुण-निराकार की उपासना ही उपयुक्त हो सकती थी।

कबीर के निर्गुण पंथ के विरुद्ध तुलसीदास की सगुण रामभक्ति का मार्ग समस्त सामाजिक-धार्मिक मर्यादाओं का पालन करते हुए प्रशस्त हुआ है। अपने मार्ग का निर्धारण करने में तुलसीदास ने अपनी व्यक्तिगत जीवन-यात्रा के अनुभवों को लोक-यात्रा में रूपायित करते हुए अपने निजी और सामाजिक जीवन के अन्तर्विरोधों के बीच एक आकर्षक समन्वय किया है, जो शंकराचार्य के लिए संभव नहीं था। एक अजान शिशु रामबोला के रूप में तुलसी ने अनाथ निराश्रित का-सा जीवन-बसर करते हुए गरीबी और भूख की पीड़ा को बहुत निकट से अनुभव किया था। 'एक निराद्रित-दरिद्र की भांति हाथ में भिक्षा-पात्र लिए हुए, कुत्ते के मुँह में पड़े टुकड़े के लिए भी लालायित रहने वाले (कवितावली) और 'कुत्ते की तरह जूठी पत्तल चाटकर' (विनय-पत्रिका) जीवन काटने वाले रामबोला से ही महात्मा तुलसीदास का अविर्भाव हुआ था। अपनी निराश्रयता से मुक्ति के लिए राम में आश्रय खोज कर उन्होंने अपने को सनाथ किया था। विशिष्ट द्वैतवादी सेवक-सेव्य भाव से सगुण साकार की रामभक्ति की स्वीकृति; पुनर्जन्म, कर्मफल, अवतारवाद, वर्णाश्रम, धर्म की शास्त्रमतवादी पौराणिक मान्यताओं और ब्राह्मण कुल में जन्म के कारण उनकी चेतना सामाजिक संबंधों के सामंतवादी दायरे में अवश्य गयी, लेकिन लोकमंगल की प्रेरणा से वे कभी शून्य नहीं हुए। अतः लोकमंगल की लोकचेतना से प्रेरित और सामंती-सामाजिक सम्बन्धों की विरोधी चेतना से अनुशासित तुलसीदास ने एक भव्य चरित्र के रूप में राम

की अवतारणा की। इसके फलस्वरूप उनकी द्वन्द्वपूर्ण विरोधात्मक चेतना की निर्मिति राम के रूप में जहाँ एक तरफ साधारण जनता ने अपना त्राणकर्ता पाया, वहीं दूसरी तरफ कुलीन सत्ताधारी वर्ग ने अपने सामंती संबंधों के समस्त मूल्य-मानों और आदर्शों को प्रतिफलित होते देखा। इस प्रकार उत्तर भारतीय लोक-समाज के एक बहुत बड़े समुदाय पर तुलसीदास का प्रभाव निर्णायक सिद्ध हुआ। अपनी समस्त परिवर्तनकामी क्रांतिधारिता के बावजूद कबीर और उनके निर्गुण पंथ को पराजय का मुख देखना पड़ा।

गोस्वामी तुलसीदास उत्तर भारतीय भक्ति आन्दोलन के अंतिम महान भक्त कवि रहे हैं। उनके बाद यह आन्दोलन धार्मिक दृष्टि से अत्यंत शिथिल हो गया और साहित्य में तो इसकी लगभग समाप्ति हो गयी। भक्ति का परित्याग कर हिन्दी साहित्य एक नये मार्ग पर चल पड़ा। इस नये मार्ग की स्थिति पर विचार करने से पूर्व भक्ति आन्दोलन की उपलब्धियों, निर्गुण और सगुण के द्वन्द्व में जातिवाद विरोधी निर्गुण पंथ की पराजय और यथास्थिति की बहाली के मूलभूत कारणों की ओर संकेत कर देना आवश्यक है।

भक्ति आन्दोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि समूचे देश को उसने एक सांस्कृतिक सूत्र में आबद्ध किया है। इस प्रक्रिया में दक्षिण के वैष्णव आचार्य 'प्रस्थान त्रयी' की नयी और उदार व्याख्या के साथ ही नहीं, बल्कि राम और कृष्ण के साथ उत्तर की यात्रा करते हैं, चैतन्य देव के शिष्यों के माध्यम से बंगाल वृन्दावन से जुड़ता है। नाथद्वारा, द्वारका, कन्याकुमारी के साथ ही अयोध्या, मथुरा-वृन्दावन जैसें नये सांस्कृतिक केन्द्र स्थापित होते हैं। प्रसिद्ध शैव नगरी काशी सबसे बड़ा वैष्णव तीर्थ बनती है। समूचे भारत में भक्ति-आन्दोलन का आविर्भाव उत्पीड़ित निम्नजातियों के कष्टों को लेकर हुआ और अंत तक किसी न किसी रूप में उसे सहारा देता रहा। यह नहीं है कि मध्यकालीन धार्मिक और तमाम सारी दार्शनिक प्रणालियाँ सामंती-संबंधों के दबाव में थी? फिर भी रामानुजाचार्य, रामानन्द, मध्वाचार्य, निम्बार्क, बल्लभाचार्य आदि ने उसमें साधारण जनता के मानसिक तत्वों के समावेश के लिए भी अवकाश निकाला। समाज के अन्तर्विरोधों की तीव्रता के काल में सगुण और निर्गुण के रूप में द्वन्द्वरत् होकर भी उसने ऐसे विश्वास को जन्म दिया जो साधारण जनता की सामाजिक-धार्मिक मुक्ति के अनुरूप था। श्री के. दामोदरन ने भक्ति-आन्दोलन की उपलब्धियों को मार्क्स की शब्दावली के सहारे प्रस्तुत करते हुए लिखा है : "मार्क्स के शब्दों में, धर्म न केवल, कुचले हुए मानव की आह और हृदयहीन संसार का हृदय' बन गया, बल्कि इस संसार के 'वास्तविक दुखों और यातनाओं के खिलाफ विरोध,' जात-पांत के भेद-भाव और सामंती दमन, आतंक के अमानवीय कृत्यों के खिलाफ विरोध बन गया।" (भारतीय चिन्तन-परम्परा, पृ. 299)

समूचे भक्ति आन्दोलन में धार्मिक-दार्शनिक मान्यताओं और सम्प्रदायगत भिन्नताओं के बावजूद जन सामान्य की एकता तथा ईश्वर के सम्मुख सबकी समानता की स्वीकृति, जाति प्रथा का विरोध; केवल सद्गुणों के आधार पर ईश्वर प्राप्ति की स्वीकृति; कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा, बहुदेवोपासन, तीर्थ-व्रत आदि बाह्याचारों का विरोध समान रूप से मिलता है। इन सभी भक्ति सम्प्रदायों ने हिन्दू एवं मुस्लिम धर्मों की कट्टरता का विरोध किया है। इस पूरे आन्दोलनकारी दौर में केवल गोस्वामी तुलसीदास ही ऐसे भक्त हैं, जिन्होंने भक्ति के क्षेत्र में ईश्वर के सम्मुख सबकी समानता की बात स्वीकार करते हुए भी पुराण मतवादी वर्णाश्रम व्यवस्था की स्वीकृति द्वारा सामाजिक स्तर पर जाति-पांत के भेद को न्याय संगत ठहराया है! कवितावली, मानस, दोहावली, विनय पत्रिका आदि महत्वपूर्ण ग्रंथों में उन्होंने मध्यकालीन समाज को अपनी समीक्षा का आधार बनाया है। इसके अन्तर्गत 'साखी-सबदी' में वेद-पुराण की निन्दा करने वाले और ब्राह्मणों से अपनी बराबरी का दावा करने वाले शूद्रों (कबीरादि संतों) के साथ ही 'भक्षाभक्ष' खाने वाले आचरण विहीन कौल-कापालिक और दोहों में 'कहनी-उपखान' कहने वाले प्रेमाख्यानक सूफी संत भी हैं। अपने निर्धारित कर्म-पथ से भ्रष्ट 'श्रुति बेचक द्विज' के साथ ही 'प्रजा का नित्य बिडम्बन' करने वाले 'प्रजासन भूप' भी है। इन सबके साथ ही 'पाप और पाखंड' में तीन पतित और स्वेच्छाचारी प्रजा भी है। इस प्रकार तुलसीदास ने अपनी समाज-समीक्षा में प्रजा के साथ ही ब्राह्मण समुदाय और राज-समाज को भी दुत्कारा है। इस प्रक्रिया में उन्होंने तत्कालीन सामंती समाज की विगलित मूल्य-व्यवस्था के प्रति क्षोभ व्यक्त किया है। लेकिन तुलसीदास की विशेषता इस बात में है कि वे अपनी दृष्टि से इसका एक समाधान देते हैं उसके समान्तर एक आदर्श व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं।

तुलसीदास सबकी सामाजिक मुक्ति का उपाय वर्णाश्रमवादी सामंती विश्व-दृष्टि के अनुशासन में रहकर ही खोज पाते हैं। फलस्वरूप वे समाज-स्थिति का विश्लेषण करते हुए सामाजिक दुर्दशा को कुलीन शासक वर्ग की दृष्टि से ही देख पाते हैं, गरीब और शोषित निम्नवर्ग की दृष्टि से जहां। उन्हें समाज, धर्म राजनीति आदि के सभी क्षेत्रों में फैली अराजकता ('परावनो परो सो है'-कवितावली), भागमभाग के कारण एक सच्चे संत-महात्मा के रूप में दुख अवश्य होता है। लेकिन सबसे अधिक दुख इस बात का होता है कि गरीब और निम्न जातियों के लोग अपनी गिरी हुई स्थिति के प्रति क्षोभ क्यों प्रकट करते हैं तथा सम्पन्न शासक वर्ग उन पर अत्याचार क्यों करता है? अव्यवस्था से सम्बद्ध इन सभीं समस्याओं का उनके पास एक ही समाधान है - शास्त्रमतवादी-पौराणिकता पर आधारित वर्णाश्रम धर्म की स्थापना। इसे ही वे लोक और वेद की मर्यादा मानते हैं। अपनी समस्त अगतिशीलता के बावजूद इस मर्यादा की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने राम के रूप में

ऐसा भव्य चरित्र प्रस्तुत किया है, जो समाज, राज्य, परिवार आदि सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों को अपने आलोक से भर देता है। परिवार में पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र, भाई-भाई और पुरजन-परिजन के रूप में पूरा गाँव-शहर समाज में ब्राह्मण (वशिष्ट) से लेकर शूद्र (गुह-निषाद), स्वामी (राम), सेवक (हनुमान) और राजा के रूप में स्वयं राम और रामराज्य की प्रजा के माध्यम से एक ऐसा विराट आयोजन तुलसीदास ने किया है, जो तत्कालीन सामंती-सामाजिक संबंधों को अधिक रागात्मक, नैतिक और उदार बनाने की क्षमता से पूरिपूर्ण है।

इतिहास के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टि अपनायी जाए तो परिवार, पुरज़न-परिजन के बीच उत्पन्न बहुत सारे सामंती-सामाजिक मूल्य मान आज भी हमारे लिए महत्वपूर्ण हैं। अत: तुलसीदास जैसे एक बड़े कवि-कलाकार पर विचार करते हुए हमें ई. एम. एस. नम्बूदिरीपाद की इस स्थापना को ध्यान में रखना चाहिए कि "प्रत्येक लेखक और कलाकार, जो जनता और उनकी आकांक्षाओं के प्रति सच्चा है, शोषण पर आधारित मौजूदा सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह भी अवश्य करता है, चाहे वह विद्रोह अपने विस्तार में कितना ही छोटा क्यों न हो। अत: साहित्य एवं कला की महत्वपूर्ण रचनाओं के सर्जकों में यथास्थिति वाद और मौजूदा व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का सम्मिश्रण अवश्य होता है।" (कला साहित्य एवं संस्कृति, पृ. 121)

यह सही है कि निम्नवर्गीय निर्गुण भक्ति में तत्कालीन सामंतवादी-विरोधी तत्व सर्वाधिक थे। लेकिन सूफी संतों और सगुण वैष्णव कृष्ण-भक्ति ने भी हिन्दू-मुस्लिम सामंतवाद के शोषण और उनकी धार्मिक-सामाजिक कट्टरता से क्षुब्ध हिन्दू-मुस्लिम आम जनता को पर्याप्त सहारा दिया था। मुस्लिम कट्टरता के विरुद्ध सूफी संतों ने परस्पर प्रेम और भाई-चारे का जो संदेश दिया था, उसने हिन्दू-मुस्लिम आम जनता की एकता को पर्याप्त सहारा दिया। बावजूद इसके निर्गुण पंथ पराजित हुआ - क्यों ? यह एक विचारणीय प्रश्न है, जिसका सुनिश्चित कारण है। यह कारण है सामंतवादी उत्पादन की कृषि-आधारित ग्राम-व्यवस्था।

मध्यकालीन भारतीय समाज की सबसे दृढ़ इकाई गाँव थे। सामंतवादी व्यवस्था की रीढ़ वर्ण-व्यवस्था के साथ ही उसके आर्थिक हितों को संरक्षण भी यहीं से मिलता था। एक आत्मनिर्भर और स्वत: पूर्ण इकाई के रूप में गाँव की पंचायत वहाँ के सामंत या जमींदार के माध्यम से सम्राट के शासन को लागू करने के साथ ही भूमि-व्यवस्था और करों का नियमन भी करती थी। वह सेवक-सेव्य भाव (ठाकुर-प्रजा) पर आधारित वर्णाश्रम व्यवस्था

के अनुरूप शास्त्र-सम्मत लोक-मर्यादा का पालन भी करवाती थी। यह ग्राम-इकाई भूमि-व्यवस्था और आर्थिक उत्पादन पर आधारित मध्यकालीन सामंती समाज की इतनी मजबूत इकाई थी कि इस्लामी आक्रमण की जोरदार चुनौती को झेलते हुए उसने स्वयं अपनी ही नहीं बल्कि तत्कालीन सामंती सामाजिक संरचना को भी सुरक्षित रखा। इस संबंध में डा. रमेश कुंतल मेघ ने लिखा है : "दसवीं शती में मुसलमान अपनी नयी संस्कृति, नया धर्म, नयी जीवन-पद्धति लेकर आए, जिसके माध्यम से उन्होंने एक क्रांति उपस्थित कर दी। शुरू में तो उन्होंने सामंती व्यवस्था का ढाँचा ही लड़खड़ा दिया, लेकिन कालांतर में वे भी सूदखोर, शोषक सामंत और बड़े-बड़े जमींदार हो गए। उनकी चुनौती वर्ण-व्यवस्था को थी।" (तुलसी : आधुनिक वातायन से, पृ. 8) शोषक-शासक बनने के बाद मुसलमान भी काजी और मुल्लाओं की गिरफ्त में आ गए। उन शासकों के साथ आए उनकी सेवा-कार्य से जुड़े साधारण मुसलमान और उनकी सामाजिक-धार्मिक समता से आकर्षित सद्य. परिवर्तित निम्नजातियों के लोग भी ग्राम इकाई के अभिन्न अंग बन गए। एक भिन्न धर्म-सम्प्रदाय से सम्बद्ध होने के कारण ग्रामीण वर्ण-व्यवस्था ने उन्हें भी अधिकांशत: शूद्रों की स्थिति में डाल दिया, जिनका नियमन काजी-मुल्लाओं के हाथ में रहा।

गाँव की व्यवस्था के समुचित संचालन का काम ग्राम पंचायतों द्वारा होता था। इसके मुखिया और पंचों में ठाकुर, ब्राह्मण-पुरोहित, साहूकार महाजन आदि प्रमुख होते थे, जो प्राय: समूचे गाँव का प्रतिनिधित्व करते थे पंचायत का फैसला सब के लिए मान्य होता था। गाँव की अधिकांश जातियों की अपनी पंचायत भी होती थी, जो आस-पास के गाँवों के सजातीय लोगों द्वारा मिलकर बनती थीं। ये पंचायतें जहाँ प्रत्येक जाति के आपसी विवाद और उनके व्यापक हितों के मसलों को सुलझाती थीं, वहीं जातीय कर्मानुष्ठान के बंधन को भी दृढ़ करती थी। इस व्यवस्था में जाति या बिरादरी से निष्कासन एक बहुत बड़ा सामाजिक दंड माना जाता था। मध्ययुगीन ग्राम एवं कृषि-आश्रित अर्थव्यवस्था ने ही भारतीय जाति-व्यवस्था को एक विशिष्ट रूप दिया था।

वस्तुतः मध्यकालीन सामंतवादी सामाजिक संरचना में जाति व्यवस्था कृषि पर आधारित ग्राम-व्यवस्था की एक अनिवार्यता थी। इसमें काम और पेशे के अनुसार जातियों का विभाजन हुआ था। ग्राम-स्तर पर सभी जातियाँ एक दूसरे पर आश्रित थीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि ऊँची जातियों से लेकर नाई, धोबी, कहार, दर्जी, लोहार, बढ़ई धुनियाँ, बुनकर, माली, बरई, हरिजन आदि के अपने-अपने निश्चित जातीय कर्म थे। इनमें से अधिकांश को अपने काम के बदले भू-स्वामियों और काश्तकारों की ओर से प्रत्येक फसल के बाद एक

निश्चित मात्रा में अनाज और कुछ अन्य सुविधाएं दी जाती थीं। पर्व, त्यौहार, शादी-विवाह आदि शुभ अवसरों पर भी निम्न जातियों को अपने सवामियों की ओर से कुछ दिया जाता था। अपने गाँव की एकता को कायम रखने के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति अपनी जातीय एकता के प्रति भी सजग रहता था। ब्राह्मण से लेकर हरिजन तक गाँव के प्रति अटूट निष्ठा रखते थे। इस सहज व्यवस्था को असहज और शोषण मूलक बनाने में सामंतवाद के प्रमुख स्तंभ ब्राह्मण, पुरोहित वर्ग का विशेष हाथ है। वेद, शास्त्र, पुराण आदि की आड़ में अनेक कर्मकाण्डों और अनुष्ठानों की योजना द्वारा इस समुदाय ने निम्न जातियों के शोषण का मार्ग प्रशस्त किया। कबीर के समय तक इस जाति व्यवस्था ने ऊँच नीच एवं छुआ-छूत के रूप में अत्यंत भीषण रूप धारण कर लिया था। कबीर और उनके निर्गुण पंथ ने जातीय भेद भाव वाली इस व्यवस्था और उसकी एक महत्वपूर्ण कारक शक्ति ब्राह्मणवाद पर जमकर कुठाराधात किया था। लेकिन आत्म निर्भर ग्राम इकाई को तोड़े बिना इस जाति व्यवस्था की समाप्ति संभव नहीं थी। निर्गुण भक्ति के माध्यम से उसे एक गंभीर चुनौती का सामना अवश्य करना पड़ा और उसमें कुछ शिथिलता भी दिखायी दी। इसका प्रभाव शहरों के आस पास के गाँवों तक ही अधिक सीतिम रहा, जहाँ कारीगर, शिल्पी और व्यवसायी आदि जातियों को बाजार और उसके लिए पाल- उत्पादन की सुविधा मिली। भौतिक आधार की कमजोरी और वैकल्पिक व्यवस्था के लिए अनवकाश के कारण निर्गुण भक्ति आन्दोलन को मुँह की खानी पड़ी। इसलिए गोस्वामी तुलसीदास को अपनी सगुण राम भक्ति के द्वारा लोकमर्यादा के रूप में वर्ण व्यवस्था की पुर्नप्रतिष्ठा में कोई विशेष दिक्कत नही हुई।

इस प्रकार भक्ति आन्दोलन में समय-समय पर सामाजिक अन्तर्विरोधों से उत्पन्न विरोध और अवरोध की ऐतिहासिक शक्तियाँ अपने आप को प्रकट करती रही हैं । अतः मध्य युग को एक सपाट और अखण्ड इकाई मानकर भक्ति आन्दोलन का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। उसे वर्ग संघर्ष के रूप में भी देखना -दिखाना आवश्यक है। चूँकि भक्ति आन्दोलन अपने समस्त राजनीति, सामाजार्थिक, धार्मिक और निहितार्थों की भिन्नता के बावजूद कला और साहित्य के रूप में एक सांस्कृतिक आन्दोलन भी था। अतः उसकी क्रान्तिकारी विरासत पर विचार करते हुए हमें उस युग की ऐतिहासिक अनिवार्यताओं और वर्तमान युग की अपेक्षाओं की उपेक्षा किये बिना उसे सांस्कृतिक कर्म के रूप में भी देखना होगा। इस दृष्टि से विचार करने पर अपनी समग्रता में भक्ति आन्दोलन की कई महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हमारे सामने आ सकती हैं, जिनकी वजह से मध्यकालीन जनजीवन आन्दोलित हुआ है।

अपनी लोकान्मुखता के कारण भक्ति आन्दोलन का समूचा साहित्य राजदरबारों की छाया से ही नहीं, वरन् अपने आरंभिक दौर से अभिजातवंशीय सामंती आग्रहों-अनुरोधों से भी प्राय: मुक्त रहा है। मध्यकालीन शास्त्र-निरपेक्ष निर्गुण काव्य हो, चाहे शास्त्र-सापेक्ष सगुण काव्य, दोनों का जीवन्त सम्पर्क अपने सामाजिक मूलाधार अथवा अपने वर्गीय जीवन के तारभूत स्पन्दनों से था। इसलिए इन दोनों काव्यधाराओं ने अपने-अपने ढंग से, अपनी युगीन वर्गीय आवश्यकताओं के अनुरूप अपने समय के सामाजिक-सांस्कृतिक ह्रास को थामने का सराहनीय प्रयास किया है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि सभी इस दृष्टि से हमारी महत्वपूर्ण सांस्कृतिक विरासत ही नहीं, बल्कि हमारी जनवादी चिन्ताधारा की भी अमूल्य विरासत हैं। इनके माध्यम से शायद पहली बार एक ऐसा साहित्य सामने आया है, जो अभिजन समुदाय और आम जनता-दोनों की पहुँच के भीतर था, दोनों को संबोधित था। भक्ति साहित्य का यह पहलू हमारे लिए सर्वाधिक अभिनंदनीय है। मेरी समझ से इसी में उसकी वास्तविक क्रांतिकारिता भी निहित है। क्योंकि यह साहित्य आम जनता के सिर से नहीं गुजरा है। जहाँ यह दो विरोधी सामाजिक-सांस्कृतिक शक्तियों की खुली टकराहट बनकर भी आया है, वहाँ इसने तत्कालीन सामाजिक अन्तर्विरोधों की कुछ ऐसी आधारभूत सच्चाइयों को सामने रखा है, जो शोषित-उत्पीड़ित जनों को अपनी बदतर अवस्था पर सोचने के लिए मजबूर कर रही थीं। यह स्थिति सामंती अभिजन समुदाय के लिए केवल नागवार नहीं थी, बल्कि गंभीर चुनौती बन गयी थी।

यह सही है कि पौराणिक शास्त्रीयता के आधार पर गोस्वामी तुलसीदास ने इस सामाजिक-सांस्कृतिक द्वन्द में अभिजात वर्ग के लिए एक निर्णायक विजय हासिल की थी। लेकिन इस तरह का पौराणिक-शास्त्रीय विवाद अभिजन समुदायों के लिये पर्याप्त असुविधाजनक सिद्ध हुआ। इसी तरह की विजय शंकराचार्य ने भी अभिजन समुदाय के लिए हासिल की थी, जिसकी व्यापक प्रतिक्रिया में समस्त भारत वर्ष में भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था। तुलसीदास के बाद भी यदि यह विवाद आगे बढ़ता, उत्पादन-सबंधों की दृष्टि से जिसके लिए पर्याप्त अवकाश भी था, तो सामंत जमींदार और कुलीन समुदायों के लिए दिक्कत हो सकती थी। साहित्य के क्षेत्र में इस तरह के विवाद से संस्कारशील कुलीनों की वर्ण-धर्माश्रित सामाजिक उच्चता की मान्यता खण्डित होती थी या उस पर प्रश्नचिन्ह लग रहा था। अत: इस तरह के विवाद उनके हित में नहीं थे, चाहे इससे उनके पक्ष का समर्थन ही क्यों न होता हो। साहित्य और संस्कृति का निर्माण क्षेत्र उनकी गिरफ्त से बाहर हो गया था। परिणामस्वरूप निर्गुण-सगुण के माध्यम से इस तरह के विषय साहित्य के अन्तर्गत विवादग्रस्त बने थे। वर्ण-व्यवस्था से उदारवाद, पुनर्जन्म एवं कर्मफल की पौराणिक मान्यताएँ विवाद से परे और धर्माट्य रहकर हो उनसे हितों की रक्षा में ढाल का काम कर सकती थी। वाद-विवाद

के दायरे में आ जाने पर उनके झूठ का पर्दाफाश आसानी से हो सकता था। इसलिए साहित्य जैसी महत्वपूर्ण प्राविधि पर अपनी गिरफ्त मजबूत कर सामाजिक-धार्मिक विषयों से उसे अलग रखना प्रभुता सम्पन्न वर्ग के लिए अनिवार्य बन गया था। अन्य अनेक कारणों में से यह भी एक महत्वपूर्ण कारण था, जिसने भक्तिकाल के महानतम कवि तुलसीदास के बाद राज्याश्रित रीति-काव्यधारा का उदय हुआ। इसने जाने-अनजाने अपने को सभी सामाजिक-धार्मिक पचड़ों से अलग रखकर एक छद्म काव्य-संस्कृति को जन्म दिया। इस काव्य-संस्कृति का मूलाधार तत्कालीन दरबारी संस्कृति थी, एक ऐसी संस्कृति, जो व्यावहारिक स्तर पर भारत के जीवन्त सांस्कृतिक मूल्यों तथा आदर्शों से विच्छिन्न हो चुकी थी।

भक्ति आन्दोलन की शिथिलता और शास्त्रीयतावाद के पुनरूत्थान के रूप में रीति-काव्यधारा के उदय और विस्तार की संगति पर विचार करते हुए डॉ. नामवर सिंह ने अपनी 'दूसरी परंपरा की खोज' शीर्षक पुस्तक में लिखा है कि "इस विवचेन से भक्तिकाल के वाद रीतिकाल के उदय का कारण भी स्पष्ट हो जाता है यदि आरम्भ में शास्त्र-निरपेक्ष निर्गुण-काव्य की शास्त्र-सापेक्ष सगुण परिणति की ओर ध्यान दें तो शास्त्रीयतावाद के पुनरुत्थान के रूप में रीतिकाव्य के प्रसार की भी संगति लग जाती है।" लेकिन भक्तिकालीन 'शास्त्रीयतावाद के पुनरुत्थान' के रूप में रीति काव्य के प्रसार को न देख कर उसके नये संस्करण के रूप में देखा जाए तो अधिक अच्छा होगा। इससे रीतिकालीन दरबारी कविता और दरबारी संस्कृति की पारस्परिकता को भी समझने में आसानी होगी। क्योंकि रीति कवियों की शास्त्रीयता मात्र-काव्य-शास्त्र की रूढ़ियों तक ही सीमित है। उसमें कृष्ण काव्य की पौराणिकता और राम काव्य के शास्त्रीयतावाद और इससे अनुशासित लोक-मर्यादा का स्पर्श तक भी नहीं है। वस्तुतः भक्ति काव्य की लोक रंजकता और गहन समाजनिष्ठता की तीव्र प्रतिक्रिया रीति काव्य में देखी जा सकती है। इसे भक्ति काव्य की शास्त्रीयता का पुनरुत्थान मानना भ्रामक है। इस काव्यधारा द्वारा एक अत्यन्त सीमित अभिजात-वर्ग का मनोविनोद मात्र हुआ है।

रीतिकाल के उदय और उसके प्रसार के सम्बन्ध में एक और तथ्य की ओर संकेत करना आवश्यक है। प्रत्येक सामाजिक संरचना के एक खास दौर में, जिसे उसका ह्रासोन्मुख या अवसान काल कहा जाता है, संस्कृति, धर्म, आचार-विचार के साथ ही साहित्य एवं अन्यान्य कलाओं के क्षेत्र में भी एक विशेष अवदशा उपस्थित होती है। ऐसी अधोगति के काल में उस सामाजिक संरचना के आरंभ और उत्कर्ष काल में अर्जित तमाम सारे सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यमानों, नैतिक एवं कलात्मक आदर्शों में निहित महत्वपूर्ण मानवी आशयों-अभिप्रायों की

हत्या कर उसके ऊपरी साँचों की रक्षा का प्रयास किया जाता है। हिन्दी साहित्य का रीतिकाल भी सामाजिक विकास का ऐसा ही दौर रही है, जिसमें न रामायण-महाभारत से प्रेरणा ली जा सकती थी, न गुप्तकालीन सौन्दर्य-भावना का विकास किया जा सकता था और न ही भक्तिकाल की समाजनिष्ठा को ही प्रश्रय मिल सकता था। यदि संस्कृत साहित्य की उत्कर्षशील परम्परा से भी वे कवि-कलाकार कुछ ग्रहण करते तो उसके द्वारा भी अपनी मूल्यहीनता की भावना या विगलित मूल्य-व्यवस्था को ही सामने लाते। महाभारत और कृष्णकाव्य के लोकोद्धारक तथा लोक रंजक कृष्ण की जो दुर्गति रीति कवियों ने की है, वह हमारे सामने है।

रीति काव्य की रूप धर्मिता और विगलित मूल्य-व्यवस्था दोनों ही एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं। रूपवादी आग्रह के कारण रीति कवियों के लिए वह रास्ता ही प्रमुख रहा - जिसे उन्होंने 'कविन को पंथ,' 'सुकबीन् की रीति', 'कबीर को मारग, ' कबिताई की रीति' आदि के रूप में स्वीकार किया। कविता का यह मार्ग जीवन की बहुत ही संकीर्ण गलियों से गुजरा। जीवन-क्षेत्र या भाव क्षेत्र के इस संकोच या दारिद्र्य को ढकने के लिए 'कथ्य' की अपेक्षा 'कथन प्रणाली' को अधिक महत्व देना आवश्यक हो जाता है। रीति कवियों के सामने 'क्या कहना है' और 'क्यों कहना है' - यह कोई समस्या नहीं रह गयी थी। 'कैसे कहा जाए' इस समस्या से भी उन्हें जूझना नहीं पड़ा। कविता के बने-बनाए राजमार्ग पर जिस कौशल की जरूरत होती है, वह उन्हें किंचित् अभ्यास से प्राप्त हो गयी। कवि-कर्म स्वयं उनके लिए और उनके पाठक-श्रोता के लिए आत्मविभोर क्रीड़ा-कौशल मात्र बनकर रह गया। इस तरह के कलावादी आग्रह अपनी निरपेक्ष स्वायत्तता की रक्षा के लिए कुछ आन्तरित निषेध भी विकसित करते हैं। इन निषेधों की जद में रूप या शिल्प ही नहीं वरन् कला की विषय-वस्तु भी आ जाती है। इस प्रक्रिया में जीवन से जुड़े हुए बहुत सारे विषय कला के लिए विजातीय बन जाते हैं। जाने-अनजाने, एक भिन्न रूप में, रीतिकाल में ऐसा हुआ। आधुनिक काल के एक विशेष ऐतिहासिक दौर में, पूँजीवादी सामाजिक विकास के एक ह्रासोन्मुख दौर में, इस स्थिति में हमें गुजरना पड़ा है और अब भी गुजर रहे हैं।

यहाँ मैं पुन: इस बात पर जोर देना चाहूँगा कि हर सामाजिक संरचना के पतनोन्मुख दौर की एक खास विशेषता होती है। इसके अन्तर्गत साहित्य और कलाएँ अपने मूलाधार से रस ग्रहण करना बन्द कर देती हैं। यही नहीं वरन् साहित्य एवं कलाओं के साथ ही राजनीति, धर्म, दर्शन, संस्कृति आदि भी परस्पर एक-दूसरे से विच्छिन्न हो जाते हैं। इससे यथास्थिति कायम रखने में सहायता मिलती है, जो प्रभुता संपन्न वर्ग के हित में है।

इस स्थिति में राजनीति का काम राजा और उनके अमलों का हो जाता है, पंडित- पुरोहित धर्म कर्म करने लगते हैं, कवि कलाकारों का काम केवल सुन्दर-सुन्दर कलाकृतियों का निर्माण रह जाता है। किसी को भी किसी दूसरे के कार्य-क्षेत्र में दखल देना वर्जित मान लिया जाता है। यह रीतिकालीन दरबारी वातावरण में घटित हुआ। इस घटना के पीछे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सत्ता-प्रतिष्ठानों का भी हाथ रहा है। रीतिकाल के उदय और रीति काव्य के प्रसार पर विचार करते हुए उसे इस संदर्भ में भी देखना आवश्यक है। उसने कहाँ से प्रभाव ग्रहण किया, उस का संबंध किससे था उसने किस प्रकार से रूप तंत्र का विकास किया, किस प्रकार के अभिप्राय (मोटिफ्स ) और संकेत विकसित किए - ये चीजें बाद में आती हैं। इन पर भी विचार होना चाहिए । मैंने हिन्दी के रीतिकालीन दरबारी साहित्य को एक विशेष संदर्भ में रखकर देखने का अनुरोध किया है। उसे अन्य दूसरे संदर्भो। में भी रखकर देखा जाना चाहिए।

# 8. रीतिकाल : एक क्षयी युग

त्रिलोचन शास्त्री

सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य का काल (सन 1650-1850) रीतिकाल माना जाता है। यों रीतिकाल का पहला कवि मैं केशव को मानता हूँ। यद्यपि उनके पश्चात लगभग आधी शती तक रीतिकाल का समुचित रूप नहीं दिखाई पड़ता, परंतु केशव में वे समस्त प्रवृत्तियाँ मौजूद थीं, जो रीतिकवियों में विकसित हुईं। अर्थात दरबारी मनोवृत्ति, चमत्कार और अलंकरण का मोह तथा कवि के साथ आचार्यत्व का दिखावा और सबसे बढ़कर लोकजीवन से अलग-थलग रहकर अपनी कविता रचने की प्रवृत्ति। इस माने में केशव रीतिकवियों के अगुआ और मार्गदर्शक थे।

रीतियुग उसी मध्ययुग का उत्तरार्ध है जिसका पूर्वार्ध सामाजिक चेतना से संपन्न और कर्तव्य की उदात्तीकृत भक्तिरचनाओं वाला युग था और उसके बाद वह भारतेंदुयुग आता है जो नए जागरण का पहला प्रभात था। इस प्रकार काव्य की दृष्टि से रीतिकाल दो उजालों के बीच एक अंधेरे का युग था।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह युग शाहजहाँ के शासन के अंतिम दौर से प्रारंभ होकर बहादुरशाह जफर के शासन के अंतिम दौर तक फैला हुआ था। इस युग का अधिकांश भाग औरंगजेब के शासनकाल से संबद्ध है। अकबर के भावात्मक एकता और धार्मिक सहिष्णुता के प्रयास औरंगजेब के काल में लगभग समाप्त हो चुके थे। जहांगीर और शाहजहाँ के समय विलास के दौर में कला और साहित्य में भी शान-शौकत, नक्काशी और विलासिता की प्रवृत्ति पनप रही थी। अकबर के दरबार की विद्वत और धार्मिक परिषदों का स्थान बादशाहों के विलास को बढ़ावा देने और चमत्कारों का प्रदर्शन करनेवाले कवि-कलाकारों की मंडलियों ने ले लिया। अकबर के दरबार में रहनेवाले कवियों ने प्राय: नीति-धर्म आदि से संबद्ध काव्यरचनाएँ की थीं जिन्होंने कई बार शासक को मार्ग दिखाया था। आचार्य शुक्ल का कथन है कि नरहर कवि के निम्नांकित छंद को सुनकर अकबर ने गोहत्या बंद कर दी थी :

अरिहु दंत तिनु धरै ताहि नहिं मारि सकत कोइ
हम संतत तिनु चरहि बचन उच्चरहिं दीन होइ
अमृतपय नित स्रवहिं बच्छ महि थंभन जावहिं
हिन्दुहि मधुर न देहिं कटुक, तुरकहिं न पियावहिं
कह कवि नरहर अकबर सुनौ बिनवति गउ जोरे करन
अपराध कौन मोहि मारियत मुयेहु, चाम सेवई चरन।

अकबर दरबार के कवियों में बीरबल, टोडरमल, गंग, अब्दुर्रहीम खानखाना जैसे नीतिज्ञ और जागरूक कवि थे। परंतु यह परंपरा आगे जाकर नष्ट हो गई और जैसा कि कहा गया है एक 'भिन्न' किस्म के कवियों-कलाकारों का जमाव दिल्ली दरबार में होने लगा। दिल्ली दरबार का अनुकरण देश के अन्य राजाओं और सूबेदारों की राजसभाओं में भी होने लगा और जगह-जगह वैसे ही कलाकारों और कवियों का दल इकट्ठा किया गया। कवि-कलाकार शासकों की शान-शौकत का प्रतीक और मनोरंजक का साधन थे। इस युग के अधिकांश प्रमुख कवियों की आजीविका का साधन राजदरबारों से प्राप्त सहायता थी। इसलिए उनमें भी वही विलासिता पनपी जो बड़े राजकर्मचारियों में थी। राजदरबार तक अपने को सीमित कर लेने और सामान्य जनता से कट जाने का अनिवार्य परिणाम रीतिकवियों के रूढ़िपालन और भारतीय जीवन और संस्कृति की प्रगतिशील चेतना से कट जाने के रूप में दिखाई दिया। क्योंकि जनता से कट जाने का परिणाम जीवंत संस्कृति और जीवन की गत्यात्मकता से कटने में स्वत: देखा जा सकता है।

वास्तव में रीतियुग ऐसा युग नहीं था कि जनता इतने सुकून में हो कि उसके विलास और आनंद के दिन आ गए हों। आम जनता के लिए तो वह युग आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और वैयक्तिक दृष्टि से घोर विषमता, त्रास, पराभव और घुटन का युग था। जहाँ एक ओर उसके जीवन का केंद्र धर्म भयावह अपमान की स्थिति में था, वहीं धर्मपरिवर्तन के प्रतिरोध में उन्हें घोर आर्थिक त्रास और वैयक्तिक अस्थिरता तथा दबावों का सामना करना पड़ रहा था। इधर विघटन-शील सामंती शक्तियाँ अपने सुख की कीमत पर प्रजा के साथ अमानुषिक क्रूरता और उपेक्षा का व्यवहार कर रही थीं। युद्धों और विलासों के साथ उनके प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अत्याचारों और लापरवाहियों की कीमत जनता को चुकानी पड़ती थी।

अगर रीतियुग मात्र इन दरबारी कवियों का काव्ययुग होता तो निश्चय ही यह साहित्यिक और सामाजिक दृष्टि से घोर अंधकार का युग होता। परंतु इस युग में धार्मिक आंदोलनों से अनेक नए समुदायों का गठन हुआ। इनके प्रभाव में पूरे हिन्दी क्षेत्र में अनेक कवि हुए, जिनका जनजीवन से निकट का संबंध था। भले ही ये आंदोलन विशेष रूप से उभर न पाए हो, परंतु वे भीतर से बराबर समाज का संचालन करते रहे। सतनामी संप्रदाय ने तो औरंगजेब की धार्मिक हठवादिता के लिए उसके खिलाफ सशस्त्र युद्ध भी किया, कई हजार सतनामी मारे गये। राधास्वामी संप्रदाय ने भी उस युग में महत्वपूर्ण सामाजिक

भूमिका निभाई। प्रजा भी उस कुशासन के युग में भक्ति और संत साहित्य से प्रेरणा लेती रही। खोज विवरणों को देखने से यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि धार्मिक-आंदोलनों से उत्पन्न संत और भक्तकवियों के सत्संगों और रचनाओं ने सामाजिक जीवन को विशेष रूप से प्रभावित किया।

यह तथ्य है कि इस काल में प्रजा को जिस सबसे बड़े संकट का सामना करना पड़ा वह धर्म से संबंधित था। आर्थिक सुविधा-असुविधा या स्थिरता धर्म-परिवर्तन से जुड़ी थी और यह कार्य मुस्लिम साम्राज्यवादियों के द्वारा बलपूर्वक किया जाता था। ऐसे समय कवि भूषण की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि उनके काव्यनायक शिवाजी शोषित बहुसंख्यक हिन्दू जनता के संरक्षक थे। इस संदर्भ में भूषण का यह कथन विशेष महत्व रखता है: 'शिवाजी न होते तो सुनति (सुन्नत) होति सब की।' मध्यकाल में मुस्लिम शासकों की भूमिका राष्ट्रीय नहीं थी, वह राष्ट्रविरोधी आक्रामक ही रही है। उनके युद्ध सुशासन के लिए नहीं, हिंदुओं को कुचलने के उद्देश्य से प्रेरित थे। शिवाजी की शत्रुता न तो सामान्य मुसलमान से थी, न उसके धर्म से। उनकी सेना में एक दल मुसलमानों का था। इतिहास प्रमाण है कि शिवाजी ने किसी मस्जिद पर, या मुसलमान स्त्री की अस्मत पर हमला नहीं किया। विरोधी की स्त्रियों और उनके धर्म का सम्मान शिवाजी के व्यक्तित्व को मुस्लिम शासकों के व्यक्तित्व से भी अलग करता है। उसी तरह शिवाजी अन्य विलासी हिंदू राजाओं और सूबेदारों से भी अलग थे। इस माने में शिवाजी राष्ट्रोद्धारक और प्रगतिशील थे। उन्होंने समाज-रचना के अनुरूप शासन किया और मावल, महार आदि जनजातियों के सहयोग से युद्ध किए। परिणामत: शिवाजी के महत्व, वीरता और कार्यों का स्तवन करने वाले कवि भूषण भी रीतिकालीन कवियों से भिन्न राष्ट्रीय और सामाजिक महत्व रखते हैं। शिवाजी का दरबार अन्य राजाओं के दरबार की तरह समाज की छाती पर उठा हुआ फोड़ा नहीं, बल्कि समाज का विकास था। अत: भूषण के गौरवगान में एक दृष्टि थी। शिवाजी की तरह ही कवि भूषण के आक्रमण का लक्ष्य भी साधारण मुस्लिम प्रजा नहीं, मुस्लिम शासक थे। यहाँ एक उदाहरण पर्याप्त होगा जिसमें भूषण ने जो ब्यौरे दिए हैं वे शासकों के हैं, सामान्य मुस्लिम प्रजा के नहीं। 'रैयत' उनके लिए हिंदू और मुस्लिम दोनों थी:

दाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी-सी रहति छाती
बाढ़ी मरजाद जस हद्द हिन्दुआने की।
काढ़ि गई रैयति के मन की कसक सब
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।।

भूषण उन रीतिकालीन कवियों की तरह नहीं थे, जो जिस-तिस आश्रयदाता की प्रशंसा में अपनी वाणी का अपव्यय करते थे। ऐसे कवियों की तुलना में अपने चरितनायक की महत्ता का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है:

भूखन यों कलि के कविराजन राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजा सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी।

अन्य कवियों के बहुत से आश्रयदाता ऐसे थे, जिनका जीवन में युद्ध से कभी संबंध नहीं रहा, फिर भी कवि ने उन्हें पराक्रमी योद्धा बखाना। इसमें नहीं कि भूषण के आश्रयदाता शिवाजी के प्रति सारे देश में सम्मान की भावना थी। चरितनायक की लोकप्रियता ने कवि के काव्य को भी लोकप्रिय बनाया। इस संदर्भ में भूषण का 'छत्रसाल दशक' और लालकवि का 'छत्र प्रकाश' भी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। यों बिहारी आदि कवियों में भी कहीं कहीं राजाओं को मार्ग दिखानेवाली पंक्तियाँ मिल जाती हैं जैसे: 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' आदि, लेकिन वे अत्यंत नगण्य हैं।

रीतिबद्ध कवियों मे देव अवश्य ही ऐसे कवि थे जो जगह जगह भटकते रहे और किसी राजसभा में जमकर नहीं रहे। इसलिए दरबारी प्रवृत्ति उन पर अपेक्षाकृत कम हावी हुई। उन्होंने बिहारी तथा अन्य रीतिकवियों की अपेक्षा परकीया नायिका से संबद्ध काव्य कम ही रचा। स्वकीया के वर्णन में वे रीतिकाल के बेजोड़ कवि हैं उनका यह कथन उनके लिए उपयुक्त है : 'दंपति दीपति प्रेम-प्रतीति, प्रतीति की रीति सनेह-निचोरी।' अन्य रीतिकवियों की तुलना में देव के नायिकावर्णन की इस भिन्नता से सामाजिक उत्तरदायित्व का पता चलता है। उनके लोकजीवन से भी उनका संपर्क अपेक्षाकृत अधिक था। इसलिए कदाचित वे सामाजिक विषमता के प्रति सोच सके होंगे। उन्होंने लिखा है :

हैं उपजे रज-बीज ही तें, बिनसेहूं सबै छिति छार के छांड़े।
एक से देखु, कछू न बिसेखु ज्यौं एकै उन्हारी कुंभार के भांड़े।।
तापर आपुन ऊंच है, औरन नीच के पाय पुजावत चांड़े।
बेदन मूंदि करी इन दूंदि, सु सूद अपावन, पावन, पांड़े।

राजदरबार के घृणित और चापलूसी से भरे वातावरण को चित्रित करते हुए देव ने लिखा:

साहेब अंध, मुसाहेब मूक, सभा बहिरी, रंग रीझ कौ माच्यौ।
भूल्यो तहां भटक्यौ भट औघट, बूड़िबें को कोउ कर्म न बाच्यौ।
भेष न सूझ्यौ कह्यौ समुझायो न, बतायो सुन्यौ न कहा रुचि राच्यौ।
'देव' तहां निबरे नट की, बिगरी मति कौ सिगरी निसि नाच्यौ।

लेकिन प्राय: रीतिकालीन कवियों ने अपनी काव्यप्रतिभा केवल शृंगारवर्णन और राजाओं की स्तुति में ही खर्च की। इसलिए दरबार के बाहर रीतिकाव्य का विकास कम ही पाया जाता है। विषय निर्धारित होने के कारण उनके भाव भी निर्धारित होते गये थे। रीतिकवियों में सूर, तुलसी, जायसी, कबीर जैसी गहराई और व्यापकता दुर्लभ है। शृंगार से हटकर कभी कभी ये कवि भक्ति अथवा नीति संबंधी बातों को भी काव्य का विषय बनाते थे। परंतु शृंगारेतर काव्य में इन कवियों की अनुभूति काफी उथली थी, अत: इस प्रकार के काव्य में वह गंभीरता और अनुभूतिप्रवणता नहीं मिलती। रहीम और बिहारी के नीतिकाव्य की या सूर और पद्माकर के भक्तिकाव्य की परस्पर तुलना करने पर तथ्य प्रमाणित हो सकता है। रीतिमुक्त कवियों में भले ही दरबारी या काव्यरूढ़ि के परिपालन की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती, परंतु उनकी स्वच्छंदता भी प्रेमाभिव्यक्ति की स्वच्छंदता तक ही सीमित रही।

रीतियुग में रचित प्रेमकाव्य पर भी यहाँ कुछ कहना उचित होगा। कुछ लोगों ने इस काव्य पर अश्लीलता का आरोप लगाया है। मेरे विचार से यह आरोप अनुचित है। शृंगार के संयोगपक्ष के वर्णन को अश्लील मानना अस्वस्थ मानसिकता है, क्योंकि शृंगार के सर्वांगीण और चारु विवरण संस्कृत के महाकवियों ने भी दिए हैं। फिर भी द्विवेदीयुग में रीतिकाव्य की अश्लीलता पर ध्यान दिया जाने लगा। लोगों में नैतिकता के स्थूल रूप का आग्रह इतना बढ़ गया कि कहीं भी नर-नारी जीवन का संगुंफित विवरण दिखाई नहीं दिया कि अश्लील् अश्लील की गुहार लगाने लगे ! शृंगार का स्थायीभाव रति है। इसी को अन्य शब्दों में प्रेम कह सकते हैं। प्रेम का प्रभाव मानवजीवन में विशेष है। यह प्रेम समाजस्वीकृत हो तो क्या कहना? और समाजमान्य नहीं है तो कुछ को छोड़कर बहुत से हृदयों को आघातकारी लगेगा। सामाजिक जीवन के संदर्भ में ही प्रेम को प्रतिष्ठा मिलती है अर्थात उत्तरदायित्वपूर्ण प्रेम ही भव्य और उत्तम है। उत्तरदायित्व में प्रेम के उभयपक्षों का सामाजिक लगाव दिखाई देता है। यह लगाव ही प्रेम की अन्योन्यता को सर्वमान्यता और व्यापकता देता है अर्थात प्रेमाश्रित जीवन, जीवनभूमि में नाना उतार-चढ़ावों को लेकर विकसित होता है। यह प्रेम अपने व्यापकत्व और प्रसार के कारण इतना बड़ा हो जाता है कि उसे सामान्य हृदय अपने निकट अनुभव करता है। इस प्रकार का प्रेम जीवन की नाना समस्याओं का आकलन करते हुए रीतिकाव्य अथवा कलाकाव्य किसी भी रूप में प्रस्तुत हो सकता है। इसके आशय से महाकाव्य का प्रणयन भी संभव है। जीवन और जगत में निरपेक्ष, मात्र प्रेम ही बड़ी अथवा महान कविता का विषय नहीं हो सकता।

काव्य की दृष्टि से रीतियुग में नारीजीवन संबंधी रचनाएँ भारी परिमाण में प्रस्तुत की गईं। नारियाँ जैसे मिलन या विरह के लिए ही समर्पित थीं। बहुत कम कविताएँ ऐसी हैं जिनमें नारी का सामाजिक दायित्व भी दिखाई देता है। हर नायिका किसी न किसी नायक की ओर ही उन्मुख मिलती है। स्त्रियाँ दूती, स्वयंदूती, अभिसारिका आदि अनंत रूपों में दिखाई देती हैं। इन रचनाओं को पढ़ते हुए इस बात पर ध्यान चला ही जाता है कि वह समाज कैसा था? स्वकीयाओं की भी मदनव्यथा जिस प्रकार उभार कर दिखाई गई है उस प्रकार उनके जीवन के सहज और स्वाभाविक पक्ष नहीं उजागर किए गए। नारी का रूप बिहारी के इस दोहे में देखिए :

किती न गोकुल कुलवधू किहि प कहि सिख दीन।
कोनै तजी न कुल गली ह्वै मुरली सूरलीन।

यद्यपि इसमें स्पष्ट ही कृष्ण का मुरली सहित निर्देश है, किंतु कुलगली छोड़ना सामान्य शृंगार की दृष्टि से लोकजीवन के समक्ष क्या आदर्श रखता है। मैं इस प्रसंग में धार्मिक संदर्भ का उद्धरण उचित नहीं मानता। क्या बात है कि रीति-कवियों की दृष्टि कृष्ण के रसिक जीवन पर ही जमी? धर्म में आस्था रखते हुए भी इन कवियों का भक्ति से विशेष सरोकार नहीं था। उनकी रचना को संकेतार्थ में धर्मनिरपेक्ष (!) कहा जा सकता है। इस प्रकार की रचना करनेवाले लोगों में हिंदू और मुसलमान दोनों समुदायों के कवि हैं, जिनकी शैली और वस्तु में विशेष अंतर नहीं मिलता।

हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि कुटनी, दूती, या इसी प्रकार की अन्य नारियां कभी किसी समाज में नहीं होतीं। किसी भी काल में ये पाई जा सकती हैं। इन्हें केंद्रीय महत्व देना सामाजिक दृष्टि से संगत नहीं। उदाहरण के लिए अंग्रेज़ों के आने के बाद समाजसुधारकों के द्वारा आंदोलन किए जाने पर ब्रिटिश शासकों ने सती प्रथा पर रोक लगा दी लेकिन रीतिकाल में सतीप्रथा पूरे जोर पर थी, कोई गाँव शायद ही रहा हो जहाँ 'सती-चौरा' न रहा हो। हमारे इन कवियों में से किसी ने इधर ध्यान नहीं दिया, अनुकूल या प्रतिकूल लिखने की बात ही अलग है। इस बात से भी प्रतीत होता है कि हमारे ये कवि समाज और सामान्य जीवन के चित्रण की अपेक्षा उच्च और अभिजात लोगों के मनोविनोद का ही अधिक ध्यान रखते थे। जैसी रचनाओं से आश्रयदाता और उसकी सभा के जन मुदित होते थे वैसी ही रचनाएँ प्रस्तुत करना इनका कार्य था।

रीतिकाल की शृंगारी रचनाओं के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि एकांगी होती हुई भी ये रचनाएँ अपने आप में पूर्ण है और सौंदर्य की दृष्टि से इनमें आकर्षण भी पर्याप्त

है। किंतु इनका आनंद व्यक्तिगत रूप से लिया जा सकता है सामाजिक रूप से नहीं। कोणार्क और खजुराहो की मूर्तियाँ भी लोगों की आलोचना-प्रत्यालोचना का लक्ष्य रही हैं, किंतु उन मूर्तियों की कला स्वत:संपूर्ण और आकर्षक है। रीतिकालीन कविता की स्थिति भी लगभग उसी प्रकार की है। यद्यपि प्रेम के नाना अर्थों की व्यंजना जितने परिमाण में रीतिकाल में पाई जाती है उतनी किसी भी भाषा के साहित्य में नहीं मिलती, फिर भी इस काव्य का जनजीवन से संबंध नहीं रहा। ये रचनाएँ समाज का रंजन अवश्य करती है, समाज का निर्माण नहीं।

कवि ठाकुर ने रीतियुग में कविता की जो दशा देखी थी उसे इन शब्दों में कहा है

सीखि लीन्हो मीन, मृग, खंजन, कमल नैन,
सीखि लीन्हो जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीन्हो कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिंतामणि,
सीखि लीन्हो मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।।
ठाकुर कहत याको बड़ी है कठिन बात,
याको नहिं भूलि कहूँ बांधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच
लोगन कबित कीबो खेल करि जानो है।

इस कवित्त से बढ़कर इस काल की सम्यक आलोचना नहीं की जा सकती।

यह स्थिति अधिक समय तक नहीं चल सकती थी। 1857 के विद्रोह के बाद लोगों में देश, धर्म और समाज को अच्छी तरह समझने की भावना उदित हुई जिसका परिचय भारतेंदुयुग की कविताओं में मिलता है।

# 9. रीतिकाल का नया मूल्यांकन

रामधारी सिंह दिनकर

जार्ज रसल ने लिखा है कि जब मैं यह जानना चाहता हूँ कि कोई कविता अच्छी है या नहीं, तब मैं अपने-आप से यह प्रश्न करता हूँ कि यह कविता पारदर्शी है या अंधी; अर्थात् जो कुछ है, वह कविता के ऊपर ही है अथवा उसके भीतर भी कुछ दिखलायी पड़ता है। और जब मुझे यह मालूम होता है कि कविता पारदर्शी है, तब मैं अपने-आप से दूसरा प्रश्न यह करता हूँ कि कविता के भीतर मुझे कितनी दूर की चीज दिखायी देती है।

कविता अंधी होने पर भी खूबसूरत हो सकती है, जैसी शीशे पर अगर रंगों से सघन चित्रकारी कर दें तो शीशे के भीतर तो कुछ दिखायी नहीं पड़ेगा, लेकिन, चित्रकारी खूबसूरत जरूर होगी। परन्तु, यह कारीगरी उस कारीगरी की बराबरी नहीं कर सकती, जिसके द्वारा शीशे पर रंगीन चित्र भी बनाये जाते हैं और उसकी पारदर्शिता भी मारी नहीं जाती है।

यह सत्य सिर्फ रसल को सूझा हो, सो बात नहीं है। रसल से पहले और संसार के अन्य देशों से भी बहुत पूर्व, भारत में यह प्रश्न उठा था कि कविता की आत्मा क्या है और इस प्रश्न के उत्तर में जिस आचार्य ने अतंकार को काव्य की आत्मा माना, उसकी आँख कविता की अंधी चित्रकारी से टकराकर रह गयी थी। तब वामन आये, जिन्होंने कहा, कविता की आत्मा रीति है। रीति काव्य की पारदर्शिता का पूरा प्रतिमान नहीं थी, फिर भी, वामन छिलके से बीज की ओर जाने का संकेत कर रहे थे, स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म और निराकार की खोज कर रहे थे। किन्तु, जब आचार्यों के कदम ध्वनि की भूमि पर आये, कविता की असली आत्मा का पता उन्हें चल गया। इस प्रकार, कविता के सम्बन्ध में आनन्द-वर्धन को जो सूक्ष्म ज्ञान नवीं सदी में प्राप्त हुआ, उससे अधिक बारीकी पर दुनिया आज भी नहीं पहुँची है। शायद, ध्वनि से आगे बारीक तत्त्व कविता में और कोई है ही नहीं।

इसी बात को हम एक दूसरी भाषा में भी रख सकते हैं कि अच्छी कविता की पहचान यह है कि उसे पढ़कर मनुष्य के हृदय में एक प्रकार की बेचैनी या जागृति स्फुरित होती है और उसका मन भीतर-ही-भीतर किसी यात्रा या पर्यटन पर निकल पड़ता है। यह आवश्यक नहीं है कि यह यात्रा या पर्यटन उन्हीं अर्थों तक सीमित रहे, जो कविता के शब्दों में सन्निहित हैं। असली वस्तु शब्दों के अर्थ नहीं, संकेत हैं और संकेत तो शब्द दूर तक का दिया करते हैं।

ऊँची कविताओं का एक अन्य लक्षण यह भी है कि जिस युग में उनकी रचना की जाती है, उस युग की शीतलता अथवा दाह का प्रमाण उनके भीतर मौजूद रहता है। कविताएँ बराबर वर्त्तमान की कुक्षि से पैदा होती हैं और वर्त्तमान से उठकर ही उनकी झंकार अतीत और भविष्य का स्पर्श करती है। ऐसा नहीं है कि कवि को अपने युग के वातावरण का ख्याल जान-बूझ कर करना पड़ता हो; बल्कि, जान-बूझ कर ख्याल करने की जरूरत तो उसे तभी होगी जब वह अपने समय से बचना चाहेगा। समय का वातावरण काव्य के पौधे की खाद है और सत्कवि उससे भागने की कोशिश नहीं करता। जिसे हम शाश्वत और चिरंतन कहते हैं वह किसी एक युग की संपत्ति नहीं है। वह प्रत्येक युग में वर्त्तमान रहता है और प्रत्येक युग उसकी व्याख्या अपनी भाषा और अपने मुहावरों में किया करता है। कवि के हृदय में आलोड़न समकालीन परिस्थितियों के कारण होता है और कवि-कर्म में प्रवृत्त भी उसे अपना समय ही करता है, क्योंकि जो कुछ वह कहनेवाला है, असल में, वह काल की ही शंकाएँ या समाधान हैं और काल के हृदय में जिस हर्ष, शोक या उल्लास की लहर चल रही है, उसी को अभिव्यक्ति देने के लिए वह अपने कवि के आगमन की प्रतीक्षा करता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर हम वैदिक काव्य तथा रामायण और महाभारत को बहुत ऊँचा पाते हैं, क्योंकि इन कविताओं में पारदर्शिता बहुत अधिक है और उनके भीतर से जीवन की बहुत बड़ी गहराई साफ दिखाई पड़ती है। इसके सिवा, उनसे यह भी ज्ञात होता है कि जिस युग में काव्य रचे गये, उस युग में यह देश समाज-संगठन के आदर्शों को लेकर और अगोचर सत्यों का पता लगाने के लिए भयानक संघर्ष कर रहा था। उपनिषदों का समय शंका, जिज्ञासा, चिंतन और बौद्धिक कोलाहल का समय था। अंतिम सत्य क्या है, इसे जानने के लिए उस युग के ऋषियों ने इतना अधिक चिंतन किया कि उपनिषदों में कहीं-कहीं हमें उनके दिमाग के फटने की-सी आवाज सुनायी पड़ती है और चूँकि, यह साहित्य बौद्धिक एवं भौतिक, दोनों ही प्रकार के अप्रतिम, संघर्षों के सान्निध्य में लिखा गया, इसलिए, उस साहित्य से हमें आज भी प्रेरणा मिलती है, बल्कि, तीन-चार हजार वर्षों से यही साहित्य सारे भारतीय साहित्य का उपजीव्य रहा है।

किन्तु, यह संघर्ष जब समाप्त हो गया, भारतीय जीवन अपेक्षाकृत कुछ अधिक शान्त वातावरण में जा पहुँचा और तब हमारे कवि कालिदास हुए। कालिदास के विषय पुराने, कहने की शैली नवीन है। मगर, वे क्लान्त जाति के कवि नहीं हैं। वे उस जाति के कवि है जिसने सांसारिक समृद्धि और आध्यात्मिक शंकाओं का समाधान प्राप्त कर लिया है और जो अब जरा पाँव फैलाकर आराम कर रही है।

प्रत्येक साहित्यकार चाहता है कि वह काल का अनुगमन नहीं, नयन करें; उसकी सीमा में आबद्ध नहीं रहकर उसका अतिक्रमण कर जाए। मगर, काल का नयन और अतिक्रमण वह तभी कर सकता है जब एक बार काल उसे जगाने की सामग्री तैयार कर दे, जब समाज के भीतर संघर्ष अथवा असंतोष की आग थोड़ी जमा हो जाय। कालिदास के बाद (अगर चौथी शती में उनका होना सही है) भारतीय समाज की आग बुझने लगी, संघर्ष का तनाव ढीला होने लगा और रूढ़ियों ने इस देश को जकड़ना शुरू कर दिया। समृद्धि और निश्चिन्तता की स्थिति तथा भय एवं बेचैनी के अभाव का यह स्वाभाविक परिणाम है कि वह जातियों को शिथिल बना देता है। कालिदास के बाद का साहित्य शिथिल जाति का साहित्य है, जिसमें काव्य रीतियों में बँधता जाता है और दो-दो पृष्ठ के लम्बे-लम्बे वाक्य साहित्यकार की श्रेष्ठता का प्रमाण बन जाते हैं। जिसके सामने संघर्ष नहीं, वह साज-सज्जा और रंगीनियों के चक्कर में पड़ जाता है। जब समाज कवि को अनुभूतियाँ नहीं देता, तब कवि दूर की कौड़ियाँ जमा करके अपना चमत्कार दिखाने लगता है। उचित तो यह है कि ऐसे समय में वे कवि आयें, जिनकी जबान कोड़ा और शब्द तीर हों; किन्तु, यह प्राचीन भारत का दुर्भाग्य रहा कि उसने कोई भी ऐसा कवि उत्पन्न न किया, जो यह कहने का साहस करे कि मैं अन्याय का विरोध करने आया हूँ। माघ और श्रीहर्ष की कविता संस्कृत की श्रेष्ठ कविताओं में गिनी जाती है, किन्तु, उसके भीतर मनुष्य को प्रेरित या आन्दोलित करने का गुण नहीं है। जिस कविता में ध्वनि मौजूद हो, उसके सम्बन्ध में यह कैसे कहा जाए कि वह पारदर्शी नहीं है? किन्तु, इन कविताओं में उस आध्यात्मिक संघर्ष का अभाव है, जो मनुष्य की मानसिक जड़ता का नाश करता है। व्यास और वाल्मीकि कवि थे, जो पहाड़ों को तोड़कर जिन्दगी के लिए रास्ते बनाते थे; बाण, श्रीहर्ष और माघ कलाकार हैं, जो छोटे-छोटे पत्थरों को घिसकर उन्हें चिकना करते हैं। कवि तब उत्पन्न होते हैं जब समाज प्रगति पर होता है; कलाकार उस समय भी आते हैं जब समाज के पाँव बँध जाते हैं।

और छठीं सदी के बाद भारत के पाँव बँध गये और नयी-नयी भूमियों की ओर बढ़ने की उसमें प्रेरणा नहीं रही। तब से लेकर 16वीं सदी तक विद्या के सभी अंगों को छोड़कर इस देश के पंडित, मुख्यतः, या तो काव्यशास्त्र की रचना करते रहे अथवा मनुष्यों को बाँधने के लिए ऐसे धर्मशास्त्र बनाते रहे, जिनके कारण आगे चलकर भारतीय समाज बिलकुल भीरु हो गया।

मनुष्यों को प्रेरित करनेवाला साहित्य भारत में फिर तब उदित होने लगा जब भाषा में भक्ति-आन्दोलन के कवि उत्पन्न हुए। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, कालिदास, कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, भारतेन्दु, पंत, निराला, प्रसाद और महादेवी, इनके पास वह

साहित्य है, जिसमें ताजगी है, जो मनुष्य को प्रसन्न ही नहीं, जाग्रत भी करता है तथा जो अपने समय के आलोड़न से निकला हुआ नवनीत है। किन्तु, रीतिकालीन साहित्य मे ऐसा अंश बहुत कम है, जिसमें अपने समय का ताप हो अथवा जिसके भीतर तत्कालीन समाज की भावनाओं का प्रतिबिम्ब मिलता हो या जिसमें यह ताकत हो कि वह पढ़नेवालों के मन को किसी यात्रा पर भेज सके। ध्वनि के उदाहरण तो रीतिकाल में बहुत हैं, मगर, उनका असर इतना ही है कि काग इस डाल से उड़कर उस डाल पर बैठ जाता है, मन को किसी दूर दिशा में ले जाने की शक्ति रीतिकाल की कम रचनाओं में मिलती है। रीतिकाल की सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि उससे यह मालूम ही नहीं होता कि उस युग के साहित्यकार समाज की समस्याओं से परिचित थे अथवा उन्हें इस बात का ज्ञान भी था कि समाज की समस्याएँ हुआ करती हैं। ऐसा लगता है कि रीतिकालीन कवियों के मन के किसी भी स्तर पर कोई सवाल नहीं था, जिसका उत्तर खोजने को वे संघर्ष में पड़ते अथवा किसी प्रकार की द्विधा और द्वन्द्व का सामना करते। उनका ध्यान जीवन पर नहीं, कला पर है, काव्यशास्त्र की गुत्थियों पर है और उन्हीं को समझाने के लिए उक्तियों और चित्रों का निर्माण करके वे निश्चिन्त हो जाते हैं। तत्कालीन समाज के हृदय में जो शंकाएँ रही होंगी, लोग जिन समाधानों की कामना कर रहे होंगे, रीतिकाल के कवियों को वे सुनायी नहीं पड़े। इनमें से अधिकांश कवियों के कान संस्कृत के काव्यचार्यों की ओर थे, अतएव, जो कुछ उन्होंने सुना, वह इन्हीं पोथियों की आवाज थी, जिन्दगी की शंकाएँ नहीं। अथवा उसे हम शुद्ध कला का स्वर भी कह सकते हैं।

काव्यशास्त्र की साधना संस्कृत में, प्रायः, एक हजार वर्ष तक होती रही और इस दीर्घ साधना के कारण यह विषय भारत में आनन्दमय हो उठा। किन्तु, इस साधना से एक दुष्परिणाम भी निकला कि समाज में पंडितों और आलोचकों का आदर देखकर देश के कवियों का भी मन डोल उठा और वे रचना के सुयश को गौण मानकर आलोचना की कीर्ति के लिए लालायित हो उठे। इलियट ने कहा है कि जब-जब आलोचना की वृद्धि होती है, तब-तब रचना का ह्रास होने लगता है। भारत में साहित्य का जैसा इतिहास रहा है, उसे देखते हुए इलियट की यह उक्ति बहुत ही सटीक मालूम होती है। पहले यह रोग संस्कृत में फैला और वहाँ से वह हिन्दी में आन पहुँचा और यह भी हुआ कि अनुकरण में असली के गुण तो कम आये, मगर, उसके दोष बहुत अधिक मात्रा में आ गये।

रीतिकाल की निन्दा कोई नयी चीज नहीं है। इसका आरम्भ उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में स्वयं ठाकुर ने किया था; और जिस कवि ने 'ऐती झूठी जुगती बनावै औ कहावै कवि'

कहकर कवि की हँसी उड़ायी थी, उसके सामने भी रीति का ही कोई उदाहरण रहा होगा। रीतिकाल की सबसे बड़ी निन्दा की बात तो यह है कि उसके उत्तराधिकारी भारतेन्दु ने उस क़ाल को लाँघकर अपना स्वर भक्तिकाल से मिलाने की कोशिश की और तब से आज तक प्रत्येक साहित्यिक आन्दोलन रीतिकाल को लात मार कर लोगों की वाहवाही पाता आया है। प्रताप नारायण मिश्र, पं. महावीरप्रसाद द्विवेद्वी और मदनमोहन मालवीय, उन्नीसवीं सदी के अन्त तक, प्राय: अनेक अच्छे लोग रीतिकालीन काव्य के विरोधी हो गये थे और छायावाद की स्थापना के समय तो नये कवि रीतिकाल को कोसने में, शायद ही, कभी चूके हों।

किन्तु, रीतिकाल की निन्दा चाहे जितनी भी की जाए, हिंदी-कविता के इतिहास में उसका एक महत्त्व है और यह महत्त्व तब भी न्यून नहीं होता जब हम यह कहते हैं कि रीतिकालीन कवि इस अनुभूति तक पहुँच ही नहीं सके कि कवि का कर्म केवल मनोरंजन ही नहीं, समाज की चेतना को आलोड़ित करना भी होता है। यह अनुभूति कबीर और दूसरे निर्गुनियाँ संतों में थी, क्योंकि वे अपना लक्ष्य जानते थे; क्योंकि उन्हें यह ज्ञात था कि उन्हें केवल अपना ही मोक्ष खोजना नहीं, बल्कि, वर्णाश्रम-धर्म और मूर्तिपूजा के खिलाफ जनमत को जाग्रत करना है। यह अनुभूति तुलसीदास में थी क्योंकि उनका यह उद्देश्य छिपाये नहीं छिपता कि भगवान की उपासना करने के साथ उन्हें उस आन्दोलन को भी कमजोर करना है, जो वर्णा-श्रमधर्म के विरुद्ध चला आ रहा था। किन्तु, रीतिकाल के कवि ही नहीं, उसकी जनता भी यह नहीं जानती थी कि समाज के सामने सामने कोई समस्या मौजूद है, जिसका हल खोजना जरूरी है। भूषण रीतिकाल के प्रमुख कवि थे और समाज की एक समस्या के पास वे पहुँच भी गये थे, किन्तु समाज को आलोड़ित करने की राह उन्हें नहीं मिली और वे भी वृहत् हिन्दू राष्ट्रीयता की कल्पना नहीं कर सके, केवल शिवाजी का गुण गाकर रह गये। निर्गुनियाँ संतों की परम्परा इस समय भी कायम थी, मगर, उनका मंच समाज के निम्नतम स्तर पर था; ऊपर के स्तरों पर केवल वे लोग थे, जो वर्णा-श्रमधर्म के समर्थक थे, जो धार्मिक रूढ़ियों के प्रतिपालक थे और जो खाने-पीने से सुखी होने के कारण अथवा भाग्य वाद में अटल विश्वास रखने के कारण किसी तरह का विक्षोभ उठाने की बात सोच भी नहीं सकते थे। रीतिकालीन कवि इसी वर्ग के कवि थे, अतएव, वे द्रष्टा अथवा उद्बोधक नहीं बन सकते थे। तड़प, बेचैनी और वेधकता वाला साहित्य उस साहित्यकार की कलम से नहीं निकल सकता, जिसके सामने संघर्ष का कोई मैदान नहीं है, जिसके सामने कोई ऐसा सवाल नहीं है, जो उसके अपने हृदय को जाग्रत और बेचैन रखता हो। रीतिकालीन कवियों को मानसिक आन्दोलन से पूरा अवकाश था। एक यह भी कारण है कि वे निर्द्वन्द्व होकर केवल शैली की साधना में लग सके और इसमें

कोई संदेह नहीं कि कला-पक्षा में उन्होंने जो चमत्कार उत्पन्न किये, वे हिन्दी में बेलकुल बेजोड़ हैं। सौन्दर्य और कला के वे ऐसे एकान्त उपासक निकले कि किसी को उपदेश की बात उन्हें कभी सूझी ही नहीं।

एक तरह से देखिये तो रीतिकालीन कवियों की निन्दा उस समाज की निन्दा है, जिसने उन्हें उत्पन्न किया था। कविता आकाश से नहीं टपकती। यह समकालीन समाज के भीतर से उत्पन्न होती है और उसपर उस समाज के रसिकों की रुचि की भी पूरी छाप होती है। कविता लिखने वालों की भावदशा और प्रवृत्ति बहुत-कुछ वैसी ही होती है, जैसी उन लोगों की, जो प्रत्येक युग में कविताएँ पढ़ा या सुना करते हैं। रीतिकाल के कविगें ने कविता के जिन गुणों पर ज़ोर दिया है, उस काल कें पाठकों की दृष्टि में वे ही गुण कविता के सबसे बड़े मूल्य रहे होंगे। शब्दों की सजावट, यमक और श्लेष का चमत्कार, दूर की कौड़ी लानेवाली निगूढ़ कल्पनाएँ, अतिशयोक्ति और हास्यवाद प्रशस्तियाँ, नारी के एक-एक अंग को अनेक उपमाओं के दर्पणों में अलग-अलग दिखाने का आग्रह और प्रत्येक कबित्त एवं सवैये में पहली तीन पंक्तियों में जैसी-तैसी तैयारी और उक्ति की सारी वेधकता को समेटकर चौथी पंक्ति में केन्द्रित कर देने का प्रयत्न, ये बातें रीतिकाल के पाठकों को बहुत पसन्द रही होंगी, अन्यथा हम उस काल के कवियों में कविता को इन गुणों से सजाने का इतना सचेष्ट प्रयास नहीं देखते।

किन्तु आज के पाठकों की पसन्द बदली हुई है। रीतिकाल के कवियों ने उन सभी सामग्रियों पर अधिकार रखा, जिनसे कविता सजायी जाती है अथवा जिनसे उसकी शक्ति में वृद्धि होती है; केवल उसी तत्त्व को उन्होंने छोड़ दिया, जिससे कविता का जन्म होता है। लकड़ियाँ उन्होंने अच्छी-से-अच्छी जमा कीं, केवल हृदय की आग की कमी रह गयी, जिससे ज्वाला उठी नहीं। रीतिकाल की कविताएँ बुरी नहीं, निस्तेज हैं। इस काल में रूप की सृष्टि तो हुई, किन्तु, कवियों ने अपने हृदय की बेचैनी नहीं लिखी और घनानन्द तथा बोधा को छोड़ दें तो ऐसा लगता ही नहीं कि रीतिकाल के कवियों का अपना भी कोई प्रेम था। वे रचनाएँ काव्यशास्त्र के उदाहरणों के लिए लिखते हैं, अपने-आपको अभिव्यक्त करने अथवा अपनी वेदना से मुक्ति पाने के लिए नहीं।

रीतिकाल का दोष उसकी शृंगारिकता नहीं, यही निर्जीवता और नकलीपन है। विद्यापति और चंडीदास कम शृंगारिकता नहीं हैं, किन्तु, उनकी शृंगारिकता के पीछे उनका प्रेम उपस्थित है, वह वासना उपस्थित है, जो पुरुष में नारी के लिए और नारी में पुरुष के लिए विद्यमान रहती है। इस वासना की अभिव्यक्ति की सचाई और सीधापन विद्यापति के शृंगार को स्वाभाविक बनाये हुए हैं।

ततहि धाओल दुहुँ लोचन रे,
जतए गेलि वर नारि।
आसा लुबुध न तेजइ रे,
कृपनक पाछु भिखारि।

यह शृंगार की कविता है और इसकी महिमा का कारण ही यह है कि यहाँ कवि ने अपनी वासना को छिपाने की चेष्टा नहीं की है। किन्तु, रीतिकाल में ऐसी स्वाभाविकता नहीं मिलती। वहाँ बराबर राधाकृष्ण अथवा आश्रयदाता राजा की आड़ ली जाती है।

और आज का पाठक अनुभूति की सचाई पहले माँगता है, अभिव्यक्ति की सजावट का ख्याल पीछे करता है। यानी लकड़ियाँ चाहे जैसी भी हों, आग में गर्मी खूब होनी चाहिए। कविता की नवीनतम धारा में समावट के लिए जगह बहुत थोड़ी रह गयी है। रीतिकाल के कवियों ने इस बात का पता लगाया कि कौन वे उपकरण हैं, जिन्हें सजाने से कविता समृद्ध दीखने लगती है। आज के कवि यह जानना चाह रहे हैं कि कौन वे उपकरण हैं, जिन्हें छोड़कर भी कविता कविता रह सकती है। रीतिकाल का सौन्दर्य आकलन, संचय और परिग्रह का सौन्दर्य था; आज की कविता का सौन्दर्य त्याग और अपरिग्रह का सौन्दर्य है। जो नायिका पहले प्रसाधन और अलंकार से अंगों को सजे बिना घर से बाहर पाँव नहीं धरती थी, वह अब सिर्फ इस भरोसे से बाहर घूम रही है कि लोहू की स्वस्थ लाली से बढ़कर दूसरा सौन्दर्य नहीं है। शैली की दृष्टि से कविता छन्द को छोड़ना तो क्या, निखालिस गद्य के पास पहुँच जाए, नये आलोचक इसमें भी कोई हर्ज नहीं देखते, बशर्ते कि गद्य-कल्प पंक्तियाँ मनुष्य के मन में उस स्थिति को उत्पन्न करने में समर्थ हों, जो स्थिति अब तक कविता से उत्पन्न की जाती रही है। श्लेष, यमक और अनुप्रास के लिए अब कवि की प्रशंसा नहीं की जाती। अब तो पाठक की श्रुति-चेतना इतनी परिष्कृत हो गयी है कि वह गरजती हुई तुकों को बर्दाश्त ही नहीं कर सकती। अतः उसकी रुचि के अनुकूल अंत्यानुप्रास लघ्वंत होने लगे हैं।[1]

किन्तु, क्या इतना वैषम्य हो जाने से रीतिकाल की कविताएँ आज के पाठकों के पढ़ने की चीज नहीं रह गयी है? और स्मरण रहे कि पढ़ने से मेरा अभिप्राय परीक्षोपयोगी अध्ययन से नहीं, प्रत्युत, अंतःसुख के निमित्त किये जानेवाले पारायण और आवृत्ति से है। रीतिकाल और आज की रुचियों में बहुत बड़ा फर्क आ गया है, किन्तु एक बात को लेकर दोनों में अब भी समानता है और वह यह है कि रीतिकाल के कवि भी इतिहास, दर्शन या

1 उदाहरण के लिए देखिये पंत जी की कविताएँ।

कोकशास्त्र नहीं लिखकर कविता ही लिख रहे थे और आज का पाठक कविता के अनावश्यक उपकरणों को भले ही छोड़ दे, किन्तु,जो कविता का मुख्य तत्त्व है, उसे छोड़ने को वह भी तैयार नहीं है। कविताओं में परिवर्तन तो प्रत्येक युग में होता है। फिर भी, सभी युगों की कविताएँ आपस में एक हैं, क्योंकि वे सब-की-सब उस एक ही दृष्टिकोण को लेकर चलती हैं, जो वैज्ञानिकों से भिन्न, कवियों का दृष्टिकोण है। और कविताओं का आदर सदैव एक ही मूल्य के कारण नहीं होता। जो कविता आज सामाजिकता के कारण पढ़ी जाती है, संभव है, कल वह छन्द के लिए पढ़ी जाए अथवा सिर्फ यह देखने के लिए कि जिस युग का इतिहास ऐसा है, उस युग की कविता कैसी रही होगी।

कविता के प्रेमियों के लिए रीतिकाल मृत नहीं, सजीव है तथा उसकी भी कितनी ही कविताओं में वही रस और आनन्द विद्यमान है, जिसके लिए हम नवयुग के काव्यरसिक इतने लालायित रहते हैं। हाँ, रीतिकाल का हमारे लिए वही महत्त्व न रहा, जो तत्कालीन रसिकों के लिए रहा होगा; न हम उससे ठीक वही आनन्द ले सकते हैं, जो आनन्द उन रसिकों को मिलता होगा। सच तो यह है कि हम जब भी पीछे की ओर मुड़ते हैं, हमारी आज की रुचि हमारे साथ रहती है और रीतिकाल की भी वे ही पंक्तियाँ हमें आकृष्ट करती हैं जिनमें उन कविताओं के थोड़े-बहुत गुण हैं, जो हमारे अपने समय में लिखी जा रही हैं। यह गुण है कविता में कवि की आत्मविभोरता का प्रमाण, जिसके पास आते ही पाठक भी आत्मविभोर हो जाए ; यह गुण है कविता में संकेत भरने की वह अदा, जिससे पाठक के भीतर चिन्तन का द्वार उन्मुक्त हो जाए और वह उन सपनों को देखने लगे जो शब्द के अर्थ से नहीं, संकेत से उत्पन्न होते हैं। यह गुण है कवि में चित्रकारी की योग्यता जिससे पाठक उस चित्र को आसानी से देख ले जो कवि को दिखलायी पड़ा है। और यह गुण है छन्द को उस तरह से सजाने की शक्ति जिससे पाठक का ध्यान श्लेष, यमक, अनुप्रास और कल्पना की रूहता में नहीं फँसकर उस मुख्य अनुभूति पर बना रहे, जो छन्द का कथ्य विषय है। अनुभूति की सचाई, अभिव्यक्ति की सरलता तथा चुटीलापन और चित्रों की सुस्पष्टता, ये कुछ मुख्य गुण हैं, जो आज के पाठकों को प्रभावित करते हैं और जिनकी कसौटी पर कसे जाने पर रीतिकाल सर्वथा शून्य नहीं हो जाता, अनेक कविताओं के खण्डित हो जाने पर भी, ऐसी काफी कविताएँ बच जाती हैं, जिन्हें हम प्रथम कोटि से नीचे नहीं डाल सकते। हाँ, यह बात दूसरी है कि बहुत-सी ऐसी कविताएँ हमें महाकवियों में कम, कुछ दूसरे कवियों में अधिक मिलेंगी। सच तो यह है कि आज के पाठकों की रुचि का ख्याल रखा जाए तो नये मूल्यांकन में अनुभूति की तीव्रता के कारण घनानन्द, बोधा और ठाकुर तथा रसखान अपने वर्त्तमान पद से कहीं ऊँचे हो जायँगे और केशव-जैसे कवियों का स्थान कुछ नीचे चला जायेगा।

कहानी में जो स्थान मनोविज्ञान का है, कविता में वही स्थान चित्र को दिया जाता है और यह ठीक भी है, क्योंकि चित्रमयता ही कविता को विज्ञान से अलग करती है। दार्शनिकता और इतिहासकार जिस ज्ञान को सूचना के भंडार में जमा करते हैं, कवि उसी ज्ञान को चित्र बनाकर लोगों की आँखों के आगे तैरा देता है। जो ज्ञान चित्र में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, वह कविता के लिए बोझ बन जाता है। इसलिए, जिस कविता में जितने अधिक चित्र उठते हैं, उसकी सुन्दरता भी उतनी ही अधिक बढ़ जाती है। रीतिकाल की और चाहे जो निन्दा की जाए, किन्तु, इतना माने बिना नहीं चल सकता कि यह वह काल है जबकि हिन्दी के कवियों ने पहले-पहल यह अनुभव किया वे कलाकार हैं और कला के पीछे अभ्यासयुक्त साधना का होना आवश्यक है। रीतिकाल के कवियों ने जीवन को छोड़ दिया था, किन्तु, सजावट और मजावट और में वे इतने पटु निकले कि साहित्य में सबसे अधिक साफ तसवीरें उन्होंने तैयार कीं। आज आलोचना में चित्रकारी की महिमा सबसे ऊपर मानी जा रही है। अगर यही कसौटी हम रीतिकाल पर लगायें तो रीतिकाल हिन्दी का बहुत ही सफल काल समझा जायगा। कविता के कला-पक्ष का मार्जन इस युग में इतना अधिक हुआ कि साधारण कवि के मुख से निकलने वाले छन्द भी देखने और सुनने लायक हो गये और कभी-कभी तो चित्रकारी ऐसी सजीव हो उठी कि ऊँची-ऊँची कविताएँ उसके सामने फीकी लगने लगीं। बिहारी के दोहों में न तो कोई बड़ी अनुभूति है, न कोई ऊँची बात; सिर्फ लड़कियों की कुछ अदाएँ हैं; मगर, कवि ने उन्हें कुछ ढंग से चित्रित कर दिया है कि आज तक रसिकों का मन कचोट खाकर रह जाता है। जो लोग कविता में सिर्फ ऊँची अनुभूति और ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातों की तलाश में रहते हैं, बिहारी की कविताओं मे उन्हें अपने लिए चुनौती मौजूद मिलेगी। बिहारी की कविताओं में से आलोचना का वह सिद्धान्त आसानी से निकाला जा सकता है कि कविता की सफलता भाव या विचार की ऊँचाई से नहीं, प्रत्युत, कला और कारीगरी की पूर्णता से है। कविता 'रामचरितमानस' में भी सफल हो सकती है और 'बिहारी-सतसई' में भी और दोनों सफलताएँ अपने-अपने स्तर पर अद्‌भुत और महान् हैं।

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाई,
सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै, नटि जाई।
नासा मोरि, नचाइ दृग, करी ककी की सौंह,
काँटे-सी कसकति हिये, अजौं कटोली भौंह।
कंजनयनि मंजन किये, बैठे ब्यौरति बार,
कच अंगुरिन बिच दीठि दै, चितवति नंदकुमार।

भौंहनि त्रासति, मुख नटति, आँखिन सों लपटाति,
ऐंचि छुड़ावति कर इंची, आगे आवत जाति।

और चित्रकारी में कमाल केवल बिहारी को ही हासिल नहीं है, रीतिकाल के छोटे और बड़े प्रत्येक प्रकार के कवि में यह कला विलक्षण रूप से सफल दीखती है।

अलक मुबारक तिय बदन, लटकि परी यों साफ,
खुसनवीस मुन्सी मदन, लिख्यो काँच पर काफ।

X X X

भादौं की कारी अँध्यारी निसा लखि
बादर मंद फुही बरसावै।
स्यामाजी आपनी ऊँची अटा पै
छकी रसरीति मलारहि गावै।
ता समै नागर के दृग दूरि ते
चातक स्वाति की मौजहि पावै।
पौन मया करि घूँघट टारै,
दया करि दामिनि दीप दिखावै।

-नागर

पोंछि कपोल अँगोछत ओंठ
अमेठति आँखिन ऐंठति भौंहे।

-सुन्दर

पावत न हेरे तेरे जस में हिराने निज
गिरि को गिरीस हेरैं, गिरिजा गिरीस को।

-भूषण

घूँघट को पट ओट किये
पट ओट दिये पिय को मुख देखै।

-मतिराम

पाछे-पाछे आवत अँध्यारी-सी भँवर-भीर
आगे फैल रही उजियारी मुखचंद की।

-मतिराम

ह्वै रही ठोर ही ठाड़ी ठगी-सी,
हँसे क़र ठोढ़ी दिये ठकुराइन ।

× × × ×

लोहू पियो जू वियोगिनी को
सु कियो मुख लाल पिसाचिनि प्राचो।
नैननि हँसाइ नेकु नीवी उकसाइ, हँसि ।
ससिमुखी सकुचि सरोवर ते निकसी।

देव

मों हिय माँह गयी जड़ि बाकी
बड़ी-बड़ी आँखि जुटी-जुटी भौंहैं।

- श्रीपति

लाल माँग पटिया नहीं, मदन जगत के मार,
असित फरी पर ले धरी, रकत भरी तरवार।
दाग सीतला को नहीं, मृदुल कपोलन चारू,
चिन्ह देखिय ईठ की, परी दीठ के भार ।

रसलीन

ये कुछ नमूने हैं, जहाँ-तहाँ से जमा कर दिये गये हैं। ऐसे चित्र रीतिकालीन कविता में सौ नहीं हजार होंगे। फिर भी, केवल चित्र को देखा जांय तो बिहारी और पदमाकर, इन दो कवियों का स्थान रीतिकाल के अन्य सभी कविदमायों से ऊपर चला जायगा। पदमाकर भाटों की कृपा के कारण कुछ बदनाम से हो गये हैं जैसे सारंगी कुसंगति में जाकर अपना आदर खो बैठी है । किन्तु जिस दिन भी कोई चतुर आलोचक चित्रकारी की कसौटी पर हिन्दी कवियों को कसेगा, उस दिन पदमाकर की महिमा प्रकाशमती हो उठेगी, उसमें सन्देह नहीं। बिहारी की चित्रकारी दोहों की छोटी जमीन पर है, इसलिए कसावट और चुस्ती उनके चित्रों में ज्यादा मिलती है। मगर, पदमाकर ने भी सवैयों और कवितों की चौड़ाई को व्यर्थ नहीं जाने दिया, उनके एक-एक बंद का पूरा उपयोग किया है।

पदमाकर ने होली खेलकर लौटनेवाली एक नायिका का वर्णन किया है, जो एक पूरे कविता में है। कवित का चित्र-पट कुछ बड़ा होता है और बड़े पट को भरने के लिए चित्रकार

कभी-कभी ऐसी रेखाएँ भी खींच देते हैं, जिनकी कोई खास जरूरत नहीं होती। किन्तु पद्माकर ने पूरी जमीन का ऐसा उपयोग किया है, मानों, यह सब-की सब आवश्यक रही हो।

आयी खेलि होरी घरैं नवलकिसोरी कहूँ
बोरी गयी रंग में सुगंधनि झकौरे है।
कहै पदमाकर इकंत चलि चौकी चढ़ि
हारन के बारन के फंद-बंद छोरै है।
घाँघरे को घूमुनि सु ऊरुनि दुबीचै दाबि,
आँगी हूँ उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दंतन अधर दाबि दूनरि भई सी चाँपि
चौहर पचौहर कै चूनर निचोरे है।

सुगंध की झकोर तूलिका के लिए भी सूक्ष्म वस्तु होती, मगर, कवि के शब्दों ने उसे ठीक-ठीक आँक दिया।

इसी प्रकार, माँ का दूध पीने के लिए हठ करते हुए बालकृष्ण की जो झाँकी पद्माकर ने उतारी है, वह अपनी सजीवता के कारण कवि की चित्रकला का अद्भुत उदाहरण बन गयी है।

देखु पदमाकर गोबिन्द को अमित छबि
संकर-समेत विधि आनन्द सों बाढ़ो है।
झिझिकत झूमत मुदित मुसुकात गहि
अंचल की छोर दोऊ हाथन सों आढ़ो है।
पटकत पाँय होत पैंजनी झुनुक रंच
नेकुं-नेकु नैनन तें नीरकन काढ़ो है।
आगे नंदरानी के तनक पय पीवे काज
तीन लोक ठाकुर सो ठुनुकत ठाढ़ो है।

पद्माकर के हाथ में जो कलम थी, वह विचार कम, चित्र अधिक उठाती थी। दोनों में श्रेष्ठ कौन है? विचार उठानेवाली या चित्र बनाने वाला ? कहना कठिन है। किन्तु जहाँ काव्य कला का पर्याय माना जाता है, वहाँ चित्रकारी कविता का बहुत बड़ा गुण बन जाती है। और चित्र तो पद्माकर हर घुमाव पर खड़ा कर देते हैं।

हेरि हरे मुसकाय रही,
अँचरा मुख दै वृषभानुकिसोरी।

× × × × × ×

नैन नचाइ कह्यौ मुसुक्साइ।
लला फिर आइयो खेलन होरी।

× × × × × ×

एक पग भीतर रु एक देहरी पै धरै
एक कर कंज एक कर है किवार पर।

× × × × × ×

हारन तैं हीरा सेत सारी किनारन तैं
बारत तैं मुकुता हजारन झरत जात।

× × × × × ×

कैंधौ अरबिंद में मलिंद-सुत सोयौ आनि
ऐसो तिल सोहत कपोल की लुनाई में,
कैधों परयो इंदु में कलिंद-जल-बिंदु आइ
गरक गुविंद किधौ गोरी की गुराई में।

× × × × × ×

ज्योति को जाल बिसाल महा
तिय लाल पै लाल गुलाल को टीको।

× × × × × ×

आँखै अधखुली अधखुली खिरकी है खुली
अधखुले आनन पै अधखुली अलकैं।

चित्रकारी की कसौटी अगर कविता की बड़ी कसौटी है तो यह कसौटी रीतिकाल पर भी लागू की जानी चाहिए; क्योंकि यह एक ऐसी कसौटी है, जिसपर रीतिकाल के अधिक-से-अधिक

कवि खरे उतरते हैं। और सच पूछिए तो इसी कसौटी की आशा में उन्होंने अपनी सारी-की-सारी कविताएँ लिखी होंगी। चित्रकला की कसौटी रीतिकाल के साथ न्याय करने की सबसे अनुकूल कसौटी होगी।

हिन्दी के अत्याधुनिक कवियों का ध्यान चित्र के महत्व पर जा रहा है, यह प्रसन्नता की बात है। किन्तु चित्रकारी केवल अंग्रेजी के इमैजिस्ट कवियों की ही थाती नहीं, उसका एक अतुल भंडार बिहारी और पद्माकर के भी पास है, प्रत्युत, यह कहना चाहिए कि रीतिकाल के हरएक कवि के पास यह दौलत किसी-न-किसी मात्रा में मौजूद है।

नये पाठकों की दूसरी दिलचस्पी ध्वनि और संकेत से है। वे कविता पढ़कर अर्थ तक सीमित रह जाने में निराशा का अनुभव करते हैं और चाहते हैं कि कवि उन्हें यहीं तक न छोड़े, बल्कि वह उनके मन के भीतर कुछ ऐसी स्फुरणा जगाये कि कविता आसानी से खत्म न की जा सके; पुस्तक हाथ में हो और मन कहीं दूर की यात्रा कर रहा हो। यह कविता का उच्चतम प्रभाव है, किन्तु यह प्रभाव प्रत्येक युग की कविता में अल्प मात्रा में ही उतरा है। यह मानना होगा कि रीतियुग की कविता की दरिद्रता सबसे अधिक इसी गुण के अभाव के कारण है और आज के पाठकों की यह संकेतवाली तृषा रीतिकालीन काव्य में तुष्टि नहीं पा सकेगी। फिर भी, कहीं-कहीं ऐसी पंक्तियाँ मिलती हैं, जिनमें यह संकेत काम करता है और कभी-कभी ऐसी पक्तियाँ भी मिल जाती है, जिनमें हम आगामी शैलियों और भंगिमाओं का पूर्वाभास पा लेते हैं। उदाहरणार्थ मतिराम की -

ज्यौं-ज्यौं निहारिये नेरे ह्वै नैननि
त्यौं-त्यौं खरी निखरै-सी निकाई।

इस पंक्ति में केवल उतना ही नहीं है जितना शब्दों के अर्थ में सन्निहित है, बल्कि, यह एक संकेत है जो हमें सौन्दर्य की 'क्षणं क्षणं यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' वाली परिभाषा को स्वयं समझने को प्रेरित करता है। यहाँ मतिराम लगभग उसी मुद्रा में आये हुए दीखते हैं जिस मुद्रा में आकर विद्यापति ने कहा था –

जनम अवधि हम रूप निहारल नैन न तिरपित भेल।

यह अनुभूमि एक जगह घनानंद में भी मिलती है । जैसे –

रावरे रूप की रीति अनूप
नयो-नयो लागत ज्यौं-ज्यौं निहारिये।

किन्तु, घनानंद के लिए यह तनिक भी विस्मय की बात नहीं हैं, क्योंकि अनेक अर्थों में वे रीतिकाल के नहीं, प्रत्युत, छायावादी युग के कवि हैं।

मतिराम की विशेषता यह भी है कि जब-तब उनकी पंक्तियों में उस शैली का आभास मिलता है जो शैली रीतिकाल के लिए नयी, किन्तु, छायावाद-युग के लिए स्वाभाविक दीखती है।

सुनि सुनि गुन सब गोपिकनि समझो सरस सवाद,
कढ़ी अधर की माधुरी व्है मुरली को नाद।

अधर की मधुरता ही मुरली का स्वर बन गयी है यानी आँखों से देखी जानेवाली चीज ही कानों को सुनायी दे रही है, यह योजना रीतिकाल के लिए नई कही जायगी।

इस प्रकार –

फूलति कली गुलाब की, सखि यह रूप लखै न।
मनो बुलावति मधुप कौ दै चुटकी की सैन।

इस दोहे में, गुलाब के चुटकी देकर भ्रमर को बुलाने की योजना भी रीतिकाल के लिए नवीन रही होगी। इसका योग देव के भी एक कबित्त में बड़े ही चमत्कार के साथ हुआ है –

मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि
प्रात ही जगावत गुलाब चटकारी दे।

कहना व्यर्थ है गुलाब चटकारी देने में प्रयोग की जो नवीनता है उसी के कारण देव का यह कबित्त आज भी प्रेम से पढ़ा जा रहा है।

रीतिकाल को हम सिर्फ शरीर का काल कहते हैं, किन्तु मतिराम ने कहीं-कहीं मन के सौन्दर्य की ओर बड़ा ही बेजोड़ संकेत किया है और जहाँ-जहाँ यह संकेत मिलता है वहाँ-वहाँ कविता खिसककर वर्त्तमान युग के हृदय के पास पहुँच जाती है। वट-सावित्री-पूजन का एक दृश्य है नायिका वट के चारों ओर परिक्रमा कर रही है। किन्तु वट की यह परिक्रमा सिर्फ देह करती है, मन तो प्रियतम के चारों ओर घूम रहा है। मतिराम कहते हैं –

जमुना के तट बंसीवट के निकट
नंदलाल पै सकोचन तें चाहौं ना परत है।

तन तो पिया को बर भाँवरे भरत
मन साँवरे बदन पर भाँवरे भरत है।

छायावाद पर लिखते हुए पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने एक जगह कहा है कि हिन्दी-कविता का स्वच्छन्द विकास स्वत: होता आ रहा था जिसकी रेखाएँ मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, जगमोहन सिंह (श्यामा-स्वप्नवाले) आदि की रचनाओं में मिलेंगी। किन्तु, जब तक यह विकास पूर्ण हो, उसके पहले ही देश में रवीन्द्रनाथ की कविताओं की धूम मच गयी और लोग अपनी परम्परा को छोड़कर रवीन्द्रनाथ की ओर दौड़ पड़े और इस प्रकार हिन्दी में एक नयी धारा चल पड़ी, जो अपनी बनायी हुई कम, अन्यत्र निर्मित अधिक थी।

रवीन्द्रनाथ का प्रभाव छायावाद पर पड़ा अवश्य है, किन्तु छायावाद के साथ हिन्दी-कविता में जो एक नयी भंगिमा उत्पन्न हुई उसकी परम्परा हिंदी में बहुत दिनों से आ रही थी। वह विद्यापति की 'जनम अवधि हम रूप निहारल' वाली पंक्ति में थी, वह कबीर और मीरा की भी पंक्तियों में मिलेगी और सूर की विरह-व्राली पंक्तियों में भी हम उसकी झाँई देखते हैं। यही नहीं, आगामी शैली का पूर्वाभास तुलसीदास में भी मिलता है।

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई
छबिगृह दीपसिखा जनु बरई।
जहँ बिलोकु मृगसावकनैनी,
जनु तहँ बरसु कमल सितसैनी।

इन पंक्तियों में उस शैली की बारीक झाँई है जो छायावाद के साथ प्रकट होनेवाली थी।

रीतिकाल में मतिराम और देव की कुछ पंक्तियों एवं घनानन्द, बोधा, आलम और ठाकुर की अनेक पंक्तियों में यह परम्परा मौजूद है और जब भारतेन्दु ने चन्द्रकला में 'स्रवनन पूरो होय मधुर सुर अंजन व्है दोउ नैन' जैसी पंक्तियाँ लिखीं, तब इन पंक्तियों के द्वारा वे छायावादी शैली की ही ओर संकेत कर रहे थे।

अनुभूति की मार्मिकता और दर्द की बेचैनी की माँग हिन्दी में छायावाद-काल में खूब बढ़ी, किन्तु यह चीज छायावाद में कहीं बाहर से नहीं आयी थी। यह मार्मिकता और यह बेचैनी रीतियुग में ही हिन्दी-कविता के भीतर पचने लगी थी और, रीति-कविता के महाज्ञाता पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार, यह प्रभाव हिन्दी में फारसी से आया था। प्रभाव चाहे जहाँ से भी आया हो, परन्तु, इस तड़प और बेचैनी ने हिन्दी-कविता में एक नयी अदा

पैदा कर दी और इसके कारण यह अधिक जीवन्त भी हो उठी। भारत में साहित्य और संस्कृति के सबसे सुन्दर फूल तब खिले है जब बाहर की कोई धारा आकर हमारी धारा से टकरा गयी है। जब आर्य और आर्येतर-संस्कृतियाँ आपस में मिलीं, हमने वैदिक साहित्य और दो बड़े महाकाव्यों की रचना की; जब शक और आभीर आये, हमारी कविता में इहलौकिकता की वृद्धि हुई और शृंगार ने एक नया रंग पकड़ा, जिसका प्रमाण हाल की गाथासप्तशती है। जब मुसलमान आये, यहाँ भाषा-काव्य का विकास हुआ और शृंगार तथा रहस्यवाद की कविताओं में एक नयी तड़प पैदा हुई और जब ईसायियत यहाँ पहुँची, हमने छायावाद की सृष्टि की।

छायावाद के साथ प्रकट होनेवाली तन्मयता की माधुरी और वेदना की बेचैनी कबीर और मीरा में जन्मी थी, तुलसी और सूर में वह शान्तभाव से कायम रही तथा रीतिकाल में भी वह मरी नहीं थी। कहीं तो पूर्वराग की मादकता के साथ कहीं रूप-दर्शन की तन्मयता के साथ और कहीं विरहिणियों के उद्‌गारों में वह बराबर प्रकट होती रही। उदाहरणार्थ –

वेगि ही बूड़ि गयी पंखियाँ
अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी।

× × × × × ×

साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं
नैननि को कजरा करि राख्यो।

× × × × × ×

फूल ज्यों सूल सिला सम सेज
बिछावनि बीच बिछी जनु बीछी।

× × × × × ×

दीजिये दरस 'देव' लीजिये सँजोयानी कै
जोगिनी व्है बैठी हैं वियोगिन देव की अँखियाँ।

अथवा बिहारी का यह दोहा कि -

इन दुखिया अँखियान को सुख सिरजोई नाहि,
देखे बने न देखिवो, बिन देखे अकुलाहि।

किन्तु ये तो परम्परा के निशान हैं जो कहीं बहुत साफ और कहीं धुंधले लगते हैं; किन्तु रीतिकाल का कोई एक कवि अगर छायावादी कवियों का आत्मीय बन्धु कहा जा सकता है तो वे घनानन्द हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में घनानन्द जिस स्थान के अधिकारी हैं, वह स्थान अभी उन्हें नहीं मिला है। कितने आश्चर्य की बात है कि जब रीतिकाल के पचासों कवि भविष्य की ओर से आँखें मूँदकर अपनी प्रयोगशाला में काम करते-करते पीछे हट गये, तब भविष्य की राह केवल घनानन्द को दिखायी पड़ी और केशव, मतिराम, देव और बिहारी तथा पद्माकर जैसे लोग जब अपनी ही सीमा में खत्म हो गये तब अतीत के जुलूस को भविष्य तक पहुँचाने की राह घनानन्द ने बनायी और वे ही वह सेतु हुए जिस पर चढ़कर पुरानी हिन्दी-कविता ने नवयुग में प्रवेश किया। क्या वह विचारणीय प्रश्न नहीं है कि नवीन हिन्दी-कविता का प्रथम कवि कौन माना जाय? भारतेन्दु या घनानन्द? भारतेन्दु की पंक्तियों में भी छायावादी शैली का आभास उतरा है? किन्तु, छायावाद से अधिक वे प्रगतिवाद के उन्नायक ठहरते है ; क्योंकि नवीनता की दिशा में उनका खास जोर कविता के सामाजिक पक्ष पर था। किन्तु, द्विवेदी-युग की नीरसता के विरुद्ध कल्पनाओं और स्वप्नों की रंगीन कुहेलिका लिये हुए जो नयी काव्य-शैली हिन्दी में, आयी, उसके अग्रदूत घनानन्द ही थे। घनानन्द की कविता में हमें प्रगतिमयी हिन्दी-कविता की पदचाप सुनायी पड़ती है। उनका एक पाँव रीतिलोक में है (जैसे भारतेन्दु का भी), किन्तु, दूसरा बिलकुल छायावाद के पास पहुँचता है। रीतिकाल में कवि का पांडित्य ऊपर, उसकी भावाकुलता नीचे पड़ गयी थी। घनानन्द में हम भावाकुलता का स्थान पांडित्य से बहुत ऊपर पाते हैं। घनानन्द खुद भी उस भेद को देख रहे थे जो उनके तथा उनके समकालीन बंधुओं के बीच विद्यमान था। और यही देखकर उन्होंने कहा भी था –

लोग हैं लागि कबित्त बनावत
मोहि तो मेरे कबित्त बनावत।

घनानन्द के पास शब्दाडंबर नहीं, क्लिष्ट कल्पना नहीं, पांडित्य और आचार्यत्व नहीं, जो है वह केवल प्रेम की अनुभूति है। उन्होंने सौन्दर्य देखा था और प्रेम किया था और, अन्त में, विरह की दुस्सह वेदना भी भोगी थी। और इन तीनों की अनुभूति उनकी कविता में विद्यमान है। उन्होंने जिस रूप का वर्णन किया है वह नखशिखवाला बँधा हुआ निर्जीव रूप नहीं है, प्रत्युत, यह वह लावण्य है जो अंगनाओं में अवयवों के सौन्दर्य से अलग विभासित होता है।

अंग-अंग तरंग उठै द्युति की
परिहैं मनो रूप अबै धर च्वै

× × × × × ×

रावरे रूप की रीति अनूप
नयो नयो लागत ज्यों-ज्यों निहारियै।

और विरह तो घनानन्द की पूँजी ठहरा। विरह के जो स्वर उनके हृदय से निकले हैं वे रीतिकाल में दुर्लभता से मिलते हैं।

प्रान-पखेरू परे तरफैं लखि
रूप चुगो जु फँदे गुनगाथन।
क्यों हतिये हित पालि सुजान
दया बिन ब्याध वियोग के हाथन।
सालत बान समान हियै
सु लहे घन-आनन्द जे सुख सायन।
देहु दिखाय दई मुखचन्द
लग्यौ अब औधि दिवाकर आयन।

अन्तिम पंक्ति पढ़ते-पढ़ते, अनायास ही, भारतेन्दु की यह भावाकुल पंक्ति याद आ जाती है

बैनहू अयान लागै, नैन कुम्हिलान लागै,
प्राननाथ, आओ अब प्रान लागे मुरझान।

रीतिकाल की बौद्धिक विरहानुभूति की निष्प्राणत और कुण्ठा के वातावरण में घनानन्द की पीड़ा की टीस सहसा ही हृदय को चीर देती है और मान, सहज ही, वह मान लेता है, कि दूसरों के लिए किराये पर आँसू बहानेवालों के बीचयह एक ऐसा कवि है जो, सचमुच, अपनी ही पीड़ा से रो रहा है।

पहिले अपनाय सुजान सनेह से
क्यों फिर तेहि को तेरियै जू।
निरधार अधार दे धार-मंझार

दई ! गाहि बाँहि न मोरियै जू।
घन-आनंद आपने चातकि को
गुन-बाँधिलैं मोह न छोरियै जू।
रस प्याय के ज्याय बढ़ाय कै आस
बिसास में यों विष घोरियै जू।

केवल अपनी प्रेमिका सुजान के लिए ही नहीं, भगवान के लिए भी घनानन्द के हृदय से जो पुकार निकली है वह रीतिकाल के कवियों की भीड़ में नहीं प्रत्युत् कबीर, मीरा, रवीन्द्र और ब्लेक की कविताओं में ही खप सकती है।

अन्तर हौ किधौं अन्त रहौ,
दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं ?
आगि जरौ अकि पानि परौं,
अब कैसी करौं हिय का बिधि धीरौं ?
जौ घन-आनन्द ऐसी रुची,
तौ कहा बस है, अहो, प्रानान पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें ?
धरनी में धँसौं कि अकासहिं चीरौं ?

'धरनी में धँसौं कि अकासहिं चीरौं' की पूरी प्रशंसा नहीं की जा सकती। दो-ढाई सौ वर्ष पूर्व हिन्दी में इतनी व्याकुलता व्यंजित करने वाली पंक्ति लिखी जा चुकी थी, यह सोचकर अपनी भाषा पर गर्व होता है।

रीतिकाल में अगर घनानन्द को लेकर एक अलग परिवार की कल्पना की जाए तो उसके सबसे विश्वासी सदस्य बोधा होंगे तथा इस परिवार में आलम, ठाकुर, रसखान और मुबारक को भी नजदीक की जगह मिल जायगी। बोधा घनानन्द के ही गुटका-संस्करण-से लगते हैं, प्रेम का वही नशा, विरह की वही बेचैनी, भावुकता की वही लहर और निराशा में तड़पकर जान देने की वही चाह। बल्कि, जान दे देनेवाला मजमून घनानन्द में बहुत थोड़ा-सा है, लेकिन बोधा इस मजमून के बहुत कायल हैं। बोधा का व्यक्तित्व भावुक प्रेमी का व्यक्तित्व है, जिसे प्रेम से निराशा हुई है, जिसके मन की आग मन में ही जल रही है और जिसे कहीं भी वह आदमी नहीं मिलता जिसके सामने अपनी वेदना कहकर वह अपने जी को हलका करें।

कबहूँ मिलिबो, कबहूँ मिलिबो
यह धीरज ही मैं धरैबो करै।
उर तै कढ़ि आवै, गरे तैं फिरै,
मन की मन ही में सिरैबो करै।
कवि बोधा न चाव सरी कबहूँ
नित ही हरखा सों हिरैबो करै।
कहते ही बनै, सहते न बने,
मन ही मन पीर पिरैबो करे।

पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने जो यह बात कही है कि इन कवियों ने फारसी कविता का प्रभाव ग्रहण किया था, वह प्रभाव बोधा में बहुत स्पष्ट है। उर्दू और फारसी में यह भाव बार-बार आया है कि प्रेमी अपनी पीड़ा किससे कहे, यहाँ सुननेवाला ही कौन है। भावुक प्रेमी की यह निराशा छायावादी कवियों में भी खूब निखरी थी। और छायावाद में भी यह चीज कुछ तो सीधे उर्दू और कुछ घनानन्द और बोधा के मार्फत ही पहुँची होगी।

जबते बिछुरे कवि बोधा हितू
तबते उर दाह धिरातीं नहीं।
हम कौन सों पीर कहैं अपनी ?
दिलदार तो कोऊ दिखाती नहीं।

आलम और शेख के नाम पर जितने छन्द प्रचलित हैं, उनमें भी काफी ताजगी और नयापन मिलता है। किन्तु, आलम का एक सवैया तो ऐसा है, जिसमें हरएक विरही का दर्द समाया हुआ है।

जा थल कीन्हें विहार अनेकन
ता थल काँकरी बैठि चुन्यौ करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन
ता रसना सों चरित्र गुन्यौ करैं।
आलम जौन से कुंजन में करी
केलि तहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन में जे सदा बसते
तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं।।

रीति के प्रचार ने जैसे अन्य अनेक सहज भावों को कृत्रिमता की ओर मोड़ दिया, वैसे ही प्रकृति को देखनेवाली दृष्टि को भी उसने दूषित कर डाला। जब से रीति का चलन हुआ, कविगण प्रकृति को सिर्फ उद्दीपन के लिए लाते रहे, मानों काम को उत्तेजना देने के सिवा प्रकृति का और कोई उपयोग ही नहीं हो। सूर और तुलसी तक में प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व हमें नहीं मिलता। तुलसीदास की प्रकृति नीतियों की निर्झरी है और सूरदास की विरहिणियाँ प्रकृति को अपना शत्रु समझती हैं।

बिनु गोपाल बैरिनि भई कुंजैं।
जो वै लता लगत तनु सीतल
अब भई विषम अनल की पुंजैं।

यह ठीक है कि इन महाकवियों ने नीति-प्रचार अथवा विरहोद्दीपन के लिए प्रकृति का जो उपयोग किया है, उससे उनकी उक्ति सबल हुई है ; किन्तु इस पद्धति से चित्रण वास्तव में मनुष्य का होता है, प्रकृति का अपना रूप उससे खुलकर प्रकट नहीं होता। और रीति के चलन के पूर्व, संस्कृत-कवियों की भी यह दृष्टि नहीं थी। वाल्मीकि और कालिदास प्रकृति के सौन्दर्य को अपने-आप में पूर्ण मानते थे और इसीलिए उनके प्रकृति-वर्णन में केवल प्रकृति ही है, जो सामने आती है, उसके साथ नायिका का ताप या काम-ज्वर अथवा सन्तों के उपदेश नहीं आते हैं। और चूँकि यह प्रकृति केवल प्रकृति है, इसलिए, उसका प्रभाव भी सहज ही मनोरम हो उठता है। 'वासन्तिकी निशा प्राप्ता न शीता न च घर्मदा' – वाल्मीकि के इस वर्णन में वासन्ती रात्रि की समशीतोष्णता हमें सहज ही अनुभूत इसलिए हो जाती है कि उसमें से न तो उपदेश निकाला गया है और न कोई नायक या नायिका ही वहाँ खड़ी है।

वाल्मीकि और कालिदास में प्रकृति जिस प्रकार निर्मल है, अँग्रेजी की भी तमाम कविताओं में उसका वैसा ही विमल रूप है। लैण्डशेप चित्रित करनेवाले चित्रकार केवल प्रकृति का ही चित्र उतारता है। उसमें कहीं कोई मानवीय आकृति नहीं दिखायी जाती। एक हिन्दी में ही प्रकृति दब गयी और आदमी के विरह और मिलन की लीलाओं में वह सेविकामात्र रह गयी। किन्तु, केवल रीतिकाल को इस विषय में अधिक दोष देना ठीक नहीं होगा, क्योंकि और कालों में भी कवियों ने प्रकृति का उपयोग प्रकृति-वर्णन के सिवा किन्हीं अन्य उद्देश्यों के लिए किया है। फिर भी सेनापति के कितने ही छन्द हैं जिनमें प्रकृति-वर्णन के क्रम में संस्कृत और अँग्रेजीवाली यह पद्धति अक्षुण्ण मिलती है। वैसे, दोषी तो सेनापति भी हैं, क्योंकि पलास के लाल फूल उन्हें भी अँगार-जैसे लगते हैं –

आधे अनसुलगि सुलगि रहे आधे, मनौ
विरही दहन काम कोयला परचाये हैं।

किन्तु, तब भी उन्हीं के कुछ छन्द हैं जिनसे प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र में रीतिकाल की थोड़ी प्रतिष्ठा बचती है और जिनमें प्रकृति बहुत दूर तक स्वतन्त्र रहकर अपना रूप दिखलाती है। जैसे–

वृष कौं तरनि तेज सहसौ किरन करि
ज्वालन के जाल विकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग जरत झरनि, सौरी
छाँह को पकरि पंथी पंछी बिरमत है।
सेनापति नेक दुपहरी के ढरत, होत
धमका विषम, ज्यौं न पात खरकत है।
मेरे जान पौनों सीरी ठौर कौं पकरि कौनों
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है।

सेनापति के ऐसे कबित्तों को देख कर क्या मन में यह अनुमान नहीं होता है कि प्रकृति-वर्णन की जो पद्धति कालिदास के बाद देश में सो गयी थी वह हिन्दी के रीतिकाल में स्वयमेव जग रही थी, उसे जगाने के लिए यूरोपीय शंखनाद की आवश्यकता नहीं थी? रीतिकाल चाहे जितने भी निर्जीव सौन्दर्य का काल रहा हो, किन्तु, वह हिन्दी के आधुनिक काल की पार्श्वभूमि में पड़ता है और उनमें नवीनता के बीज जहाँ-तहाँ अवश्य मिलते हैं।

# 10. खड़ी बोली की कविता : पृष्ठभूमि

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन

समकालीन साहित्य-प्रवृत्तियों का निरूपण और मूल्यांकन किसी भी देश या काल में एक दुस्तर कार्य होता है। हमारे आज के युग में तो यह कार्य और भी कठिन है, क्योंकि समकालीन जीवन की प्रगति इतनी द्रुत, उलझी हुई और जटिल है कि उस के विकास की दिशा पहचानना, उस की प्रवृत्ति के सूत्र पकड़ना एक अन्तर्द्रष्टा का काम हो गया है। और अन्तर्द्रष्टा का सहज बोध स्वभावत: ऐसी वस्तु है कि उसे हम तत्काल स्वीकार नहीं कर पाते, काल की कसौटी पर ही उस की परख होती है और कालान्तर में ही हम उस की प्रामाणिकता पहचानते और अंगीकार करते हैं।

ऐसी स्थिति में समकालीन हिन्दी काव्य के बारे में दावे के साथ कुछ कहना जोखिम का ही काम है। किन्तु यदि वादी हो कर कोई बात न कही जाये, अध्येता के रूप में निकट अतीत की प्रवृत्तियों को पहचान कर उन के आधार पर समकालीन कृतित्व के और सम्भाव्य प्रगति के बारे में कुछ अनुमान किया जाये, तो उसे निराधार कल्पना न कहा जा सकेगा, और समकालीन कृति-साहित्य के अध्ययन में उस से कदाचित कुछ प्रकाश भी मिल सकेगा।

हिन्दी काव्य के इतिहास की परम्परा में जो विभिन्न आन्दोलन आये उन्हें ध्यान में रखते हुए, उन्नीसवीं शती में खड़ी बोली और उस के काव्य-साहित्य के नव-जागरण के विषय में कोई एक साधारण स्थापना करनी हो तो यही बात सब से अधिक युक्तिसंगत और अभिप्रायपूर्ण होगी कि खड़ी बोली का अभ्युत्थान साहित्य में लौकिकता की प्रतिष्ठा और स्वीकृति का पर्याय था। नि:सन्देह रीतिकाल के साहित्य में भी एक प्रकार की लौकिकता थी, और उत्तर रीतिकाल की अतिरंजित शृंगारिकता में ऐन्द्रिय उत्तेजना के उपकरणों से आगे किसी गम्भीर आध्यात्मिक अभिप्राय की खोज पाठक की विश्वास-क्षमता पर जोर डालती है; तथापि राजा के मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करने वाला कवि भी उस प्राचीन परम्परा का ही निर्वाह करता था जिस के अनुसार राजा में देवता का अंश होता है: राजभक्ति भी धर्मभक्ति का और इस प्रकार भगवद्भक्ति का एक अंश होती है। हिन्दी काव्य की परम्परा में उस समय तक धर्म-भावना प्रधान रही; मुस्लिम काल में जितने साहित्यिक आन्दोलन और उत्थान हुए, सब की मूल प्रेरणा भी धार्मिक ही रही। उन्नीसवीं शती में जिस साहित्यिक उन्मेष का आरम्भ हुआ, वही पहले-पहल इस का अपवाद हुआ:

उसकी मूल प्रेरणाएं धार्मिक न होकर लौकिक रही और उन में व्याप्त लोक चेतना न केवल बनीरही वरन् क्रमशः और भी स्पष्ट और व्यापक होती गयी। जिस सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति में इस लौलिकता का उदय हुआ, उस के सन्दर्भ में ही इस का आविर्भाव और विकास ठीक ठीक समझा जा सकता है।

खड़ी बोली का उत्थान उस समय आरम्भ हुआ जब कि भारत की केन्द्रीय सत्ता तो विघटित हो ही चुकी थी, उस के उत्तराधिकारी विभिन्न मुस्लिम राज्य भी हीन और निःसत्व थे और देशी रजवाड़े तथा सामन्ती शासन भी जीर्णावस्था को प्राप्त हो चुके थे । समाज दलित, निर्धन और असन्तुष्ट था।इस प्रकार समाज के भीतर विरोध और संघर्ष के लिए भूमि तैयार थी। किन्तु इन सोई हुई सामाजिक शक्तियों को जगाने और धार देनेके लिए जिस आध्यात्मिक प्रेरण की आवश्यकता थी उस का अभाव था। वह प्रेरणा उसे पश्चिमी विचार-दर्शन के बौद्धिक और भाविक धक्के से मिली। लम्बी किन्तु ह्रासगत सांस्कृतिक परम्परा वाली एक वृद्ध, विशृंखल, वर्तमान दैत्य और भविष्यत अनिश्चय के कारण अतीतोन्मुख जर्जर जाति को , एक मिश्र संस्कृति और तरूण परम्परा वाली किन्तु समृद्ध और समर्थ जाति की आत्म विश्वास भरी भविष्योन्मुखता ने उस का सच्चा रूप उघाड़ कर दिखा दिया है। इस मार्मिक आधात से भारतीय समाज तिलमिला उठा, साथ ही उसे एक नयी दृष्टि मिली, अपने ही सम्बन्ध में उस में एक नया और तीव्र जिज्ञासा भाव उत्पन्न हुआ । यह जिज्ञासा भी लौकिक थी और इस के उत्तर भी लौकिक ही हो सकते थे।

पश्चिम के सम्पर्क से बहुविध प्रमन्थन आरम्भ हुआ उससे भारतीय समाज बड़ी तेजी से बदलने लगा। सामाजिक क्षेत्र में विचारों के इस खमीर ने नयी केन्द्रोन्मुख प्रवृत्तियों को उकसायाः विशृंखल और विभाजित समाज को पुनः संगठित करने की भावना एकाधिक सामाजिक आन्दोलनों से प्रकट हुई। आर्य समाज और ब्राह्मण समाज दोनों उभय - क्षेत्रीय आन्दोलन थे, उनका धार्मिक पक्ष भी नगण्य नहीं था पर विशेष महत्स उनकी सामाजिक भावना का ही था। उन का धार्मिक आग्रह (यह बात ब्राह्म समाज की अपेक्षा आर्य समाज के विषय में और अधिक सच है) सुधार द्वारा आत्मरक्षा का था, उन का सामाजिक आग्रह एक स्वस्थतर संगठन का। दोनों ही क्षेत्रों में रूढ़ि भार से मुक्ति का प्रयत्न था।

राजनैतिक आर्थिक क्षेत्र में इस खमीर ने इतिहास के नये शोध की प्रकृति दी विदेशीय सम्पर्क और प्रभाव का एक नया रूप हमारे सम्मुख आया। सामंतो रजवाड़ों के सन्धि-विग्रहों और गठबंधनों से ऊपर उठ कर हम यह स्पष्ट देखने लगे कि नयी विदेशी सत्ता राजनैतिक और आर्थिक शोषण का यन्त्र है, और हिन्दू-मुस्लिम सभी समाजन रूप से उस

के शोषित और शोष्य हैं। ('चूरन साहेब लोग जो खाता, सारा हिन्द हजम कर जाता', अथवा 'भीतर-भीतर सब रस चूसै, हँसि-हँसि मैं तन-मन-धन मूसै.....अँगरेज'–भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)। भारत लुट रहा है, और भारत का धन विदेशों को चला जा रहा है, इस के तीखे अनुभव ने व्यापक राष्ट्रीयता की भावना को पुष्ट किया।

शिक्षा और मनोविकास के क्षेत्र में इसी खमीर ने मानवीय दर्शन की प्रतिष्ठा की। विकासवाद के सिद्धान्त और उस से उद्भूत मानव की श्रेष्ठता के बोध ने एक वैचारिक क्रान्ति ला उपस्थित की, उस के प्रभाव की गहराई और व्यापकता देखते हुए उसे आध्यात्मिक क्रान्ति कहना भी अत्युक्ति न होगा। मानव अभी तक एक देवोन्मुख अकिंचन तत्त्व था, अब वह सहसा सृष्टि का केन्द्र-बिन्दु बन गया। नि:सन्देह ईश्वरीय सृष्टि का एक अंग होने के नाते भी उस के अधिकार और उत्तरदायित्व निश्चित किये जा सकते थे-धार्मिक आचार और धर्माश्रित नैतिकता में द्विधा या अनिश्चय नहीं था, पर प्राकृतिक सृष्टि का शीर्ष-स्थानीय अथवा मानवीय समाज के केन्द्र होने पर उस के सारे प्रतिमान और मूल्य बदल गये और उस के आचार अथवा नैतिकता की कसौटी ईश्वर-निष्ठा न रह कर मानव-निष्ठा हो गयी। जिस लौकिकता की चर्चा हम कर रहे हैं, वह वास्तव में 'मूल्यों के पुनर्मूल्यन' का ही पहलू है। मूल्यों अथवा प्रतिमानों और संस्कृतियों का गहरा सम्बन्ध होता है–निश्चित समाज-सभ्यता के प्रतिमानों पर आधारित सर्वतोमुखी रचनाशील प्रगति ही तो संस्कृति है–पर इस सम्बन्ध में ही यह बात निहित है कि नये प्रतिमान सहसा नहीं बन जाते, वे एक सांस्कृतिक परम्परा माँगते हैं। सांस्कृतिक परम्पराओं का उन्मूलन तो सरल होता है, नयी परम्पराओं का रोपण उतना सुकर नहीं; पुराने मूल्यों का अवमूल्यन आसानी से किया जा सकता है पर नये मूल्यों की प्रतिष्ठा दीर्घकालीन प्रयास माँगती है। लौकिकता का उदय और विकास भी बिना अव्यवस्था के नहीं हुआ। इस काल में समय-समय पर जो नास्तिवादी या नकारात्मक दर्शन सामने आते रहे, वे उस दिग्भ्रम को ही सूचित करते हैं जो देवोन्मुखता से हट कर मानवोन्मुखता तक पहुँचने के संक्रमण-काल में स्वाभाविक था। इस दिग्भ्रम ने और अधिक व्यापक अराजकता का रूप क्यों नहीं लिया, इस के विशद अध्ययन का यहाँ स्थान नहीं है, यहाँ इतना संकेत यथेष्ट होगा कि अराजकतावादी दर्शनों की धूम इसी काल में रही, पर उन का आदर्शवाद कार्यान्वित न हो सका क्योंकि व्यवहार को अनुशासित करने वाली सामाजिक शक्तियाँ भी इस काल में प्रकट हुईं। इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति और उस के प्रभावों का अध्ययन तत्कालीन राजनैतिक ही नहीं, सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों को भी समझने के लिए आवश्यक है। यूरोप में राष्ट्रीयतावाद की जो लहर फैली, उस का औद्योगिक क्रान्ति से गहरा सम्बन्ध था। इस कारण यूरोप में

राष्ट्रीयतावाद ने एक आक्रामक रूप लिया जिस का चरम रूप उपनिवेशवाद हुआ। दूसरी ओर औद्योगिक क्रान्ति का इतना ही गहरा सम्बन्ध उस उदार मानवीय दृष्टि से था जिसने मानव-स्वाधीनतावादी अथवा 'लिबरल' दर्शनों को जन्म दिया। इधर के राजनैतिक और सिद्धान्तवादी संघर्षों के कारण हम बहुधा आर्थिक संघर्ष के प्रभावों को ही सर्वोपरि महत्व देने की भूल कर जाते हैं। हमें यह न भूलना चाहिए कि मानवीय स्वाधीनता के जो नये मूल्य हमें मिले वे इसी युग की देन हैं। 'मानव स्वतन्त्र है, या हो सकता है,' लिबरल दर्शनों को अनुप्राणित करने वाला मूल विश्वास यह था, उस स्वतन्त्रता की परिभाषा और रक्षा-व्यवस्था के बारे में विचार भिन्न हो सकते थे। मानव की स्वतन्त्रता की परिभाषा का विवाद हल हो चुका हो ऐसा नहीं है; पर उस के लिए निरन्तर आन्दोलन और सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियों के अतिवाद द्वारा मानव-मात्र के एक नयी मानसिक दासता में बँध जाने की सम्भावना का विरोध करने की शक्ति हमें इसी विश्वास से मिली। कलाकार की स्वाधीनता का आदर्श मानव की स्वाधीनता के आग्रह का एक पहलू था। इस के अपने भी अतिवाद थे, जो आज ऐतिहासिक कौतुक-वस्तु से अधिक महत्व नहीं रखते, पर आज के आस्थावान् कलाकार की स्वाधीनता अथवा स्वतन्त्र विवेक का आग्रह उन्नीसवीं शती के 'कला के लिए कला' के आन्दोलन से सर्वथा भिन्न है।

तो खड़ी बोली के माध्यम से हिन्दी-साहित्य का जो उन्मेष उन्नीसवीं शती के मध्य से आरम्भ हुआ, उस की सब से अधिक उल्लेखनीय विशेषता यह नयी लौकिकता अथवा लौकिक दृष्टि ही है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस प्रवृत्ति को एक घना पुंजित, आत्म-चेतन और सोद्देश्य रूप दिया। ह्रासशील दरबारों के दूषित वातावरण में क्षयप्राप्त होते हुए हिन्दी-साहित्य को वह उबार कर नयी लोक-भूमि पर लाये। इस प्रकार के मौलिक परिवर्तन किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं लाये जाते, यद्यपि मौलिक प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों की छाप उन पर पड़ सकती है। भारतेन्दु भी जिस आन्दोलन के निमित्त बने, उसे ऐतिहासिक कारणों की पृष्ठिका के साथ ही देखना होगा। उन्नीसवीं शती का भारत ऐसे परिवर्तन के लिए तैयार ही था। जैसी स्थिति थी, उस में राष्ट्रीयतावाद वैसा विकृत रूप नहीं ले सकता था जैसा उसने यूरोप में लिया, भारत में वह स्वदेश-प्रेम के रूप में ही प्रकट हुआ। उसने जातीय उत्कर्ष की भावना को उभारा और साधारणतया देश को एक नयी सांस्कृतिक चेतना दी। अपनी सभ्यता और संस्कृति का गर्व इस सांस्कृतिक नव-चेतन का ही फल था और स्वभाषा-प्रेम उस गर्व का एक पहलू।

किन्तु उन्नीसवीं शती के भारत में लौकिकता के उदय की, और उस के सन्दर्भ में भारतीय साहित्यों के अथवा विशेषतया हिन्दी साहित्य के नवोन्मेष की चर्चा एक बात है, और खड़ी

बोली के अभ्युत्थान और व्यापक प्रसार की चर्चा दूसरी बात। खड़ी बोली के अभ्युदय के कारण स्वतन्त्र परीक्षण माँगते हैं, क्योंकि परवर्ती प्रगति को ठीक परिपार्श्व में रखने के लिए केवल साहित्य की अन्त:प्रवृत्तियों को नहीं, भाषा की प्रवृत्तियों को भी समझना अनिवार्य है।

हिन्दी-साहित्य में लौकिक दृष्टि का आविर्भाव, और खड़ी बोली में साहित्य-रचना के नवयुग का आरम्भ, दोनों एक साथ हुए, साहित्य के इतिहास का कोई भी अध्येता इसे लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या यह केवल आकस्मिक संयोग था, या कि दोनों घटनाओं में कोई सम्बन्ध था? क्या कारण था कि हिन्दी की रचनात्मक प्रतिभा ने साहित्य की एक सम्पन्न, मधुर और परिमार्जित प्रतिष्ठित भाषा से विमुख हो कर एक रूखी और अटपटी बोली को अपनाना आरम्भ कर दिया? दो हजार वर्ष पहले बौद्ध साहित्य ने भी संस्कृत को छोड़ कर प्राकृत को अपनाया था, किन्तु इस ऊपरी समानता का ऐतिहासिक अभिप्रेत कितना है इस पर विवाद हो सकता है। क्योंकि ब्रज-भाषा केवल साहित्य की या किसी विशिष्ट अभिजात वर्ग की भाषा ही रही हो या रह गयी हो ऐसा नहीं था, वह भी एक जीवित सहज प्रचलित जनभाषा थी। बल्कि इस काल की हिन्दी रचनाओं में जो खड़ी बोली व्यवहृत हुई –जिसे यथार्थ दृष्टि से देखने पर एक सीमा तक चेष्टित, कृत्रिम, पुस्तकीय भाषा स्वीकार करना होगा–उस से ब्रज-भाषा कहीं अधिक जन-भाषा थी: उस का एक स्पष्ट निर्दिष्ट फिर भी विस्तीर्ण प्रदेश था जहाँ वह मातृभाषा के रूप में सहज-भाव से बोली और बरती जाती थी और फिर यदि भाषा-परिवर्तन संस्कृत को छोड़ कर पालि-प्राकृत अपनाने जैसी क्रिया थी, अर्थात् उस की जड़ में एक अभिजात संस्कारी भाषा का तिरस्कार कर के सहज लोक-भाषा का व्यवहार करने की सामाजिक विद्रोह की भावना थी, तो साहित्यिक ब्रज भाषा को छोड़ कर विभिन्न आंचलिक बोलियों या मातृभाषाओं को क्यों नहीं अपनाया गया? केवल एक बोली–और वह खड़ी बोली–क्यों इस सामाजिक विद्रोह का अस्त्र बनी? और इस से अधिक मार्के की बात: इस अस्त्र का समर्थ और निष्ठापूर्ण प्रयोग खड़ी के अपने प्रदेश में न हो कर दूर बनारस में क्यों हुआ, जो कि एक दूसरी और उतनी ही समर्थ जन-भाषा का प्रदेश था? स्पष्ट है कि इस परिवर्तन को समझने के लिए संस्कृत-पालि का उदाहरण सीधा-सीधा नहीं लागू किया जा सकता, और सामाजिक चेतना की प्रक्रिया के विभिन्न के पहलुओं की पड़ताल आवश्यक है।

खड़ी बोली के उत्थान में ब्रज-भाषा के प्रति किसी प्रकार के द्वेष, या एक प्रदेश की भाषा को छोड़ने का कोई आग्रह नहीं था। खड़ी बोली के अंगीकार में अगर ऐसा नकारात्मक कोई आग्रह था जिसे ब्रज-विरोधी कहा जा सके, तो वह भाषा के परित्याग का नहीं, उस की सामन्ती परम्पराओं के परित्याग का आग्रह था। ब्रज के एक सजीव आंचलिक भाषा

होते हुए भी रीतिवादी परम्परा ने उस के साहित्यिक रूप को एक ऐसे साँचे में ढाल दिया था कि वह कृत्रिमता के कड़े बन्धन में बँध गया था और उसे अभिजात वर्गीय अथवा सामन्ती पूर्वग्रहों से मुक्त करना कठिन हो गया था।

सामन्ती परम्पराओं के प्रति उदासीनता खड़ी बोली के उत्थान का पहला (और नकारात्मक) कारण था। दूसरा कारण-और इस का रचनात्मक महत्त्व स्पष्ट ही है–था व्यापकता की खोज: राष्ट्रीयता की केन्द्रोन्मुख भावना के उदय और विकास के साथ-साथ एक व्यापक भाषा की–या व्यापक भाषा की अनुपस्थिति में सब से अधिक व्यापक घटक की–खोज स्वाभाविक थी। और यह व्यापक घटक खड़ी बोली ही हो सकती थी: ब्रज-भाषा का उपयोग अपने प्रदेश से बाहर केवल साहित्य-क्षेत्र तक सीमित था, जब कि खड़ी बोली अपने प्रदेश से बाहर लोक-व्यवहार में भी आती थी, भले ही अशुद्ध रूप में। यहाँ खड़ी बोली के अन्तर्गत हिन्दी-उर्दू के प्रश्न को उठाना अनावश्यक है। यहाँ तक कि उर्दू का कोई मताग्रही समर्थक खड़ी बोली को उर्दू का पर्याय भी कहना चाहे (जो कि आगे के विवेचन से भ्रान्त सिद्ध हो जायेगा) तो उस से भी इस स्थल पर कोई परिवर्तन नहीं आता। और साम्प्रदायिक दृष्टि से देखने पर भी स्थिति ज्यों-की-त्यों रहती है। यह मान भी लें कि हिन्दी हिन्दू की और उर्दू मुसलमान की भाषा थी (जो ऐतिहासिक दृष्टि से मिथ्या है) तो भी स्पष्ट है कि खड़ी बोली को एक प्रकार की बहु-प्रदेशीय व्यापकता प्राप्त थी जो और किसी जन-भाषा को नहीं थी। और फिर केन्द्रोन्मुख राष्ट्रीयता के सम्मुख 'हिन्दू' और 'मुस्लिम' का एक ही संज्ञा 'भारतीय' की परिधि में ले आने की आवश्यकता का अपना एक दबाव था जो पुन: खड़ी बोली के पक्ष में क्रियाशील होता था।

यह राष्ट्रीयता के उदय का, और उस भावना से उत्पन्न होने वाले नये उत्तरदायित्व के ज्ञान का ही परिणाम था कि साहित्य-रचना के लिए खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा, और ऐसे लेखक भी खड़ी बोली में लिखने लगे जो कि ब्रज-भाषा पर अच्छा अधिकार रखते थे–अर्थात् जिन्हें अभिव्यक्ति के लिए न केवल ब्रज-भाषा को छोड़ कर दूसरा माध्यम खोजने की कोई आवश्यकता नहीं थी, बल्कि जिन्हें दूसरे माध्यम की अपरिपक्वता अखरती भी थी। खड़ी बोली के व्यवहार का राष्ट्रीयता की भावना से कितना निकट सम्बन्ध था, इस को जाँचने की एक विधि यह भी है कि देखा जाये, उस काल के किन-किन लेखकों ने खड़ी बोली को अपनाया या कौन-कौन ब्रज के आग्रह पर अड़े रहे, और किन में राष्ट्रीयता का स्वर कितना मुखर था, या कहाँ तक भाषा-परिवर्तन और राष्ट्रीय चेतना का आविर्भाव एक साथ हुए। हमारा अनुमान है कि ऐसा अध्ययन दोनों के अभेद्य सम्बन्ध का प्रमाण देगा। इतना ही नहीं, इस दृष्टि से भी अध्ययन किंया जा सकता है कि

जिन्होंने ब्रज भाषा और खड़ी बोली दोनों का उपयोग किया, उन्होंने किसी भाव अथवा विचार-वस्तु के लिए किस भाषा को चुना, यह अध्ययन भी राष्ट्रीयता और खड़ी बोली के सम्बन्ध को पुष्ट करेगा।

किन्तु भाषा परिवर्तन के पूरे संक्रमण में ब्रज भाषा से खड़ी बोली तक की यात्रा केवल एक चरण थी। यात्रा वहीं जा कर समाप्त नहीं हो गयी।संक्रमण का दूसरा चरण खड़ी बोली के अन्तर्गत एक भाषा-रूप को दोड़कर दूसरे भाषा रूप का ग्रहण था। यह हो जाने पर ही राष्ट्रीयता की माँग का सम्पूर्ण उत्तर मिल सकता था और व्यापकता के दायित्व का समुचित निर्वाह हो सकता था। भारतेन्दु काल में हिन्दी और उर्दू का जो संघर्ष चल रहा था, और जिस की निष्पत्ति वास्तव में प्रेमचन्द में आ कर हुई, वह व्यापकता के आन्दोलन कर ही एक पहलू था। इस तर्क से ब्रज भाषा से खड़ी बोली तक आना प्रर्याप्त नहीं है। यह क्रमशः स्पष्ट होने लगा, जब लेखकों नेयह अनुभव किया कि जिस भाषा का उन्होंने वरण किया है, उस की व्याप्ति का क्षेत्र पढ़े लिखे लोगों तक सीमित हुआ जा रहा है। अर्थात ब्रज भाषा के स्थान पर खड़ी बोली के एक परिस्कृत परिमार्जित संस्कारी रूप उर्दू को ग्रहण कर एक दीक्षित भाषा के स्थान पर दूसरी दीक्षित भाषा की प्रतिष्ठा मात्र है। और वास्तव में व्यापकता के लिए परिमार्जित भाषा का मोड़ छोड़ कर लोक साधारण की भाषा कों अपनाया होगा। यह इसी बोध का परिणाम था कि जिन लोगों का उर्दू पर अधिकार था उन्होंने भी क्रमशः मार्जन की दृष्टि से हीनतर हिन्दी को अपनाया। स्वयं भारतेन्दु के खड़ी बोली काव्य के संस्कार उर्दू के अधिक थे, उन की गजलें, उन की फारसी शब्दावली, और उन का कविनाम 'रसा' इस के प्रमाण हैं। फिर भी वह हिन्दी के नवगुण के प्रवर्तक हुए, इस का कारण उन की लोकोन्मुखता ही थी। यह भाषा क्रान्ति का दूसरा चरण था, जिस का ध्येय था साधारण जन की भाषा का अंगीकार । संस्कृत पालि के विकल्प की समानता यहाँ पर आकर यथातथ्य लागू होती है। ब्रज और खड़ी बोली के विकल्प से उसकी समानता नहीं थी पर उर्दू और हिन्दी का विकल्प उस की ऐतिहासिकता आवृत्ति थी - जहाँ तक कि इतिहास में आवृत्ति अर्थ रखती है।

शब्द चयन की दृष्टि से भारतेन्दु युग का लेखक शुद्धिवादी नहीं था, वह उर्दू , फारसी, संस्कृत, अन्य प्रादेशिक भारतीय भाषा, लोक भाषा, कहीं से भी कोई भी उपयोगी शब्द या प्रयोग ले लेने को तैयार था। किन्तु हिन्दी के वरण के बारे में उस के मन में कोई द्विधा न बची थी - वह इतर भाषाओं के शब्दों से हिन्दी का ही भण्डार भरता था, इतर भाषाएं नहीं लिखता था। हिन्दी के प्रतिमानीकरण का संघर्ष बाद की बात थी, नयी भूमि पर अधिकार करने के लिए पहले चारदीवारी बाँधी जाती है, पीछे झाड़ झंखाड़ साफ किये जाते

हैं। प्रतिमानीकरण का यह कार्य द्विवेदी-युग की मुख्य प्रवृत्ति थी। इस काल में खड़ी बोली हिन्दी एक संस्कारी भाषा हो गयी, और तभी से उसे खड़ी बोली कहना भी अनावश्यक हो गया–हिन्दी संज्ञा उसी के लिए रूढ़ हो गयी। इस प्रतिमानीकरण के आन्दोलन में भूलें न हुई हों या दुराग्रह न प्रकट हुए हों ऐसा नहीं हैं, फिर भी उसने लेखक में भाषा के प्रति एक जागरूकता उत्पन्न की जिस का गहरा रचनात्मक प्रभाव पड़ा। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि परवर्ती साहित्यिक आन्दोलनों में भाषा के रूप के सम्बन्ध में ऐसी जागरूकता फिर नहीं देखी गयी। छायावादी काल की भाषा-सम्बन्धी चेतना का आधार था शब्द-कौतूहल अथवा ध्वनि-योजना का सार्थक उपयोग, और तदाख्य प्रयोगवादी काव्य का मुख्य आग्रह प्रतीक-योजना का ही रहा–यद्यपि शब्द-कौतूहल भी उसमें था, जिस की दशा छायावाद के शब्द-कौतूहल से भिन्न थी। यह ठीक है कि द्विवेदी-युग में भाषा की–या भाषा के रचनाशील प्रयोक्ता कवि की आवश्यकताएँ दूसरी थीं, फिर भी कभी यह लक्ष्य कर के खेद होता है कि आज का लेखक भाषा के रूप-सौष्ठव और व्यापक प्रतिमानों के विषय में उतना सतर्क नहीं है जितना द्विवेदी-युग का लेखक था। उस काल का अतिवादी भाषा को इस जोखिम में डालता था कि कहीं वह अपना लचकीलापन और ग्रहणशीलता खोकर 'काठ-सी कठैठी' न हो जाये, आज का अतिवादी उस के सामने यह खतरा उपस्थित करता है कि कहीं वह अपनी सार्वभौमता खोकर एक दीक्षागम्य सांकेतिक भाषा न हो जाये। किन्तु भाषा की प्रवृत्तियों की पड़ताल में हम बहुत काल-व्यतिक्रम कर गये हैं।

यह कहा जा चुका है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी को नयी लोकभूमि पर लाये और उस के साहित्य में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के निमित्त बने। भारतेन्दु-युग के सभी कवियों ने जोरों से अनुवाद भी किये–गतानुगतिक भाव से केवल संस्कृत से नहीं वरन् दूसरी भारतीय भाषाओं से (विशेषतया बँगला से) और भारतीयेतर भाषाओं से भी (मुख्यतया अंग्रेजी से या अंग्रेजी के माध्यम से अन्य यूरोपीय भाषाओं से)। स्वायत्तीकरण के इस बहुमुखी आन्दोलन की जड़ में नवजाग्रत राष्ट्रीय भावना तो थी ही, एक नयी उदार दृष्टि भी थी। साहित्य-शरीर की इस अभिवृद्धि से लेखक का मानसिक आकाश और खुला और उस के क्षितिज दूर-दूर तक फैले; साहित्य के आस्वादन, परीक्षण और मूल्यांकन के लिए उसे नये साधन और प्रतिमान मिले; और इनका उसकी रचना पर गहरा प्रभाव पड़ा। किन्तु इस ग्रहणशीलता के साथ-साथ निरन्तर हिन्दी के कृतिकार में 'अपनेपन' की भावना पुष्ट होती गयी। 'प्रेम अपनों ही पर कर रे' (श्रीधर पाठक) निरी संकीर्णता का नारा नहीं था बल्कि नयी ऐतिहासिक प्रवृत्ति से अनुप्राणित सांस्कृतिक दृष्टि की एक उपलब्धि थी। आत्म-सम्मान के लिए पहले आत्म-साक्षात्कार आवश्यक है, किन्तु आत्म-साक्षात्कार तब तक कैसे हो

सकता है जब तक हम में यह आस्था न हो कि हमारा एक विशिष्ट आत्म-रूप है भी–कि अपने ही प्राणों के प्राण हैं? इस प्रकार जहाँ एक नयी मानवमूर्ति की प्रतिष्ठा हो रही थी और यह स्वीकार किया जा रहा था कि मानव-रूप होने के नाते ही वह सुन्दर और सम्मान्य है, वहाँ दूसरी ओर भारतीय की एक नयी मूर्ति की प्रतिष्ठा हो रही थी और यह पहचाना जा रहा था कि वह मूर्ति मूलत: सुन्दर और सम्मान्य है, भले इस समय खंडित या हीनत्व-प्राप्त हो। 'प्राचीन और नवीन अपनी सब दशा आलोच्य है, अब भी हमारी अस्ति है' (मैथिलीशरण गुप्त) नयी दृष्टि पर आधारित आत्म-प्रतिष्ठा का ही दूसरा पहलू था-यद्यपि कवि साथ ही यह स्वीकार करने को भी बाध्य था कि 'अवस्था शोच्य है'। बल्कि अपनी वर्तमान हीनावस्था को देखने और स्वीकार करने का साहस उसे इसी से मिलता था कि मूलत: उस का भाव आत्मावहेला अथवा अनास्था का नहीं रहा था।

यहाँ यह अवश्य लक्ष्य करना होगा कि इस नव-प्रतिष्ठित आत्म-भाव के मूल में अनेक प्रकार की प्रवृतियाँ थीं और सब ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील नहीं थीं-अर्थात् कुछ ऐसी भी थीं जिनकी शक्ति संकीर्णता और असहिष्णुता की शक्ति थी। सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन बहुधा प्रत्यभिमुख रूढ़िवादी प्रवृत्तियों को इतनी ओट दे देता है कि परम्पराओं की रक्षा के नाम पर वे सामाजिक प्रगति को रोकने का उपक्रम करने लगें, और भारतीयता की पुन: प्रतिष्ठा के इस युग में इन्होंने भी अपेक्षित तत्परता दिखायी। इस काल के सामाजिक-ध ार्मिक आन्दोलनों में जिस प्रकार एक ओर अन्ध-विश्वास और रूढ़ियों के उन्मूलन का और दूसरी ओर एक नयी कट्टरता और मतवादिता का (उसे मतान्धता न कहें तो) आग्रह लक्षित होता है, उसी प्रकार साहित्य में भी एक ओर पश्चिम की चुनौती के सम्मुख नव-निर्माण का उत्साही स्वर और दूसरी ओर निरी प्राचीन परम्परा या रूढ़ि की दुहाई सुनने को मिलती है। इस युग का बहुत-सा 'नेकटाई-काव्य' तथा खान-पान सम्बन्धी काव्य ("विषकूट चखे रस ले मन को") इस दोहरी प्रवृत्ति का अच्छा उदाहरण हो सकता है। नाथूराम शर्मा 'शंकर' की प्रार्थना 'द्विज वेद पढ़ें, सुविचार बढ़ें, बल पाए चढ़ें सब ऊपर को से उन का यह विश्वास ही ध्वनित होता है कि सनातन वैदिक परम्पराओं से हटना ही हमारे ह्रास का कारण हुआ और उनकी ओर लौटने से ही समाज सुधर जायेगा। 'शंकर' तो खैर ध्वजाधारी कवि थे ही, महावीर प्रसाद द्विवेदी भी उस युग के प्रति मोह की दुर्बलता से मुक्त नही थे जिस में भैंसें वेद-पाठ किया करती थीं। किन्तु दूसरी ओर श्रीधर पाठक जब व्यंग्यपूर्वक कहते हैं कि 'मनुजी, तुमने यह क्या किया?' तब वह सनातन परिपाटी की दुहाई नहीं देते, और न उस परिपाटी को वेदों की भाँति अपौरुषेय अथवा पूर्वजों को त्रिकालदर्शी सर्वविद् मानते हैं; वह स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि मानव

ने ही मानव को रूढ़ियों में बाँधा है और ये बन्धन असहनीय है: 'और अधिक क्या कहें बापजी, कहते दुखता हिया, जटिल जाति का अटल पाँत का जाल है किसका सिया? मनुजी, तुमने यह क्या किया?' ऐसे स्वरों को ध्यान में रख कर, अनेक दोषों के रहते हुए इस समूचे युग की स्वस्थ, उदार, भविष्योन्मुख लौकिक सांस्कृतिक दृष्टि को स्वीकार करना ही होगा।

आत्म-प्रतिष्ठापन के आरम्भिक युग में खड़ी बोली में काव्य में दो प्रधान धाराएँ रही, इस का संकेत ऊपर किया जा चुका है। नैतिक-उपदेशात्मक काव्य का सम्बन्ध नयी सामाजिक दृष्टि से था, ऊपर के विवेचन के बाद इस पर जोर देने की आवश्यकता न होनी चाहिए। न इसी का अलग स्पष्टीकरण आवश्यक है कि उपदेश-काव्य की एक प्रेरणा प्रत्यभिमुख दृष्टि से भी मिलती थी। इतिवृत्त-काव्य अधिकतर जातीय उत्कर्ष के ऐतिहासिक अथवा पौराणिक युगों से प्रेरणा लेता था:आत्म-प्रतिष्ठापन के लिए अतीत गौरव का स्मरण और उस के प्रमाण से भावी उत्कर्ष की सम्भावना करना स्वाभाविक ही था। यों इस अनुक्रम में किसी भी स्थल पर रुका जा सकता था: कामताप्रसाद गुरु ऐतिहासिक घटनाओं की आवृत्ति से आगे नहीं बढ़े, और अयोध्यासिंह उपाध्याय की दृष्टि पौराणिक काल में ही रमी रही। भारतीयेतर प्रभाव दोनों कवियों में बहुत अल्प मिलेगा, अन्तरंग और बहिरंग दोनों दृष्टि से इन की प्रवृत्ति परम्परावादी रही, फिर भी समकालीन राजनैतिक प्रभावों से वे बिल्कुल अछूते नहीं रह सके। 'हरिऔध' के 'भारत-गीत' में ('महती महा पुनीता मधुरा मनोहरा है, वसुधा-ललामभूता भारत-वसुन्धरा है') भारत के समकालीन संघर्ष का वैसा स्पन्दित प्रतिचित्र भले ही न हो जैसा 'सनेही' की 'कौमी गजल' ('मुनक्कश अपने दिल पर हिन्द की तस्वीर होने दो, कदम से उस के अपने सीने पर तस्वीर होने दो') में है, पर इस में सन्देह नहीं कि उस संघर्ष की हवा उन्हें भी लगी। भारतेन्दु की मुकरी की-सी स्पष्ट दो-टूक बात ('रूप दिखावत सरबस लूटे, फन्दे में जो पड़े न छूटे कपट-कटारी जिय में हूलिस, क्यों सखि, साजन? नहीं सखि, पूलिस!') उन से कभी कहते न बनी, पर बहुत बचा कर बात कहते हुए भी इतना तो उन्हें भी कहना पड़ा कि 'क्या टलेंगें न पीसने वाले, क्या सदा ही पिसा करेंगे हम?'

इतिवृत्त-काव्य में भी संकीर्णता और प्रत्यभिमुखता के लिए यथेष्ट गुंजाइश थी। अतीत गौरव का स्मरण तीव्र साम्प्रदायिक पूर्वग्रह के साथ भी हो सकता था, (जिस की यत्किंचित् छूत इस काल के अनेक कवियों को थी और कामता-प्रसाद गुरु में भी देखी जा सकती थी) अथवा उस से यह भाव भी जगाया जा सकता था कि भारतीय जाति (क्योंकि सम्पूर्ण मानव-जाति) क्रमशः और अनिवार्यतः पतन की ओर जा रही है—उस अनिवार्यता से बचने

का कोई उपाय हो सकता है तो अतीत की ओर लौटना या अतीत युग को फिर ले आना ही। काल्पनिक इतिवृत्त भी काव्य में आता था, इस का एक कारण तो यह था ही कि राजनैतिक प्रतिबन्धों के कारण जहाँ सामयिक स्वदेशी प्रसंग नहीं उठाये जा सकते थे वहाँ ऐसे इतर देश-काल का सहारा लिया जाता था जिस से समयानुकूल भावनाओं को जगाया जा सकें। उदाहरण के लिए, रामनरेश त्रिपाठी के खंड-काव्यों को इसी दृष्टि से देखा जा सकता है। मिलन की घटना-भूमि उत्तर इटली में स्थापित की गयी है, और 'पथिक' की एक कम्पित देश-काल में, किन्तु दोनों की भाव-वस्तु समकालीन भारत और उस के राजनैतिक संघर्ष से सम्बन्ध रखती है और उसी के सन्दर्भ में दोनों काव्यों का पूरा रसास्वादन किया जा सकता है।

राय देवीप्रसाद और गोपालशरण सिंह का काव्य एक दूसरी दृष्टि से विशेष स्थान रखता है। ऊपर बताया गया कि काल या प्रवृत्तियों का दो-टूक विभाजन नहीं हो सकता : पूर्ववर्ती प्रवृत्तियाँ बहुत देर तक बनी रहती हैं और परिवर्ती प्रवृत्तियों के लक्षण बहुत पहले प्रकट हो जाते हैं। एक ओर परम्परानुगतिक प्रवृत्ति को गोपालशरण सिंह बहुत बाद तक ले आये, और दूसरी ओर जो रोमांटिक प्रभाव अनन्तर छायावाद में मुखर हुआ उस के पूर्व-संकेत 'पूर्ण' के काव्य में मिलने लगे। 'वसन्त-वियोग का कल्पोद्यान-वर्णन इस का उदाहरण है ही, अन्तिम 'था जहाँ बारामास ऋतु-राज-चारु विलास, पहुँचा वहाँ भी रोग भारी वसन्त-वियोग' को तो रोमांटिक भावना का पूरा प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है। और दूर की कौड़ी लाने न जा कर व्यापक परिपार्श्व के इंगित के लिए इतना कह देना अनुचित न होगा कि इसी प्रकार और बाद की 'नयी कविता' की प्रवृत्तियों के अंकुर श्रीधर पाठक में पाये जा सकते हैं। यह कहना कदाचित् इस युग के कवि-समुदाय के साथ अन्याय न होगा कि श्रीधर पाठक इस के सर्वाधिक कवित्व-सम्पन्न कवि थे। भारतेन्दु को खड़ी बोली युग का प्रवर्त्तक मान कर भी कहा जा सकता है कि श्रीधर पाठक ही उस के वास्तविक आदिकवि थे। युग को प्रतिबिम्बित करते हुए भी उन का काव्य सब से अधिक ऐसे तत्व हमें देता है जो युग के साथ ही बीत नहीं जाते—अर्थात् जो वास्तव में शुद्ध साहित्य-तत्त्व हैं।

द्विवेदी-युग की परिस्थितियाँ और समस्याएँ आरम्भिक युग से भिन्न थीं। हिन्दी के प्रतिमानीकरण का कार्य अभी पूरा न हुआ था, पर खड़ी बोली की प्रतिष्ठापना के विषय में कोई द्विधा न रही थी। इसी प्रकार यद्यपि भारतीयता के स्वरूप की कोई सामान्य और सर्वसम्मत अवधारणा अभी नहीं हो सकी थी, तथापि उस की अस्ति के बारे में कहीं कोई सन्देश नहीं रह गया था। राष्ट्र की रूप-कल्पना में कोई कठिनाई अब नहीं थी; एक व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव पड़ चुकी थी और सारा देश अँगड़ाइयाँ ले रहा था।

अपनी तत्कालीन परिवृत्ति के दबाव से मुक्त हो कर कवि फिर उन व्यापक और जटिल प्रभावों का ग्रहण-अन्वेषण, विश्लेषण और आवश्यक परिवर्तन के साथ स्वायत्तीकरण कर सकता था जो नये ज्ञान-विज्ञान के कारण मानसिक अथवा बौद्धिक वायुमण्डल में क्रियाशील थे। इस नयी स्थिति का परिणाम वे दो धाराएँ थीं जो खड़ी बोली काव्य के द्वितीय युग की विशेषताएँ हैं। नयी लौकिक दृष्टि ने मानव को जो नया गौरव दिया उस के विभिन्न अभिप्राय और आनुषंगिक परिणाम क्रमशः और स्पष्ट होते गए और उन से नयी प्रवृत्तियों का उदय हुआ, पर यह वास्तव में तीसरे उत्थान की बात है।

समकालीन प्रभाव हम इतर कवियों में तो देख ही सकते हैं, मैथिलीशरण गुप्त जैसे मर्यादा-प्रेमी वैष्णव भक्त कवि की रचनाओं में भी लक्ष्य करते हैं। उन के राष्ट्रीयतावाद की ओर तो संकेत करना भी अनावश्यक होगा, लोकमत ने सहज ही उन्हें राष्ट्रकवि का पद दिया और पाँच दशकों पर छाया उन का काव्य-कृतित्व राष्ट्र-प्रीति का सन्देश सुना कर देश को प्रेरणा और उद्‌बोधन देता रहा। किन्तु मानवतावाद की छाप भी उनके काव्य पर स्पष्ट थी: 'भारत-भारती और झंकार' से लेकर 'दिवोदास' और 'पृथिवी-पुत्र' तक उन के काव्य की प्रगति पद-पद पर उसे सूचित करती रही। उन की दृष्टि परलोक में नहीं, इसी लोक में निबद्ध थी; बार-बार नर के नरत्व का, पुरुष के पुरुषार्थ का जयघोष उन्होंने किया। 'भारत-भारती' की राष्ट्रीयता तत्कालीन वैचारिक स्थिति के अनुरूप ही अधूरी थी, और नये युग में वैसी प्रेरणा नहीं दे सकती थी जैसी उसने उस समय दी, किन्तु निरन्तर विकासशील विचारावली और आदर्श के कारण ही गुप्तजी इस द्रुत संक्रमति परिस्थिति में भी न केवल युग के साथ चलते रह सके वरन् समकालीन समाज को निरन्तर उद्‌बुद्ध करते रह सके। 'राजा और प्रजा' तक उन का काव्य निरन्तर हिन्दी-भाषी भारत की आशा-आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करता रहा। न केवल यही, उसे 'भारतीयता का काव्य' कहा जा सकता है क्योंकि उसमें उदारता भी है और मर्यादा प्रेम भी, प्राचीन का गर्व भी है और नये का अभिनन्दन भी, विशाल ऐतिहासिक अनुभव पर आधारित आस्था भी है और भविष्य के लिए एक संयत आशा भी। समकालीन चिन्तन को राष्ट्रीयतावाद और मानवतावाद में विरोध अनिवार्य दीखता है, और शुद्ध राष्ट्रीयतावाद की निष्पत्ति सर्वत्र जिस युयुत्सु संकीर्णता में होती रही है वह इस का पर्याप्त प्रमाण है; परन्तु मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में ऐसा कोई विरोध लक्षित नहीं होता—एक तो इसलिए कि स्वातन्त्र्य-लाभ तक इन दोनों में विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं था और जब तक राष्ट्रीयता शोषण से मुक्ति का आन्दोलन है तब तक वह मानववादी है ही; दूसरे इसलिए भी कि गुप्तजी का मानवतावाद निरन्तर उन के विश्वासों को संयत या विकसित करता रहा। कुछ लोगों का

कहना है कि इसी कारण उन का 'साकेत' उस पद को नहीं पा सका जो रामचरितमानस का है, वह जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि उनकी लोकोन्मुखता ही उनके काव्य को समाज के सब स्तरों में समान रूप से ग्राह्य बना सकी। वाद पीड़ित परवर्ती युग में प्रत्येक कवि विवाद का विषय बना पर गुप्तजी उससे दूर तक मुक्त रह सके।

भाषा के परिमार्जन और संस्कार में गुप्त जी की देनका उल्लेख करना आवश्यक है। इस का श्रेय महावीर प्रसाद द्विवेदी को दिया जाता हैं, और निःसन्देह उनकी कर्मठता, दृढ़ता और विवाद सन्नबद्धता के बिना यह कार्य न हो सकता। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उनकी भाषा - सम्बन्धी अवधारणाओं को मैथिलीशरण गुप्त जैसा कुशल और परितोषदायी उदाहर्ता न मिलता तो ये संस्कार इतनी सुगमता से इतने गहरे न पैठ पाते। भाषा के प्रतिमान निर्धारित करने वाला चाहे कोई हो, एक अकेला कृतिकार भाषा के रचनाशील व्यवहार से उसे जो व्याप्ति और सावंदेशिक मान्यता दिला सकता है वह बीसियों शास्त्रविद नियन्ताओं के सामर्थ्य से परे होता है। मैथिलीशरण गुप्त का प्रभाव कितना गहरा पड़ा. इसका इससे अच्छा और क्या उदाहरण होगा कि उन्होंने जो चलाया वह तो चला ही, जो निषेध किया वह छूटा ही, पर उन्होंने निषेध नहीं किया, केवल स्वयं नहीं बरता, उस को बरतना केवल इतनेही से कठिन हो गया कि उन्होंने उसे नहीं अपनाया । हिन्दी छन्द में लघु-गुरू-सम्बन्धी रियायतें जो द्विवेदी काल तक प्रचलित थीं और जो उर्दू में आज भी सजीव बनी हुई है, केवल गुप्त जी के द्वारा प्रयुक्त न होने के कारण अप्रचलित हो गयी और आज बरती जाती है तो उर्दू की मानी जाती है। नयी प्रवृत्ति उन्हें हिन्दी का पम्परागत अधिकार घोषित कर के पुनः अपनाने के लिए सचेष्ट है, वह दूसरी बात है।

सियारामशरण गुप्त साधारणतया उसी धारा में आते हैं जिस का प्रतीक पुरूष उनके अग्रज को माना जाता है। उनकी सांस्कृतिक चेतना ने असहयोग के आन्दोलन से विशेष प्रेरणा पायी। दार्शनिक आधारों को ध्यान में रखते हुए मानना होगा कि यह आन्दोलन एक सांस्कृतिक आन्दोलन था । सियायरामशरण गुप्त भारतीय सांस्कृतिक चेतना के नैतिक आधारों में बहुत गहरे पैठते थे, अग्रज की भाँति मर्यादा में नहीं, जिस भिति पर मर्यादा खड़ी होती है उसी में उनकी रूचि थी। सूक्ष्म नैतिक विवेचन में वह अद्वितीय थे, आचार की मान्यताओं की जाँच में वह उनके आधार भूत नैतिक मूल्यों को पकड़ते थे। अग्रज की भाँति वह कथा काव्य लिखते थे लेकिन उसकी वस्तु पौराणिक या ऐतिहासिक नहीं होती थी, वह समकालीन साधारण जीवनसे ली जाती थी। समकालीन साधारण जीवन का वृत्तान्त 'सनेही' ने भी लिखा, 'सनेही का आग्रह वस्तु पक्ष पर, आर्थिक वैषम्य, निर्धनता, उत्पीड़न, क्लेश पर था, सियारामशरण गुप्त का आग्रह वस्तुस्थिति के मूल में वर्तमान नैतिक समस्या

पर। मैथिलीशरण गुप्त की दृष्टि ही मानवतावादी थी, सियारामशरणजी अपनी वर्ण्य वस्तु से मानवीय सम्बन्ध भी स्थापित करना चाहते थे। मैथिलीशरणजी ने इतिहास की उपेक्षिताओं की ओर ध्यान खींचा, सियारामशरण जी समाज के-आज के समाज के-दलितों को सहानुभूति देते थे। यहाँ फिर इस सहानुभूति और 'सनेही' अथवा और पहले 'शंकर' के करुणा-भाव में भेद करने की जरूरत है। उन की करुणा का आधार व्यक्ति का कष्ट था, किन्तु सियारामशरणजी की व्यथा का कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व का असम्मान था। उन का आग्रह व्यक्ति की सुख सुविधा का नहीं, व्यक्ति की प्रतिष्ठा का था। वह काव्य को लोक के और निकट लाने के आग्रही थे क्योंकि वह लोक-साधारण से एकात्म्य के समर्थक थे। मैथिलीशरणजी मातृभूमि के, पारिवारिक जीवन के कवि थे, सियारामशरणजी मानव-सम्बन्धों के और सामाजिक जीवन के; मैथिलीशरणजी की दृष्टि ऐतिहासिक सांस्कृतिक थी, सियारामशरणजी की सामाजिक-नैतिक; मैथिलीशरणजी निष्ठा के कवि थे, सियारामशरणजी संवेदना के।

माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा भी मुख्यतया राष्ट्रीयता के कवि हैं, यद्यपि उनमें वे प्रवृत्तियाँ भी पायी जाती हैं जिनकी हम अभी छायावाद के प्रसंग में चर्चा करेंगे; छायावाद के आरम्भिक काल की भाषा-सम्बन्धी स्वच्छन्दता भी उनमें पायी जाती है। दोनों में न केवल संस्कारी भाषा का आग्रह नहीं रहा वरन् उसके प्रतिकूल कभी बहुत अटपटी और कभी बहुत मुहावरेदार, कभी ठेठ और कभी गरिष्ठ, कभी सीधी-सादी और कभी दुरूह भाषा दोनों ने लिखी। सिद्धान्ततः 'नवीन' संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के, अरबी-फारसी के व्युत्पन्न शब्दों के बहिष्कार के, समर्थक थे अर्थात शुद्धिवादी थे; व्यवहार में उनका स्वच्छन्द और अराजक स्वभाव ऐसी कोई मर्यादा नहीं निबाह पाता था। किन्तु यह अराजकता दोनों कवियों के काव्य के आस्वादन में बाधा नहीं देती, क्योंकि कुछ ऐसी ही अव्यवस्था उस वर्ग में भी पायी जाती रही जो उस काव्य का पाठक था—साधारणतया राष्ट्रीयतावादी किन्तु इस से आगे अस्पष्ट और दिशाहीन असन्तोष और अशान्ति से भरा हुआ वर्ग, जो अधकचरी अंग्रेजी-शिक्षा के कारण अपनी बोली से भी कट गया था और किसी अन्य भाषा से अन्तरंग सम्पर्क भी न स्थापित कर सका था। अब, जब एक ओर हिन्दी एक पुष्ट और परिमार्जित रूप पा चुकी है, और दूसरी ओर छायावाद के द्वारा लाये गये या सीधे अंग्रेजी से आये हुए प्रयोग भी किसी हद तक रूढ़ होकर अपना स्थान बना चुके हैं, माखनलाल चतुर्वेदी अथवा 'नवीन' की भाषा की असम गति और उभर कर दीखती है, लेकिन हिन्दी-पाठक (और समकालीन कवि) की चेतना पर उनके काव्य ने प्रभाव डाला यह असन्दिग्ध है। उसमें एक ओज और प्रवाहमयता है जो अभी तक अनुकरण को ललकारती है। परवर्ती

काव्य-आन्दोलनों में ठेठ बोली और देहाती मुहावरे के बारे में जो कौतूहल और प्रयोग-तत्परता लक्षित होती है, उसे इन बुजुर्गों के उदाहरण से प्रेरणा न मिलती यह असम्भव था।

यहाँ तक हम ऐसी काव्य-कृतियों की बात करते आये हैं जिन्हें साधारणतया विषय-प्रधान कहा जा सकता है। यद्यपि विषय की प्रधानता सब में एक-सी रही और कभी-कभी विषयों की चिन्तना या अनुभूति विशेष रूप से मुखर हो उठती है, तथापि इन कवियों को उन से, जिन्हें छायावादी कहा जाता है, जो बात पृथक् करती है वह यही है। विषयी-प्रधान दृष्टि ही छायावादी काव्य की प्राण-शक्ति है।

ऊपर हमने मूल्यों और प्रतिमानों के ह्रास और उनके स्थान पर नये मूल्यों और प्रतिमानों की स्थापना का उल्लेख किया है। विदेशी शिक्षा तो आयासपूर्वक पुराने मूल्यों को उच्छिन्न कर ही रही थी; पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव भी इसी दिशा में पड़ रहा था। ईश्वर-परक नैतिकता का स्थान मानव-परक नैतिकता ले रही थी; नयी नैतिकता की स्थापना धीरे-धीरे हो रही थी अत: एक स्वच्छन्दतावादी या कि नास्तिकतावादी अन्तराल बढ़ता जा रहा था। महायुद्धोत्तर अव्यवस्था और नैराश्य ने इस अन्तराल को और बढ़ा दिया। फलत: संवेदनाशील कृतिकार में गहरा अन्तर्द्वन्द्व प्रकट हुआ। यह अन्तर्द्वन्द्व उसे साधारण जन से दूर भी ले गया और इस दूरी के बोध ने अन्तर्द्वन्द्व को नयी तीव्रता भी दी। इसने नये कवि में एक अभूतपूर्व मनोवैज्ञानिक व्याकुलता उत्पन्न की। छायावादी काव्य मुख्यतया इस व्याकुलता को अभिव्यक्त करने के प्रयत्नों का परिणाम था। 'छायावाद' नाम सर्वथा अपर्याप्त है, किन्तु साहित्यिक वादों के नाम प्राय: ही अपर्याप्त और अनुपयुक्त होते हैं और प्रचलन ही उन्हें अर्थ देता है। 'छायावाद' नाम भी पहले अवहेलनासूचक अर्थ में प्रयुक्त हुआ था।

छायावादी कवि की यह व्याकुलता नाना रूपों में प्रकट हुई। किन्तु उनमें सामान्य बात यह थी कि विषय की प्रधानता थी; सभी रूपों की मूल प्रेरणा वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति थी। वह वैयक्तिकता चाहे कल्पना की हो, चाहे चिन्तन की चाहे अनुभूति की और चाहे स्वयं आध्यात्मिक व्याकुलता की हो। इस वैयक्तिकता के उत्थान में मानसिक और आध्यात्मिक व्याकुलता के अतिरिक्त सीधे विदेशी प्रभाव भी कारण हुए। अंग्रेजी रोमांटिक काव्य से परिचय होना भी एक महत्वपूर्ण कारण था। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि विदेशी परम्परा से परिचय और अपनी परम्परा का अज्ञान (जो दोनों ही विदेशी शिक्षा के फल थे!) बहुत हद तक इस नयी प्रवृत्ति के, और इसलिए उस प्रवृत्ति के उपहास के भी, कारण बने। किन्तु आज, जब छायावादी कविता हिन्दी परम्परा की एक प्रतिष्ठित कड़ी है और हमारी काव्य-सम्पदा की एक बहुमूल्य वस्तु, तब हम, उपहास-वृत्ति छोड़ कर यह भी

पहचान सकते हैं कि इन 'विदेशी' प्रभावों में वास्तव में अपने ही स्वरों की प्रतिध्वनियाँ भी थीं, केवल दूरी और विभिन्न माध्यमों के प्रभाव ने उनका रूप इतना बदल दिया था कि उन्हें पहचानना कठिनहो जाये।

अंग्रेजी रोमान्टिक काव्य ने इटली और यूनान से या फ्रांस जर्मनी से छन कर आये हुए इन देशों के प्रभावों से, प्रेरणा की, पर स्वयं इन देशों में, बल्कि सारे पूर्वी यूरोप और भूमध्य सागर तट प्रदेश के साहित्य में, पश्चिम एशिया के प्रभाव क्रियाशील थे, और उनमें पूर्व की देन काफी थी। रोमांटिक आन्दोलन का नया बहुदेवतावाद प्राचीन यूनानी साहित्य का प्रभाव मात्र नहीं था, यह तो इसी से स्पष्ट होना चाहिए कि यूनानी 'क्लासिकल' साहित्य सदैव यूरोपीय साहित्य की पृष्ठिका में रहा और 'क्लासिकल' के प्रति विद्रोही ही तो 'रोमांटिक' हुआ। प्रश्न साहित्य से परियच का नहीं था। साहित्य के प्रति नयी दृष्टि का था। जर्मनी में गयटे ने कालीदास की शकुन्तला को सम्बोधन कर के कविता लिखी, अथवा रूमानिया में ऐमेनेस्कू ने 'कामदेव' पर काव्य लिखा, इसका इटली या यूनान से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह बात चौकाने वाली हो सकती है पर निराधार नही कि यदि छायावादी आन्दोलन की एक प्रेरणा हिन्दी कवि द्वारा शैली और कीट्स का आविष्कार था, तो यूरोप के रोमान्टिक आन्दोलन की एक प्रेरणा यूरोपीय कवि द्वारा कालिदास का आविष्कार था। निःसन्देह केवल एक प्रेरणा के आधार पर कोई व्यापक स्थापना करना भूल होगी, पर वह बात दोनों दिशाओं के प्रभाव के बारे में वाही जा सकती है । वैसे हिन्दी पर रोमान्टिक काव्य के प्रभाव में दूरागत भारतीय प्रतिध्वनि थी, इसे यों भी सिद्ध किया जा सकता है। कि उस काव्य के द्वारा प्रभावित हिन्दी कवि फिर कालिदास की ओर लौटे - उन्होंने एक नयी दृष्टि से कालिदास को देखा और अपनाया या कहें कि कालिदास का पुनराविष्कार किया । यह उल्लेखनीय है कि कालिदास के हिन्दी अनुवार महावीर प्रसाद द्विवेदी प्रभृति जिन कवियों ने किये उन्होंने कालिदास के बारे में नयी दृष्टि नहीं पायी, उनके लिए प्रबन्ध काव्य भर रहा जिसमें वृत्तान्त मुख्य था और वर्णन काव्य लक्षणों की दृष्टि से अनिवार्य, बस । किन्तु छायावादी कवि ने कहानी मानो पढ़ी ही नहीं, कालिदास नामक ऐन्ट्रजालिक द्वारा सशरीर आँखों के सामने ला खड़ी की गयी प्रकृति की अनिर्वचनीय मूर्ति को वह अपलक देखता रहा गया। यहाँ भी नये परिचय का प्रश्न नहीं था, नयी दृष्टि का ही प्रश्न था। इसीलिए कालिदास के 'पुनराविष्कार' की बात वाही गयी इसी प्रकार नया युग नयी दृष्टि दे कर नयी अर्थवत्ता की प्रगति करता है।

वास्तव में अंग्रेजी में, साधारणतया यूरोप में, रोमाटिक भावना के अभ्युदय के अनेक कारण थे। किन्तु यहाँ यूरोपीय साहित्य के इतिहास का ब्योरा आवश्यक नहीं है। यहाँ

इतना कहना पर्याप्त है कि यद्यपि रोमांटिक आन्दोलन पर विज्ञान द्वारा बुद्धि के उन्मोचन का प्रभाव पड़ा, तथापि उस आन्दोलन की नयी दृष्टि का रहस्य बुद्धि के उन्मोचन में नहीं, भावना और कल्पना के उन्मोचन में, एक नयी संवेदना में था। इसके अतिरिक्त उसे उस नैतिक उन्मोचन से भी यथेष्ट सुविधा मिली जो धर्म अथवा ईश्वर-परक नैतिकता के स्थान में प्रकृति-परक नैतिकता के अंगीकार का स्वाभाविक परिणाम था। रोमांटिक आन्दोलन की परिधि के भीतर भी, ज्यों-ज्यों प्रकृति-सम्बन्धी धारणा बदलती गयी त्यों-त्यों प्रकृत नैतिकता की अवधारणा भी बदलती गयी और परिणाम नैतिक उन्मोचन ने एक अभूतपूर्व स्वच्छन्दतावाद का रूप लिया। 'प्रकृति एक भव्य कल्याणमयी शक्ति है'; 'प्रकृति नीति-अनीति से परे का एक सहज आकर्षक बन्धन है'; 'प्रकृति मूलतः पापात्म है किन्तु उसके मोहमय रूप के आकर्षण से कोई बच नहीं सकता'; 'पाप ही जब प्रकृति है तब स्वेच्छापूर्वक उसका वरण ही प्रकृति-धर्म के अनुकूल आचरण है'-इस परात्पर-क्रम में रोमांटिक आन्दोलन के उत्कर्ष और अधःपतन के पूरे इतिहास का निचोड़ है।

नैतिक उन्मोचन के नये और स्फूर्तिप्रद वातावरण में कलाकार की कल्पना स्वच्छन्द विचरण करने लगी। इस स्वच्छन्दता के नये प्रतीकों की खोज में कवि उन बहुदेवतावादी परम्पराओं की ओर मुड़ा जिन्हें ईसाइयत ने दबा दिया था। इनमें एक और यूनानी देव-माला थी जिससे 'क्लासिकल' साहित्य के कारण समूचे यूरोप का शिक्षित वर्ग परिचित था। इसके देवता अधिकतर प्राकृतिक शक्तियों के देव-प्रतिम रूप थे और इसलिए उस वातावरण में सहज ही ग्राह्य हो सकते थे जिसमें प्रकृति को एक नये प्रकाश में देखा जा रहा था। दूसरी ओर ईसा-पूर्व स्थानीय परम्पराओं के देवता अथवा देवाकार पूर्व पुरुष थे-उदाहरणतया ट्यूटन अथवा नोर्स परम्परा के, युद्ध और शान्ति के, प्रेम और ईर्ष्या के देवता। ये भी प्राकृतिक शक्तियों के देवता थे, क्योंकि ये मानव की सहज प्रवृत्तियों के अतिमानवीय रूप थे। धर्म-मूलक नैतिकता के स्थान पर प्रकृत नैतिकता की प्रतिष्ठा की क्रिया में ये भी अनुकूल और उपयोगी प्रतीक देते थे। तीसरी ओर परम्पराओं का वह समूह था जिसे यूरोप की दृष्टि से 'पूर्वीय' कहा जा सकता है; इनमें 'निकट-पूर्व' अथवा पश्चिम एशिया और भूमध्यसागर के दक्षिणी-पूर्वीय तट से आने वाले प्रभाव भी थे और भारत अथवा चीन तक से आने वाले प्रभाव भी। निकट-पूर्वीय प्रभावों में इस्लाम धर्म बहुदेवतावादी नहीं था; परन्तु उसके प्रदेश में ऐसे अन्धविश्वासों की कमी नहीं थी जो स्वच्छन्दतावादी कल्पना को खुला क्षेत्र दे सकें। (इस अन्तर्विरोध को समझने के लिए हम स्मरण करें कि भारत में ही जब आक्रान्ता हो कर इस्लाम तलवार के जोर पर अपने विशिष्ट एकेश्वरवाद का प्रचार कर रहा था, तब उसी के प्रचारकों का सांस्कृतिक प्रभाव हमारे आख्यान और लोक-कथा-साहित्य को जिन्न-भूत और परी-फरिश्तों की चित्र-विचित्र वाहिनी से भर रहा

था।) धर्म-युद्धों के काल में वैजन्ती साम्राज्य के कारण पश्चिम एशियाई प्रभाव विशेषतया दक्षिण यूरोप में पहले से सक्रिय थे। भारत चीन के प्रभाव कुछ तो यूनान से प्राचीन परिचय के कारण बीज रूप में रहे ही होंगे, कुछ अरब और पुर्तगेजी सागरिकों के साथ पश्चिम एशिया से छन कर ( और रूपान्तरिक अथवा विकृत होकर ) ही यूरोप में पहुँचे, जहाँ उनकी दूरी उनके आकार अस्पष्ट करती थी, यहाँ कल्पना को मनमाने आकार गढ़ने की सुविधा भी देती थी।

इंग्लैण्ड में रोमान्टिकवाद का झुकाव पहले और प्रधानतया यूनानी-इटालीय परम्परा की ओर हुआ, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है ये देश स्वयं पूर्व से प्रभावित हो रहे थे । परवर्ती अंग्रेजी कवियों पर फ्रांसीसी रोमान्टिकवाद की छाप गहरी थी और उसमें पश्चिम एशिया (और उत्तर अफ्रीका) के प्रभाव गहरे थे। जर्मन रोमान्टिक काव्य में टयूटन परम्पराओं का प्रतिबिम्ब स्पष्ट है। उसके अतिरिक्त पूर्व के प्रभाव भी पर्याप्त थे। कॉलरिज के काव्य में भारत और चीन की ओर संकेतों की भरमार है, कीट्स पर यूनानी (हेलेनिक) प्रभाव मुख्य है, शेली पर इस्लाम का प्रभाव उल्लेखनीय है (भले ही इस्लाम की उसकी अवधारणा बिल्कुल अनैतिहासिक हो), और इसका भी प्रमाण है कि उपनिषदों के अनुवाद उसने पढ़े थे (दारा शिकोह के अनुवादों के फ्रांसीसी अनुवाद प्रायः रोमांटिक कवियों ने पढ़े, उत्तर रोमान्टिकों ने अमरूक के अनुवाद भी)। बायरन में विभिन्न प्रभाव लक्ष्य हैं और फ्रांसीसी आन्दोलनों से उसका निकट सम्बन्ध है स्विनबर्न और रोजेटी भी अनेक प्रभावों को प्रतिबिम्बित करते हैं।

भारतीय और यूरोपीय साहित्यों के परस्पर आदान प्रदान के परिपार्श्व में, उन्नीसवीं शती के अंग्रेजी साहित्य ने किस प्रकार हिन्दी मे छायावाद के आविर्भाव में योग दिया, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा। अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीय पाङ्क का परिचय केवल समकालीन पश्चिमी साहित्य से नहीं वरन् एक साथ ही उसकी पूरी परम्परा से कराया था, इसलिए विभिन्न प्रभावों का संकुल उपस्थित होना स्वाभाविक था। पर साहित्यों या संस्कृतियों के प्रभाव में यह बात भी महत्व रखती है कि परिस्थिति कहाँ तक किस प्रभाव के ग्रहण के अनुकूल है ऐसा हो सकता है कि कोई बीज युगों के बाद सहसा अंकुरित हो उठे जैसा कि कालिदास के विषय में ऊपर देखा जा चुका है।

तो छायावाद मुख्यतया पश्चिम से प्रभावित नयी व्यक्ति परक दृष्टि का परिणाम था। किन्तु वह केवल विदेशी परम्परा में एक स्वदेशी कड़ी जोड़ने का प्रयत्न नहीं थ, नये छायावादी कवि के पास अपना नया वक्तव्य अवश्य था और उसे कहने की तीव्र उत्कंठा भी। जिन कवियों में निष्ठा थी वे उपहास और अवमानना से संकल्प च्युत न होकर नये सामंजस्य

के शोध में लगे रहे और क्रमशः जो अटपटा और अपरिचित जान पड़ता था उसे आत्मीय और प्रीतिकर बनाने में सफल हुए।

छायावादी के सम्मुख पहला प्रश्न अपने कथ्य के अनुकूल भाषा का-नयी संवेदना के नये मुहावरे का था। इस समस्या का उसने धैर्य के साथ सामना किया। उपहास और अवमानना से च्युत-संकल्प न होकर उसने अपनी बात कही और जो कुछ कहा उसके सुनिश्चित कारण भी दिये। क्रमशः उसकी साधना सफल हुई और जो एक दिन उपहासास्पद समझे जाते थे आज हिन्दी के गौरव माने जाते हैं। छायावादी कवियों ने भाव, भाषा, छन्द और मण्डन-शिल्प सभी को नया संस्कार दिया; छन्द, अलंकार, रस, ताल, तुक आदि को गतानुगतिकता से उबारा; नयी प्रतीक-योजना की स्थापना की। इस प्रकार काव्य की वस्तु और रूपाकार दोनों में गहरा परिवर्तन प्रस्तुत हुआ।

छायावाद के चार प्रमुख कवि हैं–जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पन्त और महादेवी वर्मा। वैयक्तिकता के काव्य में यह अस्वाभाविक नहीं कि चारों एक वर्ग के होकर भी परस्पर इतने भिन्न हों।

स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद' के काव्य में वह उन्मुक्त स्वच्छन्द भाव नहीं है जो अन्य छायावादी कवियों में पाया जाता है, यद्यपि संसार की रूप-माधुरी को आकण्ठ पान करने की लालसा उनकी कविता में स्पष्ट है। इसका एक कारण तो अतीत के प्रति, और विशेष रूप से बौद्ध उत्कर्ष-काल के प्रति, उनका आकर्षण है। जहाँ इस आकर्षण के कारण उस काल के मोहक और मादकता-भरे चित्र प्रस्तुत करते हैं वहाँ यह भी पाते हैं कि उससे एकात्मक हो कर वह अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के प्रति एक संकोच का अनुभव करते हैं। उनकी आरम्भिक रचनाओं में तो इस संकोच का बन्धन इतना कड़ा है कि बहुधा जान पड़ता है कि वह जो कहना चाहते हैं कह नहीं पाये; मण्डल और सज्जा का एक भारी आवरण उनके भावों पर है जो स्वयं तो लुभावना हो सकता है पर प्रकाशन में सहायक नहीं होता। इस संकोच या झिझक का दूसरा कारण भाषा की अपर्याप्ता भी थी जिस का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। फिर सामाजिक परिस्थिति के साथ अ:सामंजस्य भी एक कारण रहा : एक ओर वह देश-काल की सीमाओं से परे किसी कल्पना-लोक में विचरण करने की आकांक्षा जगाता था तो दूसरी ओर प्रकृत आकांक्षाओं की सहज अनुभूति को संकुचित करता था। इन दोनों प्रवृत्तियों की चरम परिणति क्रमशः पलायनवाद और निराशावाद में होती है। सौन्दर्य उपभोग्य है, इस विषय में 'प्रसाद' कभी द्विधा में नहीं थे, न रूपाकर्षण को लेकर कोई गाँठ उनके मन में पड़ी; वह निरन्तर 'पार्थिव सौन्दर्य को

स्वर्गीय महिमा से मंडित' कर के देखते रहे। अत: वह पलायनवादी, निराशावादी न हुए; पर असामंजस्य के अनुभव ने उन्हें भी अपने भावों को आध्यात्मिकता के आवरण में व्यक्त करने को प्रेरित किया। भावनाओं को मूर्त रूप देकर स्वतन्त्रकर्त्ता के रूप में उनका वर्णन करना इसी प्रवृत्ति का एक रूप है, और वह समानरूप से सभी छायावादी कवियों में लक्षित होती है। 'प्रसाद' जी इससे आगे भी बढ़े; आरम्भ में जो केवल एक आवरण था, गम्भीर चिन्तन और मनन के कारण एक तत्त्व-दर्शन बन गया : निजी अनुभूति से ऊपर उठकर उन्होंने एक परम प्रेममय, परम आनन्दमय का आभास पाया और उन का काव्य उसी के प्रति निवेदित हुआ। इसी कारण उनका काव्य अतृप्ति का काव्य नहीं हुआ, जैसा कि कम समर्थ कवियों का हो गया जिनके कारण छायावाद के ग्राह्य होने में और भी देर लगी।

छायावाद का स्वच्छन्दतावादी पक्ष अपने पुष्ट और सबल रूप में श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के काव्य में व्यक्त होता है। अपने समूचे कृतिकाल में वह अपना कविनाम सार्थक करते हुए एक अविराम विद्रोह-भावना के कवि रहे : किसी भी क्षेत्र में गतानुगतिकता उन्हें अवमान्य हुई और एक प्रखर व्यक्तित्व की ओज-भरी और दुर्दान्त अभिव्यक्ति से उन्होंने पाठक और आलोचक को अभिभूत कर दिया। किन्तु व्यक्तित्व की निर्बाध अभिव्यक्ति के इस कवि में व्यक्ति वैचित्र्य की चेतना बहुत कम रही; सहज भाव से ही उस तेजस्वी व्यक्तित्व की विशिष्टता और शक्ति प्रतिभासित हो गयी। अनुभूति की तीव्रता के कारण उनके आवेग प्राय: निरंकुशता की सीमा पर रहते थे; और 'छन्द के बन्ध' के प्रति कवि की घोर अनास्था इस खतरे को और भी बढ़ा देती थी, किन्तु वास्तव में कवि का मुक्ति का आग्रह बाह्य प्रसाधन के प्रति विद्रोह था, आन्तरिक सयम की अवज्ञा नहीं; उनके मुक्त छन्द में भी एक झंकार और ताल विद्यमान था। और क्रमश: उनकी रचनाओं में एक और गहरा संयम भी लक्षित हुआ - उन के कथा-काव्य में : घटनाओं की पूर्वापर समति ने अनिवार्यत: अंकुश का काम किया और इस प्रकार सधी हुई शक्ति का जो आभास उनके कथा-काव्य में मिला वह अतुलनीय हुआ। 'राम की शक्ति-पूजा' जैसी दूसरी रचनाएँ हिन्दी में नहीं हैं। निष्कम्प सन्तुलन के साथ आवेगों की ऐसी तीव्रता और भाषा का तदनुकूल प्रवाह दुर्लभ है। स्फुट गीत सर्वत्र ऐसे विमुग्धकारी नहीं हुए; और उनमें दुरूहता और दुर्बोधिता भी थी और कहीं-कहीं असम्बद्धता या विसंगति भी किन्तु उनमें भी जो सफल प्रगीत थे वे मानो खड़ी बोली के पाठक के लिए एक नया अनुभव सिद्ध हुए। बँगला-साहित्य के गहरे अध्ययन का भी उनकी रचनाओं पर प्रभाव रहा : बँगला के स्वच्छन्दतावादी और रहस्यवादी काव्य ने उनकी भाषा और विचार-संयोजन को एक विशिष्ट दिशा देने में योग किया। परवर्त्ती कविता में लोकभाषा की ओर आने का नया प्रयास दिखा; और पुष्टतर सामाजिक चेतना उन्हें तीखे व्यंग्य और कटाक्ष की ओर से प्रेरित करती रही।

छायावाद की शक्ति का प्रतिरूप जहाँ 'निराला' ने उपस्थित किया, वहाँ उसकी सूक्ष्म संवेदना श्री सुमित्रानन्दन पन्त में लक्षित हुई। पाश्चात्य रोमांटिक-वाद ने किस तरह इस कवि की हिन्दी कविता को प्रभावित किया, इसे समझने के लिए भी पन्तजी का काव्य ही अध्येय है। रोमांटिकवाद को 'द रनेसेंस ऑफ़ वंडर'-आश्चर्य-कौतूहल का पुनरुज्जीवन कहा गया है। पन्तजी के प्रथम काव्य-संग्रह का (बल्कि पहले दो संग्रहों का) इससे अच्छा वर्णन नहीं हो सकता; मानव और प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति एक ऋजु कौतूहल उनका मूल स्वर था। सौन्दर्य के प्रति 'निराला' में एक पौरुष-दृप्त जयी का भाव था, 'प्रसाद' में पारखी उपभोक्ता का; पन्त में उसकी अन्तर्निहित शोभा के प्रति एक मुग्ध अकृत्रिम विस्मय का भाव है। आरम्भिक अंग्रेजी रोमांटिक कवियों के साथ तुलना को और आगे बढ़ाना हो, तो 'पल्लव' की भूमिका की वर्ड्सवर्थ और कोलरिज के 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका के साथ तुलना की जा सकती है : छायावाद की दृष्टि को स्पष्ट करने और उसके आन्दोलन को ग्राह्य बनाने में इस भूमिका ने वही काम किया जो रोमांटिक दृष्टि और आन्दोलन के लिए कोलरिज-वर्ड्सवर्थ ने किया था। पन्तजी ने इस भूमिका में शब्दों की प्रकृति और उनकी अर्थबोधन-क्षमता, छन्द, तुक और ताल का नयी दृष्टि से विवेचन किया, और उसके समवर्ती काव्य-रसिक को नयी दृष्टि दी।

पन्तजी मूलत: गीतिकाव्य के कवि रहे। यह गीति-काव्यात्मकता वर्ड्सवर्थ और शैली से प्रभावित हुई यह असन्दिग्ध है : उनके अनेक लाक्षणिक प्रयोग और प्रतीक-योजनाएँ भी अंग्रेज़ी रोमांटिक काव्य का प्रभाव सूचित करती हैं। किन्तु यह प्रभाव-अनुकरण कदापि नहीं है; उस काव्य की विशेषता को स्वायत्त कर के एक नयी दृष्टि प्राप्त कर के पन्तजी आगे बढ़े हैं। भारतीय परम्परा से पहले से भली-भाँति परिचित होने के कारण वह यों भी निरे नयेपन के आकर्षण में नहीं पड़ सकते थे, और एक सचेत कलाकार के नाते यह निरन्तर नवीन विचारों के साथ अपनी साहित्यिक परम्परा का सामंजस्य भी खोजते गये। व्याप्ति पाती हुई उनकी सांस्कृतिक दृष्टि उनके काव्य को तीन-सोपानों पर ले गयी है। सौन्दर्य-बोध पर समाज-बोध हावी हुआ, और फिर उस पर अध्यात्म-बोध। आरम्भ के मुग्ध विस्मय का स्थान पहले एक दायित्व-ज्ञान ने लिया, और फिर एक व्यापक कल्याण-भावना ने। इस संक्रमण में बीच-बीच में सहज कौतूहल मानो फूट कर निकलता रहा – और सौन्दर्य के प्रति कौतूहल ने केवल रूप-कौतूहल का नहीं, शब्द-कौतूहल, ध्वनि-कौतूहल, नाद-कौतूहल का भी रूप लिया - किन्तु अब उसकी शान्तोदात्त गति मानो कल्पना की रंगीनी और आवेगों की चंचलता से ऊपर उठ गयी है : वह केवल एक अनिर्वचनीय आध्यात्मिक उन्मेष और आनन्द का सृजन करती है।

श्री रामकुमार वर्मा भी छायावादी परम्परा के कवि हैं। उनकी प्रतिभा की मुख्य अभिव्यक्ति नाटक के क्षेत्र में हुई है; उनकी कविता में उच्च कोटि का परिमार्जन और सौष्ठव और अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रहते हुए भी उस कोटि की मौलिकता नहीं है जो कि 'निराला' और पन्त के काव्य की मूल शक्ति रही। रामकुमार वर्मा नया मार्ग बनाने वाले नहीं, प्रशस्त मार्ग का अनुसरण करने वाले रहे हैं, यह कथन उनके काव्य के गुणों को और साथ-साथ उनके कृतित्व की मर्यादा को सूचित करता है। छायावाद की भाव-प्रवण सहजता उनमें एक नियन्त्रित और अलंकृत रहस्यवादिता के रूप में प्रकट होती है : कवि की संवेदना को सदैव कलाकार का रूप-बोध संस्कार देता रहता है, और कभी तो संवेदना केवल एक निर्दिष्ट रूपाकार में हल्के-हल्के रंग भरती है। 'गीत' के प्रतिमान और 'कविता' के प्रतिमान में अन्तर असार नहीं है।

छायावाद के उपर्युक्त कवि सहज ही दो धाराओं में बँट जाते हैं, यद्यपि जैसा कि हम पहले भी कह आये हैं, सबकी वैयक्तिकता विशिष्ट है। भावी इतिहासकार कदाचित् 'निराला' और 'पन्त' को ही छायावाद के प्रतिनिधि कवि मानेगा, क्योंकि उसका शुद्ध रूप उन्हीं में प्रकट होता है। 'प्रसाद' का ऐतिहासिक ग्रह उस उच्छ्वसित वैयक्तिकता के आड़े आता है जो छायावाद का मूल लक्षण है; श्रीमती महोदवी वर्मा में भी 'प्रसाद' की भाँति एक संकोच है जिसका स्रोत दूसरा है। उनमें तीव्र संवेदना है और उनका क्षेत्र भी गीति-काव्यात्मक है पर संवेदना की अपनी मर्यादाएँ होती हैं। संकोच–जिसके मूल में वही आशंका है कि भावों की सहज अभिव्यक्ति पाठक के अग्राह्य होगी और उसे सहानुभूति न दे सकेगा - उन्हें भी प्रतीकों का आश्रय लेने को बाध्य करता है। वह भी अपने भावावेगों को दबाती या आवृत करती हैं, और मनोवृत्तियों को मूर्त रूप दे कर उत्तम पुरुष में उनके क्रिया-व्यापारों का वर्णन करके तटस्थता या विषयी-निरपेक्षता का आभास उत्पन्न करती हैं। किन्तु यह बात भी उनके पहले के काव्य के विषय में ही कही जा सकती है। उनमें सहज-द्रवित सूक्ष्म संवेदना तो थी, पर मुक्त अभिव्यक्ति को सम्भव बनाने वाला नि:संशय आत्म-विश्वास नहीं; फलत: उनके काव्य की दिशा उत्तरोत्तर अन्तर्मुख होती गयी और पीछे के काव्य को छायावादी न कहकर रहस्यवादी कहना ही उचित होगा। उसमें भावोच्छ्वास क्रमश: कम होता गया है; प्रतीकों का उत्तरोत्तर अधिक सहारा लिया गया है। उनका काव्य एक 'चिरन्तन' और 'असीम' प्रिय के प्रति निवेदित है जिसमें अशेष कोमलता है। सारी प्रकृति उसकी प्रतीक्षा में नि:स्तब्ध सजगता से खड़ी है, आसन्न मिलन और आसन्न विरह के दो ध्रुवों में दोलायित जीवन की धूप-छाँह ही उनके काव्य की वर्ण्य वस्तु है।

मानव की प्रतिष्ठापना के काव्य की और गहरी पड़ताल करने पर हम देखते हैं कि इस

आन्दोलन के चलते-चलते ही हमारी मानव-सम्बन्धी धारणाएँ बदलती गयीं और प्रतिष्ठा का अर्थ तो बदला ही। फलतः मानव की प्रतिष्ठा का समान आग्रह करने वालों में भी कई दल हो गये जो न केवल परस्पर भिन्न वरन् बहुधा उग्र विरोधी भी रहे।

'मानव की प्रतिष्ठा' का पहला और व्यापक अर्थ था मानव-समाज के आधारभूत नैतिक मूल्यों का पुनःपरीक्षण, और एक नये लौकिक आधार पर उनकी स्थापना; अथवा देव-सम्भूत नैतिकता के बदले मानव-सम्भूत नैतिकता की प्रतिष्ठा। व्यापक दृष्टि से भी इस परिवर्तन के दो सोपान रहे: पहले लोकोत्तर नियमों अथवा ऋत का स्थान प्राकृतिक नियमों अथवा विज्ञान ने लिया, फिर प्रकृति के स्थान में मानव में प्रतिष्ठा हुई। परिवर्तन के इन दो सोपानों को ध्यान में रख कर ही हम उस वैविध्य को समझ सकते हैं जो इस काल की साहित्यिक प्रगति में लक्षित हुआ।

विज्ञान द्वारा प्राकृतिक नियमों के शोध का जहाँ एक ओर यह परिणाम हुआ कि संसार के घटना-चक्र को हम विधि की वामता या स्वैर गति से संचालित न मान कर प्राकृतिक नियमों द्वारा संचालित मानने लगे और समझने लगे कि जीवन की प्रगति में एक स्पष्ट कार्य-कारण-परम्परा और संगति है, वहाँ दूसरी ओर यह भी एक परिणाम हुआ कि प्रकृत प्रत्यक्ष की अनैतिकता या अतिनैतिकता ने हमारे सदसद्-विवेचन को निरर्थक सिद्ध कर दिया। पुण्य पुरस्कृत होता है, पाप का दंड मिलता है (इस लोक में या परलोक में), यह मानना असम्भव हो गया : यह असन्दिग्ध था कि प्रकृति पापी और पुण्यवान् में कोई भेद नहीं करती। 'प्रकृति अतिनैतिक है', विज्ञान की इस पहली स्थापना से बढ़ कर साहित्यकार का यह मान लेना कि 'प्रकृति पापवृत्ति' है शोचनीय भले ही रहा हो, सर्वथा अकल्पनीय तो नहीं था। इस प्रकार पाश्चात्त्य विज्ञान के बुद्धिवाद ने ही उस रोमांटिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन (और पक्ष पुष्ट करने का उपकरण) दिया जो उसके विरोध में खड़ी हुई। निःसन्देह प्राकृतिक नियमों के शोंध में अग्रसर होते हुए विज्ञान ने हमें नये नैतिक मूल्य दिये, और रोमांटिक आन्दोलन की यह पाप-पूजा की आवृत्ति क्रमशः मरणोन्मुखता के दलदल में विलीन हो गयी—किन्तु इस बीच इस ने सारे यूरोप के साहित्य को आक्रान्त किया। और जहाँ वह अपने स्पष्ट रूप में नहीं भी प्रकट हुई, वहाँ भी उसने अपना प्रभाव डाला। पाप-पूजा का सिद्धान्त सर्वत्र नहीं खड़ा किया गया; पर पाप के आकर्षण के लुभावने चित्र प्रस्तुत किये गये, और उस आकर्षण के सम्मुख मानव की दुर्बलता या असहायता को कारूणिक रूप में प्रस्तुत करके उसके लिए संवेदना की माँग की गयी। विज्ञान की प्रत्यक्ष प्रेरणा से जागे हुए विस्मय के भाव के साथ-साथ प्रच्छन्न मार्ग से आयी हुई मानव के असहाय प्रेम और कारूणिक वासना की यह भावना भी रोमांटिक आन्दोलन की एक मुख्य

विशेषता रही। और आन्दोलन की अन्य विशेषताओं के साथ इसकी भी अनुगूँज (भले ही बहुत दूर से और बहुत देर से आयी हुई) भारतीय साहित्यों में पहचानी जा सकती है।

नि:सन्देह करुण प्रेम के चित्रण के मूल में (करुण हे हाय प्रणय'-पन्त) सामाजिक रूढ़ियों, निषेधों और विरोधों की नयी चेतना भी रही जिसने कवि को उन घटनाओं की ओर देखने की प्रेरणा दी जिन्हें पहले का कवि अनदेखा कर जाता था, और जिसने उसे यह भी दिखाया कि वे रूढ़ियाँ और निषेध जीर्ण, अनुचित, अमान्य और खंडनीय हैं; कि प्रेम का करुण होना नितान्त अनावश्यक है—बल्कि करुणा इसी में है कि जीर्ण रूढ़ियों को न तोड़ कर मानव व्यर्थ में ही उनका बोझ ढोता चलता है।

नयी सामाजिक चेतना का प्रभाव तो स्पष्ट था ही और क्रमश: स्पष्टतर होता गया; पर उस के उन्मेष के कारण भी विविध थे। उनकी चर्चा हम अभी करेंगे। उससे पहले स्वच्छन्दतावाद के एक और उपेक्षित पक्ष की ओर संकेत कर देना उचित होगा। हमारे राष्ट्रीय काव्य पर अन्य प्रभावों के साथ एक प्रभाव यह भी था। विदेशी दासता के प्रति रोष, विगत गौरव की कसक, नये सांस्कृतिक अभिमान के साथ-साथ एक बलवती काव्य-प्रेरणा इस स्वच्छन्दता की भी थी। जहाँ एक ओर इससे प्रेरित कवि अपने 'फक्कड़पन', 'दीवानापन', 'मस्ती', 'अलमस्त फ़कीरी' का दावा करता था, वहाँ इसी के कारण वह स्वातन्त्र्य का भी दावा करता था; अर्थात् अपने स्वच्छन्दता के आदर्श को वह आध्यात्मिक पहनावे में फ़कीरी या अनिकेतत्व का दावा कर के, सामाजिक पहनावे में फक्कड़पन या दीवानगी का दावा कर के और राजनीतिक पहनावे में विद्रोह या 'शहादते-वतन' का दावा कर के उपस्थित करता था। छायावाद के आरम्भ के कवियों में यह बात उतनी स्पष्ट नहीं थी; उन के सम्मुख मुख्य प्रश्न काव्य के तत्कालीन परिवेश के विरुद्ध अपनी अन्तरुन्मुखता का आग्रह करना, और गीति-तत्त्व की प्रतिष्ठा के उपयुक्त भाषा का निर्माण करना ही था। इसके अतिरिक्त भारतीय चिन्तन और दर्शन के सस्कार उनके अधिक गहरे थे; इतर पश्चिमी प्रभाव, चिन्तन के उतने नहीं जितने कृति-साहित्य के थे। छायावाद के प्रमुख कवियों में पन्त ने ही अपनी सूक्ष्म-तर संवेदना के कारण इन प्रभावों को ग्रहण कर के अभिनव रचनात्मक रूप दिया। फिर छायावाद के आरम्भ के कवियों में राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय स्वाधीनता का आग्रह भी उतना नहीं था, उन्होंने सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन पर ही अधिक बल दिया। रोमांटिक स्वच्छन्दतावाद और राष्ट्रीय विद्रोहवाद का सम्बन्ध हम जितना स्पष्ट आतंकवादी विप्लव आन्दोलनों में देख सकते हैं, उतना ही समवर्त्ती साहित्यिक कृतियों में भी। नज़रुल इस्लाम का 'भगवान् के वक्ष पर पद-चिह्न आँक देने' वाला 'विद्रोही भृगु', 'नवीन' का 'कारावासी लौह-शक्ति', 'मस्त फ़कीर', भगवतीचरण वर्मा का 'मस्ती का आलम

साथ लिये', 'बन्धन तोड़ चलने' वाला 'दिवाना'; और 'बच्चन' का 'लहरों से उलझने को फड़कती भुजाओं' वाला अधीर तीर-वासी--ये सब सगे नहीं तो धर्म-भाई अवश्य हैं, और इन्हें मिलाने वाला धर्म स्वच्छन्दतावाद है। इतना ही नहीं, अविराम अटनशील यात्री का जो प्रतीक हम न केवल इन कवियों में वरन् नरेन्द्र शर्मा और 'सुमन' में भी पाते हैं (कहीं वह शापग्रस्त है, कहीं नियति से बँधा, कहीं पथ के रहस्यमय आकर्षण से मर्यादित), वह भी रोमांटिक साहित्य की देन है। इन परवर्ती कवियों ने पाश्चात्त्य साहित्य (काव्य और अकाव्य) अधिक पढ़ा, और भारतीय चिन्तन-परम्परा से इतनी प्रेरणा नहीं पा सके; अत: उनकी रचनाओं में उन प्रभावों को पहचानना कम कठिन है जो क्रियाशील उन से पहले भी थे।

किन्तु साहित्यिक प्रभावों से अधिक गहरा और तीव्र प्रभाव सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों का था, जो बड़ी द्रुत गति से बदल रही थीं। वैज्ञानिक शोधों के कारण जीव-जगत् में मानव के स्थान के विषय में धारणाएँ मूलत: बदल गयी थीं, और दूसरी ओर यन्त्र-उद्योगों के विकास से सामाजिक सम्बन्ध बड़ी तेज़ी से बदल रहे थे - अर्थात् मानव-समाज में व्यक्ति के स्थान के विषय में नयी धारणाएँ बन रही थीं। प्राणी-जगत की योजना में मानव के स्थान का नया निरूपण एक प्रकार की आध्यात्मिक क्रान्ति था। उससे जीव मात्र के प्रति एक नये भाव का उदय हुआ और नये मानव-सम्भूत नैतिक मूल्य प्रतिष्ठित होने लगे। नीति-स्रोत ईश्वर के स्थान पर जो नीति-निरपेक्ष प्रकृति बिठा दी गयी थी, उस का स्थान फिर नैतिक मानव को दिया गया। इस वैज्ञानिक मानववाद ने नये मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा की, और एक आत्मानुशासित नीतिवान् मानव-व्यक्ति की परिकल्पना करने लगा। 'वास्तव' में मानव ऐसा नहीं पाया गया, फिर भी उसकी प्रबोधन की सम्भावनाएँ अमित हैं और ज्यों-ज्यों वह प्रबुद्ध होता जायेगा त्यों-त्यों वह स्वत: अधिक नीतिवान् होता जायेगा', ऐसा इस नये मानववाद का आग्रह था। दूसरी ओर, यन्त्र-उद्योगों ने श्रम-सम्बन्धों के विषय में जो नयी दृष्टि दी, वह वर्ग-संघर्षों पर आधारित सामाजिक क्रान्ति का स्रोत बनी। इसने सामूहिक कर्म को ही महत्त्व दिया और व्यक्ति के विकास के आग्रह को भ्रान्त और असामजिक प्रवृत्ति घोषित किया। दोनों प्रकार के आग्रह मानव की प्रगति को और तीव्रता दे सकते या अपना स्वतन्त्र सन्तुलन स्थापित कर सकते, किन्तु राजनैतिक घटना-चक्र ने परिस्थिति को दूषित कर दिया और सामाजिकता का स्वस्थ-आग्रह, राजनैतिक संगठन द्वारा नियन्त्रण का मतवाद बन गया।

इस संघर्ष की जो निष्पत्ति हुई, उसने काव्य-प्रगति के अगले चरण को प्रभावित किया। उत्तर छायावाद काल के कवियों की काव्य-रचना इसी संघर्ष की पृष्ठिका पर हुई। संघर्ष

का बोध इनकी रचनाओं में लक्षित हुआ, और समय-समय पर विभिन्न कवियों ने उस के सम्बन्ध में, या उससे प्रेरित, विचार भी प्रकट किये। कभी परस्पर-विरोधी विचार भी प्रकट किये गये, और कभी ऐसा भी हुआ कि कवि ने अपने रचना-कर्म को दो खंडों में बाँट दिया। यह विभाजन कवि के अनिश्चय अथवा विभाजित मानस का ही प्रतिबिम्ब था, और प्राय: कवि को स्वयं अपनी स्थिति का बोध भी रहता था। वह दो प्रकार की रचना करता था: एक को वह स्वयं 'क्षयग्रस्त' या 'रोमानी' कहकर उसके प्रति अवहेलना दिखाता, तो दूसरी को वही 'सामयिक प्रवृत्ति के अनुकूल' अथवा 'वाद को पुष्ट करने के लिए लिखी गयी' बता कर अवमान्य ठहरा देता !

इन कवियों में श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ही पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त थीं और उनकी 'राष्ट्रीयता' राजनीतिक राष्ट्रवादिता की अपेक्षा शुद्ध भारतीयता ही अधिक थी। उनके काव्य में प्रसाद गुण भी था और ओज गुण भी: स्त्री-कवियों में वह अपने ढंग की अद्वितीय रहीं। राष्ट्रीय अथवा भारतीयता की कविताओं के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाओं को एक ऋजु ममत्व, एक व्यापक वात्सल्य अनुप्राणित करता है। नियारामशरण गुप्त के उपन्यासों की सहज आत्मीयता का काव्यात्मक प्रतिरूप सुभद्राकुमारी चौहान की कविताओं में मिलता है।

रामधारीसिंह 'दिनकर' के काव्य की मस्ती और तीव्र सामाजिक चेतना—जो कभी-कभी आक्रोश की सीमा तक पहुँच जाती है और जिसके कारण उन्होंने सामाजिक व्यंग्य की कविता भी लिखी—उन्हें अपने समवर्ती कवियों से सम्बद्ध करती है। किन्तु इसके बावजूद वह एक विशेष कारण से अपने समवर्त्तियों से पृथक् हो जाते हैं। यहाँ हमारा इंगित उन के राष्ट्रीयतावादी या उद्‌बोधन-काव्य की ओर अथवा उनकी सामाजिक मंगलाकांक्षा की ओर नहीं है, बल्कि इस बात की ओर है कि एक व्यक्तिवादी वातावरण में आगे आकर भी उन्होंने न केवल व्यक्तिवादी दृष्टि को नहीं अपनाया बल्कि उसका प्रत्याख्यान भी किया। कहा जा सकता है कि मस्ती और मौज के उपासक, पौरुष के दर्प के कवि होकर भी उन्होंने स्वच्छन्दतावाद का दर्शन नहीं अपनाया। प्रवृत्तिगत भेदों के रहते हुए भी, किसी को भी यदि मैथिलीशरण गुप्त का उत्तराधिकारी कहा जा सकता है तो 'दिनकर' को ही। 'कुरुक्षेत्र' इस कथन को और भी बल देता है। वह उस अर्थ में कथा-काव्य नहीं है जिस अर्थ में 'साकेत' कथा-काव्य है। क्योंकि उस में घटना-वर्णन तो है ही नहीं; न ही यह 'यशोधरा' के ढंग का कथा-काव्य है जिसमें घटनाओं का वर्णन तो नहीं है, पर विभिन्न पात्रों की विभिन्न समय की मन:स्थितियों के वर्णन द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से घटना-प्रवाह सूचित कर दिया गया है। 'कुरुक्षेत्र' वास्तव में एक नाटकीय संवाद है, उसकी नाटकीय

तीव्रता ही उसके मानसिक ऊहापोह और तत्त्व-चिन्तन को नीरस होने से बचा लेती है और उस कथा को मानो मूर्त कर देती है जो उसके पीछे घटित हुई है और उस स्थिति को लायी है जिस में संवाद हो रहा है। किन्तु फिर भी 'कुरुक्षेत्र' परिपाटी-सम्मत प्रबन्ध-काव्यों में सर्वथा भिन्न और गुप्तजी के काव्यों के निकट है; क्योंकि उन की दृष्टि में साम्य है और वह मानवता और मानवीयता की प्रतिष्ठा करते हैं। यही बात आवश्यक परिवर्तन के साथ 'उर्वशी' के बारे में भी कही जा सकती है; वह भी नाटकीय संवाद है जिस का तत्त्व-चिन्तन उसकी नाटकीयता पर, और कहीं तो उस की संवादिता पर भी, बहुत ज़ोर डालता है। यहाँ 'दिनकर' की एक विशेषता की ओर ध्यान दिलाना उचित होगा जो कि परिवर्तियों की तुलना में उनकी मर्यादा भी बना। 'दिनकर' ने वृत्त-काव्य को भी, और मुक्तक को भी, विचारों का वाहन बनाया है; उस अर्थ में कहा जा सकता कि वह समकालीन अथवा नयी प्रवृत्तियों के सहपथिक हैं। पर परवर्त्ती कवि ने जब विचार को भाव से अधिक महत्त्व दिया है और कविता को विचार की वाहिका बनाया है तब उसके साथ नया शिल्प भी अपनाया है; वह मानता और जानता है कि वस्तु और रूप का सम्बन्ध अविच्छेद्य है और वस्तु अपने रूप का स्वयं सृजन करती चलती है। इसके विपरीत दिनकर' नयी और वैचारिक वस्तु देते हुए भी रूप-परिकल्पना के मामले में क्रान्ति का तर्क स्वीकार करना नहीं चाहते; नयी शराब खींचते हुए भी वह पुरानी बोतल ही पसन्द करते हैं। यही कारण है कि उन की कुछ छोटी कविताओं में सुभाषित की-सी चमत्कारिता और प्रखरता तो मिलती है पर कुल मिला कर उसका प्रभाव आधुनिक संवेदना का-या आधुनिक संवेदना पर - नहीं पड़ता। छन्द और भाषा पर नयी प्रवृत्ति का प्रभाव उनकी कविता पर भी दीखता है और बच्चन की कविता पर भी : पर वस्तु, रूप और भाषा की एकात्मता दोनों में नहीं है। 'समकालीन संवेदना की कविता' और 'समकालीनता द्वारा प्रभावित संवेदना की कविता' का अन्तर स्पष्ट दिख जाता है।

श्री भगवतीचरण वर्मा और श्री हरिवंशराय 'बच्चन' छायावाद के उत्तर काल के कवि हैं। कवि की कवि से तुलना किये बिना कहा जा सकता है : जैसे स्विनबर्न या रोज़ेटी रोमांटिक युग के उत्तरकाल के कवि थे।

यह कथन इस सन्दर्भ में सार्थक होता है कि पन्त और 'निराला' छायावाद के पूर्वकाल के कवि हैं। रोमांटिक प्रवृत्ति का विस्मय-भाव वर्माजी या 'बच्चन' की कविता में प्रायः बिलकुल नहीं है, किन्तु प्रकृति की शक्तियों के और अपनी वासना के आकर्षण के सम्मुख असहाय मानव उस का केन्द्र-बिन्दु है। उसकी असहायता ही आपके जीवन को अस्थिर, उस की नैतिक मान्यताओं को निराधार और उस के सुख-दुःख को क्षण-भंगुर बना देती है।

मोहाविष्ट वह निरन्तर चलता है : जीवन एक प्रकार की मदिरा है जो उसके मोह को बनाये रखती और उसे पथ पर प्रवृत्त किये चलती है। 'बच्चन' का मुहावरा उमर ख़ैयाम (अर्थात् फ़िट्ज़जेरल्ड के अंग्रेजी उमर ख़ैयाम) का मुहावरा है, उनके प्रतीक भी उसी से प्रभावित हैं, पर उन की कविता रोमांटिक प्रभाव से अलग नहीं है।

परवर्त्ती आध्यात्मिक प्रवृत्ति उन्हें पृथक न करती, तो श्री नरेन्द्र शर्मा इन दोनों के अधिक निकट हो सकते; पर आरम्भ से ही उनका पथ कुछ भिन्न रहा क्योंकि उनका प्रकृति-प्रेम उन्हें पतन के निकट ले जाता था यद्यपि प्रकृति के प्रति वैसा विस्मय-भाव उनमें नहीं था। कई दृष्टियों से उनका विकास पन्त के ही समान्तर चलता है।

श्री बालकृष्ण राव मूलत: रोमांटिक कवियों से प्रभावित और छायावाद के सहयात्री हो हुए भी उनसे अलग कोटि में आते हैं। इसके अनेक कारण हैं। एक तो भारतीय और विदेशी काव्य-साहित्य से विस्तृत परिचय के कारण उनकी दृष्टि व्यापक है। दूसरे-कदाचित् उपर्युक्त कारण से भी–उनका भाषा-प्रयोग अधिक 'आधुनिक' है। उन की वाक्य-रचना गद्य के अधिक निकट आती है। तुकान्त छन्दोबद्ध रचना में, लय के नियमों का निर्वाह करते हुए भी वह आधुनिक प्रवृत्ति के अनुकूल यति को स्थिर न रखकर पंक्तियों में वैचित्र्य उत्पन्न करते रहे; मुक्त वृत्त की रचनाओं में, निहित नाटकीय स्थितियों के संकेत भी एक आधुनिक समय-बोध को प्रतिबिम्बित करते हैं। इस प्रकार छायावाद से आरम्भ कर के भी वह वैज्ञानिक आधुनिक दृष्टि के कारण उससे पृथक् हो गये हैं।

शिवमंगलसिंह 'सुमन' अपने जनवादी आग्रह के बावजूद उत्तरकालीन छायावाद से अधिक दूर नहीं गये। कहा जा सकता है कि खंडित कवि-कर्म वाला पथ उन्होंने भी अपनाया : मुख्य प्रवृत्ति रोमांटिक रहते हुए अनेक कविताएँ उन्होंने अलग ढंग की लिखीं। वादाक्रान्त वातावरण में ऐसी कविताओं ने पाठकों के कुछ वर्गों में प्रतिष्ठा पायी, जब कि बहुसंख्य समाज दूसरे प्रकार की कविताओं में रस लेता रहा, और कदाचित् ये दूसरे प्रकार की कविताएँ ही अपने रचयिता के भावी कवि-यश का आधार होंगी। प्रबल व्यक्तित्व का आकर्षण 'सुमन' को सदैव ही प्रभावित करता रहा है; उनकी कविता में वीर-पूजा का स्वर बराबर मुखर होता है। छन्द ही दृष्टि से उन्होंने मुक्त वृत्त का भी सफल उपयोग किया है।

साहित्य में युग-विभाजन मान-चित्र की सीमा-रेखाओं की भाँति नहीं होता और विशेषतया समकालीन अथवा निकट काल की प्रवृत्तियों का पृथक्करण और भी जटिल होता है। एक युग की प्रवृत्तियाँ परवर्त्ती युग में भी लक्षित होती रहती हैं और अनन्तर मुखर होने वाले

स्वरों के पूर्व-संकेत अतीत युग में भी मिल जाते हैं। फिर भी कहा जा सकता है कि इन कवियों द्वारा उदाहृत प्रवृत्तियों के बाद हिन्दी-कविता ने एक नया मोड़ लिया। नये संक्रमण में हिन्दी कविता के स्वरूप में गहरा परिवर्तन हुआ। खड़ी बोली का काव्य पहले लोक-भूमि पर उतरा, उस की दृष्टि ईश्वर-परक से बदल कर मानव-परक हुई, फिर उसने मानव -समाज के भीतर व्यक्ति और समाज के रूप और उनकी परस्परता को पहचाना-देखा कि ये परस्पर-विरोधी और परस्पर-पूरक, अन्योन्याश्रित और अन्योन्य-सम्भूत हैं।

फिर कविता के बहिरंग या अन्तरंग के परिष्कार या उन्मोचन से आगे बढ़कर एक नये आन्दोलन ने आग्रह किया कि वह कवि की संवेदना को एक नये स्तर पर ले जायेगा, ग्रहण करने वाली चेतना और गृहीत सम्पूर्ण इयत्ता के सम्बन्ध को ही नया रूप दे देगा। और यह किसी असाधारणत्व के दावे के साथ नहीं, बल्कि अपनी साधारणता को उतनी ही सहजता के साथ स्वीकार करते हुए जितनी से अपनी अद्वितीयता को। उसे कहाँ तक सफलता मिली, या मिल भी सकती थी, यह एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है।

# 11. द्विवेदीयुग की सामाजिक चेतना और कविता : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

डॉ. रामविलास शर्मा

देश के और हिंदीभाषी प्रदेश के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास में, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दो दशक के महत्वपूर्ण कालखंड के रूप में सामने आते हैं । हिन्दी मे यह काल खंड द्विवेदीयुग के नाम से विख्यात है। इस अवधि में समग्र भारतीय जनता का मुख्य अंतर्विरोध अंग्रेजी राज से है। अंगरेजी राज का विरोध करते हुए राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संघर्ष करते हुए ही, देश तेजी से सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति कर सकता है। पर इस अवधि में देश के भीतर अभी कोई संगठित और व्यापक साम्राज्यविरोधी आंदोलन नहीं है। स्वाधीनता आंदोलन की बागडोर अभी उदारपंथी पूंजीवादी नेताओं के हाथ में है जो अंग्रेजी कानून की सीमाएं पार करने को तैयार नहीं है। सन 20 में महात्मा गांधी ने इन सीमाओं को पार करना सिखाया। इसके बाद साहित्य में जो प्रगति तेजी से हुई उसका नाम छायावाद है। और वह छायावाद एक बार उस सीमाओं को पार करने के बाद स्वयं महात्मा गाँधी के आन्दोलन की नई सीमाओं के भीतर नहीं रहता। द्विवेदीयुग इन सामाजिक साहित्यिक प्रगति की तैयारी का युग है।

बीसवीं सदी में विश्व पैमाने पर औद्योगिक पूंजीवाद महाजनी पूंजीवाद का रूप लेता है। लेनिन ने पूंजीवाद के इस रूप को साम्राज्यवाद अथवा गतिबद्ध पूँजीवाद की संज्ञा दी। इसकी विशेषता है - पूंजी की नियति । बड़े-बड़े बैंकपति दूसरे देशें को पूंजी उधारं देते हैं। और उसका सूद खा खा कर थेडे से लोगों के बीच धन समेटते जाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि औद्योगिक पूंजीवाद समाप्त हो गया। दरअसल पूँजीवाद के विकास क्रम में उसकी पुरानी मंजिलें पूरी तरह समाप्त नहीं होती, और वह सामंतवाद या सामंती अवशेषों कभी कभी प्राकसामंती तत्वों से भी समझौता करता चलता है। अमरीका में जब दासप्रथा को लेकर गृह युद्ध शुरू हुआ, और दासों के मालिकों ने अपना अलग-अलग राज्य बनाया, तो ब्रिटिश सरकार ने उसे तुरंत मान्यता दे दी। इसके पहले जब अमरीकी उपनिवेशों ने अपनी अपनी आजादी की लडाई शुरू की, तो अंग्रेजों ने अमरीकी आदिवासियों से समझौता किया कि एक अमरीकी गोरे का सिर काट लाओ तो इतने पाउण्ड इनाम देंगे ।

महाजनी पूँजी की मंजिल तक पहुँचने पर ब्रिटिश पूँजीवाद ने अपनी पुरानी खासियत छोड़ नही दी। ब्रिटेन के पुराने उपनिवेश अमरीका से पराधीन देश भारत की तुलना करें,

दोनों के प्रति ब्रिटिश पूंजीवाद की आर्थिक नीति पर विचार करें, तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा कि पूंजी का निर्यात अमरीका के लिए था, भारत के लिए नहीं, भारत से ब्रिटिश पूंजीवाद की आमदनी का जरिया पूंजी का सूद नहीं, यहाँ विलायती माल की बिक्री थी। इसलिए सन बीस के आंदोलन का मुख्य नारा था–विलायती माल का बाईकाट करो। यह नारा कारगर हुआ। विलायती माल की बिक्री कम हुई और भारतीय पूंजीपति अंगरेजों की दलाली से पैसा कमाने के बदले स्वतंत्र औद्योगिक प्रगति की ओर सचेष्ट हुए। ब्रिटेन भारत को पूंजी निर्यात कर रहा है; उस पूंजी का निर्यात बंद हो, यह स्थिति उस समय यहाँ न थी, इसलिए स्वाधीनता आंदोलन ने वैसा कोई नारा नहीं दिया। भारत को ब्रिटिश पूंजीवाद के जिस रूप से सरोकार था, वह औद्योगिक पूंजीवाद था।

भारत में विलायती माल की बिक्री अंगरेजों की आमदनी का एक साधन अवश्य थी, पर वह ऐसे अनेक साधनों में एक थी, एकमात्र साधन नहीं थी, सबसे महत्वपूर्ण साधन भी नहीं थी। जिस देश की बहुसंख्यक जनता किसान हो, जिसके खेती के तरीके चार हजार साल पुराने हों, जिसके तन पर ज्यादातर लंगोटी के अलावा वस्त्र नाम की कोई चीज न दिखाई देती हो, जिससे प्रतीकरूप में एकात्मभाव स्थापित करने के लिए मोहनदास करमचंद गांधी ने लंगोटीनुमा धोती बांधना शुरू किया हो, उस जनता के पिछड़े हुए बाजार में विलायती माल की खपत कितनी होती? भारत का बाजार भूखे-नंगे आदमियों का बाजार था। यहां लाखों आदमी अकाल में मर रहे थे, जो बच रहे थे उन्हें किसी तरह एक जून रोटी मिलना दूभर था यहाँ विलायती माल खरीदने वाले थे कितने?

भारत में ब्रिटिश राज्यसत्ता पूंजीपति कम, जमींदार ज्यादा थी। वह इस देश में उद्योगपति की हैसियत से कम, जमींदार की हैसियत से यहां की जनता का शोषण अधिक करती थी। वह इस देश की बहुसंख्यक किसान जनता का शोषण उसे विलायती कपड़ा बेच कर न करती थी, वह उसकी खेती की उपज लूटकर उसका शोषण करती थी। जमीन पर चाहे किसान का मौरूसी हक हो, चाहें जमींदार का आसामी बनकर वह खेती करता हो, हर सूरत में उसे अपनी उपज का इतना ज्यादा हिस्सा अंगरेज को देना होता था कि उसके पास परिवार को जिलाए रखने भर को भी अन्न न बचता था। वह सूदखोर महाजनों के चंगुल में फंस जाता था, उसके बैल-बधिया नीलाम कर दिए जाते थे, अंगरेजों की न्याय-व्यवस्था इन महाजनों का पक्ष लेती थी, किसानों से लगान वसूल करने के लिए उन्हें बुरी तरह पीटा और सताया जाता था, जो भूखों मर जाते थे, वे दरकिनार। इसका मतलब यह हुआ कि अंगरेजों की जमींदारी खत्म किए बिना यहाँ का किसान आजाद न हो सकता था, उसके आजाद हुए बिना देशी माल की खपत के लिए यहां का बाजार विकसित न हो

सकता था, इस बाजार के विकसित हुए बिना यहाँ तेजी से औद्योगिक प्रगति न हो सकती थी। स्वदेशी आंदोलन और विलायती माल का बाईकाट अंगरेजी राज को हल्का धक्का भर दे सकते थे। उसे जड़ से उखाड़ फेंकने की ताकत यहां के किसान आंदोलन में ही हो सकती थी। इनका आंदोलन सबसे बड़े जमींदार, अंगरेज और उसके मातहत राजाओं नवाबों-जमींदारों, को एक साथ उखाड़ फेंकने में समर्थ हो सकता था। पर भारतीय पूंजीवाद को इस तरह के क्रांतिकारी संघर्ष से अपने लिए बहुत बड़ा खतरा महसूस होता था। उसे डर था, अंगरेज जमींदार के साथ ही उसका खात्मा भी न हो जाए। इसलिए सन् '20 और सन '30 में जहाँ भी किसानों के संघर्ष ने क्रांतिकारी रूप अपनाया, स्वाधीनता आंदोलन की रास खींचकर उसे रोक दिया गया। इस पूंजीवादी नेतृत्व के विकल्प रूप में मजदूरवर्ग स्वाधीनता आंदोलन की बागडोर अपने हाथ में न ले सका। इसका मुख्य कारण यह है कि इसके बुद्धिजीवी नेता भारत में अंगरेजी राज की भूमिका, और उसके साथ स्वाधीनता आंदोलने में किसानों की सामंतविरोधी भूमिका का महत्व समझ नहीं पाए।

द्विवेदीयुग का साहित्य कलात्मक दृष्टि से भारतेंदुयुग और छायावाद, दोनों के साहित्य से पीछे है। भारतेंदुयुग की मुख्य उपलब्धि उसके ललित व्यंग्यपूर्ण निबंध उसके नाटक और राजनीतिक-सामाजिक विषयों पर उसकी लोकप्रिय कविताएं हैं। छायावाद अपने नए भावबोध से हिंदी गद्य और पद्य को अनूठा सौंदर्य प्रदान करता है और सन' 30 के बाद अपनी प्रगतिशील यथार्थवादी प्रवृत्तियों को तेजी से विकसित करता है। किंतु द्विवेदीयुग का वैचारिक सांचा भारतेंदुयुग को बहुत पीछे छोड़ आया है और छायावाद वहीं उसके समकक्ष पहुंचता है जहाँ उसने इस युग के गद्य का क्रमपूर्वक अध्ययन किया है, उसकी सीख आत्मसात की है और द्विवेदीयुग के विरोध में नहीं उसका अनुसरण करते हुए उसकी विचारधारा को आगे बढ़ाया है। द्विवेदीयुग की विचारधारा उसकी कलात्मक उपलब्धि से बहुत बड़ी है। उसका महत्व न केवल छायावाद के लिए था वरन,आज भी उसका महत्व हिंदी प्रदेश और सारे देश के विचारकों के लिए बना हुआ है।

महाबीर प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी में अर्थशास्त्र का पहला ग्रंथ 'संपत्ति शास्त्र' लिखा जो 1903 में प्रकाशित हुआ। जो लोग द्विवेदीयुग की सामाजिक चेतना से परिचित होना चाहते हैं, उन्हें यह ग्रंथ अवश्य पढ़ना चाहिए। भारत में अंगरेजी राज की भूमिका क्या है, यहां के व्यापार और उद्योग-धंधों के विकास में विदेशी शासन ने कौन सी रुकावटें खड़ी की हैं, और यहां की किसान जनता का शोषण करने के लिए उसने कौन से तरीके अपनाए हैं, उनका विस्तृत विवेचन द्विवेदीजी ने यहाँ किया है। मुख्य बात यह है कि अंगरेजी राज

ने भारत को अपनी जमींदारी बना लिया है। लिखा है: 'यहाँ की गवर्नमेंट ने जमीन पर अपना दखल कर लिया है। वह कहती है यहां की जमीन उसी की है–वही उसकी मालिक है।' 'हिंदुस्तान की जमीन की मालिक रिआया नहीं, अंगरेजी गवर्नमेंट है। वह रिआया से लगान वसूल करती है।' सोचने की बात है कि अंगरेज अगर यहाँ जमींदार बने बैठे हैं, तो वे यहाँ के औद्योगिक विकास में कैसे मदद कर सकते हैं। पर शायद द्विवेदीजी अर्थशास्त्र की बारीकियां समझते थे और मार्क्सवाद की विश्लेषण पद्धति से अवश्य ही अपरिचित रहे होंगे। इसलिए प्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारक रजनी पाम दत्त की पुस्तक 'आज का भारत' में देखना चाहिए कि वे अंगरेजी राज के इस पक्ष पर क्या कहते हैं। उन्होंने लिखा है कि 'इंग्लैंड की जमींदारी प्रथा अंगरेजों ने भारत में लागू की और 'इस परिवर्तन द्वारा ब्रिटिश विजेताओं की राज्यसत्ता, व्यवहार में, जमीन की आखिरी मालिक बन बैठी और किसान आसामियों के बराबर कर दिए गए, जिन्हें लगान अदा न करने पर बेदखल किया जा सकता था, अथवा उनकी जमीन उनसे छीन कर सरकार के नामजद जमींदारों को दी जा सकती थी, और इन जमींदारों को भी अपना हक राज्य से मिला था, और मालगुजारी न देने पर इन्हें भी वैसे ही बेदखल किया जा सकता था।' अब इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि भारत के जो विचारक अंगरेजी राज को किसानों की जमीन हथियानेवाला जमींदार समझते थे, उनकी यह बात सही थी, और इसे रजनी पाम दत्त जैसे मार्क्सवादी विचारक भी स्वीकार करते हैं। रजनी पाम दत्त की पुस्तक पहले पहल 1940 में छपी थी।

राजनीति के सारे दांव-पेंच इस मुख्य स्थापना से उत्पन्न होते हैं कि अंगरेजी राज्यसत्ता भारत में एक बहुत बड़े जमींदार का काम कर रही है। इसका मतलब यह हुआ कि भारतीय जनता का शोषण विदेशी माल की बिक्री से उतना नहीं होता, जितना किसानों की उपज का अधिकांश हड़प जाने से। इसलिए अंगरेजी राज्य के खातमे के लिए स्वाधीनता आंदोलन में किसानों की भूमिका प्रमुख होनी चाहिए। विदेशी कपड़ों का बाईकाट इस आंदोलन में सहायक हो सकता है, उसकी भूमिका निर्णायक नहीं हो सकती है।

भारत पर अपना अधिकार जमाए रखने के लिए अंगरेज बहुत बड़ी फौज रखते थे, हुकूमत करनेवाले अफसरों की दूसरी फौज थी। इन सबका खर्च किसान के सिर पर था। द्विवेदीजी कहते हैं:

'विदेशी राज होने के कारण विदेशी अधिकारी और विदेशी फौज रखने तथा विदेशी सामान खरीदने में बे अंदाज संपत्ति खर्च होती है.....यदि भारत की भूमि सुवर्णमय हो जाए तो भी किसी दिन यह देश कंगाल हुए बिना न रहे। विलायत में हर आदमी की सालाना

आमदनी का औसत कोई 600 रूपया है और हिन्दुस्तान में हर आदमी का सिर्फ 30 रूपया। इस पर भी विलायत वाले 'होम चार्जेज' नाम से यहाँ के फी आदमी से औसतन साढ़े सात रूपया वसूल करके अपने देश को ले जाते हैं जहाँ गवर्नमेन्ट को अक्सर करोड़ों रूपया कर्ज लेना पड़ता है। इस समय कई अरब रूपये कर्ज हिन्दुस्तान के सिर पर है। उस पर जो सूद सरकार को देना पड़ता है उससे यहाँ का पहले ही से बढ़ा हुआ खर्च और भी बढ़ जाता है।

किसान मजबूर होकर महाजनों से कर्ज लेते हैं। 'मामूली महाजनों से जो कर्ज लिया जाता है उस पर बहुत सूद देना पड़ता है। देहात में तो सूद की दर और भी अधिक है । बेचारे किसान इतने गरीब हैं कि वे कर्ज लिए उनका काम नहीं चल सकता । और कर्ज लिया कि महाजनों के हाथ बिके । फिर वे किसी तरह नहीं उबरते ।' इस सारी स्थिति का परिणाम यह होता है कि किसानों के घर द्वार, बैल बधिया ही नहीं बिक जाते, वरन लाखों आदमी भुखमरी में जान देते हैं । द्विवेदी जी कहते हैं कि लगान के अलावा, पुलिस, स्कूल, पटवारी, चौकीदार, सिंचाई और सड़कों आदि के लिए किसानों से टैक्स लिया जाता है, लेकिन सरकार का कहना था कि इस देश में प्रजा से जमीन की मालगुजारी ली जाती है। वह अधिक नहीं है। उसे प्रजा आसानी से दे सकती है। इस पर द्विवेजी जी की टिप्पणी है 'शायद इसी से 1891 और 1901 के बीच मध्य प्रदेश में कोई 10 लाख से भी अधिक आदमी भूखों मर गये।

स्वभावतः द्विवेदी जी किसानों और मजदूरों के मजबूत संगठन बनाने के पक्ष में थे। मज़दूरों के संगठन के बारे में लिखा था।

'व्यवासय समिति से हमारा मतलब 'ट्रेड यूनियंस ' से है। इस तरह के समाज इस देश में शायद एक भी नहीं है। पर होने की जरूरत है।'

'परन्तु मजदूरों की उचित शिकायतों को दूर कराने और उन्हें उनके उचित हक दिलाने के लिए व्यवसाय समितियों का होना बहुत जरूरी है। इस देश में भी प्रेसमैन, कम्पोजिटर, चिट्ठीरसा, तार बाबू, स्टेशन मास्टर, खलासी, पुतलीघरों और अन्यान्य कारखानों के मजदूर आदि लोगों को जरूर ऐसे ऐसे समाज स्थापित करना चाहिए। उनके द्वारा इस बात की जाँच करनी चाहिए कि उनके हक उन्हें मिलते हैं या नहीं। यदि बिना इस तरह की समितियों के आजकल कोई हड़ताल करेगा तो सफलता की बहुत कम संभावना है। हड़तालों की सफलता के लिए सब लोगों की सहायता और सहानुभूति की बहुत जरूरत है।'

द्विवेदीजी ने इस विषय पर 'सरस्वती' में अनेक लेख प्रकाशित किए थे। इनमें जनार्दन भट्ट का लेख 'हमारे गरीब किसान और मजदूर' जो जून 1914 की 'सरस्वती' में छपा था, उल्लेखनीय है। 1924 में द्विवेदीजी ने 'किसानों का संगठन' शीर्षक लेख लिखा था। इसमें उन्होंने किसानों की मुसीबतों की चर्चा करने के बाद लिखा था: 'इन सारे दुख-दर्दों को दूर करने का सबसे अच्छा इलाज है किसानों का संगठन।'

बीसवीं सदी में पूंजीवादी देशों की होड़ तेजी से बढ़ी और अंत में पहला विश्वयुद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में साम्राज्यवाद का घेरा तोड़ा रूस ने। द्विवेदीजी ने उसी लेख में रूसी क्रांति के बारे में लिखा:

'उधर रूस को देखिये। वह बहुत बड़ा देश है। कई वर्ष पूर्व वहां जार-नामधारी राजेश्वर का आतंक वहीं नहीं, भू-मंडल के अन्यान्य देशों में भी छाया हुआ था। उन्हीं सर्व शक्तिमान सत्ताधीश की सत्ता ही का नहीं, उनके वंश तक का, नामोनिशान मिटाकर, रूस के किसान और सैनिक अब स्वयं ही वहाँ का शासन कर रहे हैं। यह सारी करामात संगठन की है। वहाँ के किसान और सैनिक आपस में गंठ गये। उन्होंनें कहा, जो जुल्म हम पर हो रहे हैं उनका एकमात्र कारण यहां की बिगड़ी हुई शासन-व्यवस्था है। उसे तोड़ देना चाहिए। यह निश्चय करके उन्होंने अपना ऐसा संगठन किया जिसकी बदौलत उनका साध्य सिद्ध हो गया।'

इस संदर्भ में रूस की समाजवादी क्रांति पर श्यामाचरण राय का लेख 'रूस का राष्ट्र विप्लव' उल्लेखनीय है। इस लेख में श्यामाचरण राय ने साम्राज्यवादी प्रचार के विरोध में लिखा है: 'इस नई शासन प्रथा में रूस में स्वतंत्रता का राज्य है। प्रत्येक मनुष्य को स्वभाग्य निर्णय का अधिकार है। आर्थिक दशा सुधर जाने पर विस्तीर्ण भूमि, बड़ी जनसंख्या और स्वाभाविक वैचित्र्य वाला रूस देश पृथ्वी के देशों में यदि सबसे अधिक बलवान और वैभवशाली हो जाए तो आश्चर्य नहीं।'

स्पष्ट ही द्विवेदीयुग की सामाजिक चेतना गांधीवाद की परिधि में बंद नहीं रहती। द्विवेदीजी न केवल उद्योगीकरण के पक्ष में हैं, वरन् देश में आधुनिक विज्ञान की शिक्षा देने के पक्ष में भी हैं। उन्होंने विशेष रूप से विकासवाद पर अनेक लेख प्रकाशित किए। हर्बर्ट स्पेंसर की पुस्तकों का अध्ययन करके समाज शास्त्र और इतिहास के बारे में नई मान्यताएं स्थापित कीं। उन्होंने और उनके साथ रामावतार शास्त्री जैसे लेखकों ने, धार्मिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों की तीव्र आलोचना की। हिंदीभाषी जनता के सांस्कृतिक विकास के लिए, उसकी जातीय भाषा और जातीय साहित्य के विकास के लिए, उन्होंने अथक परिश्रम किया। उनके

युग के दो प्रमुख लेखक हैं: प्रेमचंद और मैथिलीशरण गुप्त। 'संपत्ति शास्त्र' में वह जमींदारी, महाजनों और सरकार के सताए हुए जिन किसानों की चर्चा करते हैं, उन्हीं का चित्रण प्रेमचंद करते हैं। प्रेमचंद अपनी कहानियां लिखने का कार्य लगभग उसी समय शुरू करते हैं जिस समय द्विवेदीजी 'सरस्वती' का संपादनभार ग्रहण करते हैं। मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचंद, दोनों ही 'सरस्वती' के लेखक हैं। और इनके साथ 'सरस्वती' के तीसरे महत्वपूर्ण लेखक हैं रामचंद्र शुक्ल। आलोचना में शुक्लजी, कथासाहित्य में प्रेमचंद, कविता में मैथिलीशरण गुप्त, ये तीनों द्विवेदीयुग की उपज हैं। इन तीनों में एक सामान्य बात यह है कि ये छायावादी अथवा रहस्यवादी प्रभावों से मुक्त हैं। शुक्लजी उसके तीव्र विरोधी हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने माइकेल मधुसूदनदत्त के काव्य का अनुवाद किया, नवीनचंद्र सेन के पलाशिर युद्ध का अनुवाद किया किंतु रवीन्द्रनाथ से पहले की बंगला कविता उन्हें प्रिय है, रवीन्द्रनाथ का प्रभाव उन पर यदि कहीं हो तो बहुत क्षीण होगा। प्रेमचंद और प्रसाद में मैत्री थी किंतु 'तितली' में प्रसाद छायावाद की जमीन छोड़कर प्रेमचंद की धरती पर पहुंचे थे, प्रेमचंद अपनी धरती छोड़कर छायावाद के कल्पनालोक में नहीं गए। द्विवेदीयुग की दृष्टि मूलत: वस्तुपरक, समाजोन्मुख और बुद्धिवादी है। इसलिए वह अध्यात्मवाद, रहस्यवादी भावुकता और अत्यधिक आत्मगत भावव्यंजना की विरोधी है। निस्संदेह छायावाद हिंदी कविता की प्रगति का बहुत ही महत्वपूर्ण चरण है और द्विवेदीयुग की कविता का मूल्यांकन उसके संदर्भ में ही करना उचित है।

छायावादी कविता के सौंदर्यबोध को ध्यान में रखकर द्विवेदीयुग की कविता को इतिवृत्तात्मक कहा जाता है पर छायावाद द्विवेदीयुग के विरोध में ही नहीं आता, वह उसके कार्य को आगे भी बढ़ाता है। उस पर इस दृष्टि से भी विचार करना चाहिए कि द्विवेदीयुग की काव्योपलब्धि के बिना छायावाद का अभ्युदय और विकास असंभव था।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी साहित्य में नए युग का सूत्रपात किया। उसके समय की कविता में तीन धाराएं दिखाई देती है: (1) रीतिवादी और समस्यापूर्ति वाली धारा, (2) भक्ति वाली धारा और (3) सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर कविता। स्पष्ट है कि रीतिवादी प्रभाव से मुक्त हुए बिना कविता आगे प्रगति नहीं कर सकती, और भक्तिकाव्य से बहुत कुछ सीखना चाहिए, पर उसकी आवृत्ति निरर्थक है। द्विवेदीयुग की कविता रीतिवाद से पूरी तरह मुक्त हो जाती है, विशेष रूप से मैथिलीशरण गुप्त की रचनाएं, किंतु उस युग के दो प्रमुख कवियों, 'सनेही' और नाथूराम शर्मा, 'शंकर' को समस्यापूर्ति से बड़ा प्रेम है। जहां तक भक्ति का संबंध है, साकेत के लेखक परम वैष्णव मैथिलीशरण गुप्त बीसवीं सदी के भक्तकवि हैं। छायावादी कवि नायिकाभेद और समस्यापूर्ति वाली परंपरा खत्म कर देते

हैं, और उनका रहस्यवाद या तो भक्तिभाव को समाप्त कर देता है, या वह उसें काफी परिशोधित कर देता है। भक्तिभाव का नितांत निषेध प्रगतिवादी कविता में दिखाई देता है। पर इसके साथ द्विवेदीयुग की वस्तुपरक कविता में विषयवस्तु की बड़ी विविधता है। देशभक्ति, स्वदेशी आंदोलन, आधुनिक सभ्यता, मातृभाषा प्रेम, प्राचीन गौरवगाथा, भारतीय किसान, अछूत, सामाजिक कुरीतियां, अकाल, प्रकृतिं और कहीं–कहीं रहस्यभावना भी इस युग के काव्य की विविधता प्रकट करती है। गया प्रसाद शुक्ल 'त्रिशूल' की रचनाओं में साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव व्यक्त होने लगता है। छायावादी काव्य जिस सीमा तक अंतर्मुखी है, उस सीमा तक वह द्विवेदीयुग से पीछे हटता हुआ कदम भी है। यहाँ प्रश्न मनुष्य के अंतर्जगत के चित्रण का नहीं है, वरन् बुद्धिवादविरोध, सस्ती भावुकता और आत्मग्रस्त भावधारा का है। किंतु छायावादी कविता न केवल सामाजिक विषयों को अपनाती है, मनुष्य के व्यक्तित्व को तटस्थ, वस्तुपरक दृष्टि से पहचानती है, वरन उसकी सामाजिक चेतना द्विवेदीयुग के कवियों की अपेक्षा अधिक क्रांतिकारी भी है। यह सब निराला में है।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि भारतेंदुयुग की कविता, किसी भी धारा की हो, ब्रजभाषा में लिखी जाती थी। जातीय भाषा के रूप में हिंदी के लिए कविता का मार्ग अवरुद्ध था। द्विवेदीजी और उनके सहयोगियों ने यह ऐतिहासिक काम किया कि उन्होंने पद्य में भी जातीय भाषा हिंदी को प्रतिष्ठित किया। फिर भी बहुत से लोगों का विचार था कि खड़ी बोली में वह मिठास नहीं है जो ब्रजभाषा में है। रीतिवादी कविता का केवल विरोध न करके, उससे बहुत कुछ सीखकर, सुमित्रानंदन पंत ने पल्लव की रचनाओं द्वारा ब्रजभाषाप्रेमियों को समर्थ उत्तर दिया, यद्यपि बिहारी के प्रेमी पद्मसिंह शर्मा को और महाबीर प्रसाद द्विवेदी को भी पल्लव की कविताएं पसंद नहीं थीं।

हिंदी कविता के विकास में कुछ विशेष बाधाएं थीं जिनसे हिंदी गद्य बहुत कुछ मुक्त था। हिंदी गद्य भारतेंदुयुग में काफी विकसित हो चुका था और यह विकास एकदम नया न था। 1973 ई. से बहुत पहले पूरी एक शताब्दी में हिंदी गद्य का विकास होता आया था। किंतु हिंदी कविता में न केवल भारतेंदु से पहले ब्रजभाष का चलन था, उनके जमाने में भी यह चलन कायम रहा। उर्दू कविता, हाली के प्रयत्नें के बावजूद, रीतिवादी प्रभावों से मुक्त न हो पाई थी। इसलिए नए–नए विषयों पर रीतिमुक्त कविता लिखने के लिए हिंदी कवियों को विशेष प्रयत्न करना था। वे चाहते थे कि कविता में नए छंदों का चलन हो।

किस तरह का छंद लिया जाए, किस तरह की शब्दयोजना हो, किस तरह की शैली हो, ऐसी अनेक समस्याएं इन कवियों के सामने थीं। जो बात प्रयोगवाद के बारे में कही जाती

हैं, वह इन कवियों पर ज्यादा लागू होती है। ये सब नए–नए प्रयोग कर रहे हैं और परख रहे हैं, कौन सा प्रयोग अधिक सफल हुआ, कौन सा कम। हो सकता है कुछ कवियों के लिए प्रयोगशीलता का यह दौर खत्म न हुआ हो, मेरी समझ में होना भी नहीं चाहिए। ऐसे लोग द्विवेदीयुग की कविता से बहुत कुछ सीख सकते हैं। खासतौर से वे लोग जो सामाजिक–राजनीतिक विषयों पर कविताएं लिखते हैं, जिनका उद्देश्य केवल कला की साधना नहीं है, जो चाहते हैं कि उनकी रचनाएं साधारण लोगों में प्रचलित हों उनके लिए यहाँ बहुत सामग्री है। कलात्मक खामियों के बावजूद द्विवेदीयुग की कविता अपना रूप ऐसा बनाए रखती है कि जनसाधारण से दूर न जाना पड़े। उसके समर्थन में यह कहना आवश्यक है कि वह सामाजिक दायित्व के प्रति बहुत ही सजग है। यदि इस दायित्वबोध के होते हुए भी उसमें भावसघनता कम है, तो उसका कारण यह नहीं है कि कवि की दृष्टि बाह्य जगत पर ज्यादा है, अंतर्जगत पर कम है। उसका कारण यह है कि सन 20 से पहले एक ओर तो स्वाधीन विचारप्रकाशन पर तगड़ी पाबंदियां हैं, दूसरी ओर कवियों में अभी यह दृढ़ विश्वास नहीं है कि प्रतापी ब्रिटिश साम्राज्य का नाश होकर रहेगा। इस बात का प्रमाण प्रेमचंद के विकास को देखने से मिल जाएगा। सन 20 तक उनके विकास की पहली मंजिल है जिसकी प्रतिनिधि रचना 'सेवासदन ' है। सन 20 के बाद प्रेमचंद के उपन्यासों में किसानों के संघर्ष के अनुपम चित्र मिलते हैं। सन 17 में रूस की समाजवादी क्रांति और सन् 20 का असहयोग आंदोलन, ये दोनों घटनाएं हिंदी साहित्यकारों की सामाजिक चेतना को तेजी से और गहराई से प्रभावित करती हैं। विचारधारा पर इनका प्रत्यक्ष प्रभाव तो देखा ही जा सकता है, उससे भी महत्वपूर्ण वह अप्रत्यक्ष प्रभाव है जो उनके भावबोध को सक्षम करता है। सन 20 से पहले की रचनाओं में भावसघनता के बदले भावुकता अधिक है। देश की बहुसंख्यक किसान जनता असहाय जान पड़ती है और कवि या तो आकाशवाले प्रभु से विनय करते हैं या धरती वाले प्रभु को अपनी करुणकथा सुनाते हैं। सन 20 के आस-पास यह स्थिति बदली है और निराशा की जगह नया आत्मविश्वास, अथवा क्षीण आशाओं की जगह शक्तिशाली आस्था, उन्हें प्रेरित करती है। जैसा विकास सन 20 से पहले और सन 20 के बाद के प्रेमचंद में दिखाई देता है, वैसा ही परिवर्तन जयशंकर प्रसाद की कविता 'महाराणा का महत्व' के बाद 'पेशोला की प्रतिध्वनि' में दिखाई देता है। सन 20 के बाद का यह विकास जो द्विवेदीयुग की विरासत लेकर आगे बढ़ता है, सबसे स्पष्ट निराला में है। जैसे महावीरप्रसाद द्विवेदी के अर्थशास्त्रीय चिंतन की धुरी किसान है, जैसे प्रेमचंद के उपन्यासों का मुख्य नायक किसान है, वैसे ही निराला की रहस्यवादी काव्यचेतना का मूलाधार गढ़ाकोला का 'चतुरी' चमार है। 'बादलराग' में निराला ने उसी किसान को याद किया जिसपर 'सरस्वती' में पचीसों

कविताएं छप चुकी थी। अंतर यही हुआ कि अब यह किसान अकेला नहीं है। निराला की कविता में उसके साथ संघर्ष करनेवाला एक क्रांतिवारी वीर और है। सन 30 के बाद यह किसान स्वयं क्रांतिकारी वीर बन जाता है। 'अप्सरा' जैसे रूमानी उपन्यास में कल्पनालोक के क्षितिज के आसपास बहुत से किसान झांकते दिखाई देते हैं। 'अलका' में वे मंच पर दूसरों के लिए बहुत कम जगह छोड़ते हैं और 'बिल्लेसुर बकरिहा' तक पहुंचते पहुंचते लगता है कि हिंदी-साहित्य का रूप ही बदल गया। पर यह द्विवेदीयुग के साहित्य का सहज विकास है। छायावादी कल्पनाशीलता इस बात को छिपा नहीं सकती कि निराला के भाव-बोध का गहरा संबंध उनके अपने गांव से है और यह बात उन्हें प्रेमचंद से जोड़ती है। इस सारे विकास की अगली कड़ी वह है जहाँ कविचेतना केवल समाजोन्मुख नहीं रहती वरन् समाजवादी हो जाती है। हिंदी में इसके अग्रदूत प्रेमचंद और निराला हैं। यहाँ यह बात दोहराना आवश्यक है कि सामाजिक परिवेश और राजनीतिक आंदोलनों का प्रभाव जितना प्रत्यक्ष विचारधारा में दिखाई देता है, उससे अधिक वह अप्रत्यक्ष है, अधिक महत्वपूर्ण है, और वह विचारधारा से अधिक भावबोध में है। निराला साहित्य में जो उदात्त की अभिव्यंजना है, गद्य और पद्य में, उनकी उल्लास और संघर्ष की कविताओं में, और मृत्यु तथा पराजय की कविताओं में, यह भारतीय साहित्य का अभूतपूर्व उदात्त स्वर नए युग की देन है, उस युग की देन है जिसमें विश्व साम्राज्य का घेरा टूट रहा है और पराधीन देशों की जनता नए स्वाधीन जीवन के लिए तेजी से आगे बढ़ रही है। यह सब महावीर प्रसाद द्विवेदी ने देखा था और पद्य में नहीं तो गद्य में वे बहुत सी काम की बातें बहुत साफ-साफ लिख गए हैं।

द्विवेदीयुग की कविता रूप और शैली में कैसी विविधता लिए हुए है, इस पर दो शब्द कहना और आवश्यक है। मई सन 1900 की 'सरस्वती' में एक कविता छपी है 'मलयानिल'। कवि का नाम न विषयसूचि में है और न कविता के साथ। इसकी कुछ पंक्तियां देखिए :

मधुर मनोहर हास्य-राशि को
लूट किधर से लाए हो?
जो आए, तो बैठो, प्यारे!
कहो, किधर से आए हो?
कुशल कहो, किन-किन फूलों से
इस सुगंधि को पाया है?
तरंगिणी के प्राणों को जिससे
उल्लसित कराया है।

कितने तापित जन के मानस को
सब विधि से शीतल कर,
सुधामधुर गीतों को गा गाकर
आए हो तुम प्रियवर
स्नेहागार, उदार, प्रकृति-भर्तार
विनय के पारावार,
प्राणाधार शरद राका के
चटक चंद्रिका के सुखसार,
कोमल हृदय, सरल मन, पुलकित–
गात दिव्य गुण राशी हो;
आज कहो सब गुप्त भेद
तुम कौन लोक के वासी हो?

इन्हें पढ़कर शायद आप स्वीकार करेंगे कि छायावादी शैली का विकास ज्यादा दूर नहीं है।

अब अगस्त 1901 की 'सरस्वती' में महाबीर प्रसाद द्विवेदी की कविता 'ग्रन्थकार लक्षण' का यह अंश देखिए :

भला बुरा छपवाए सिद्ध,
धन न सही; नाम ही प्रसिद्ध;
नाटक उपन्यास लिखने में जरा न जो सकुचाते हैं।
जिनके नाच कूद का सार
बंगला भाषा का भंडार,
वे ही महामहिम विद्वज्जन ग्रंथकार कहलाते हैं।

इस तरह की कविताएं सीधे भारतेंदुयुगीन व्यंग्य रचनाओं की परंपरा में हैं। ऐसी रचनाएं सन 40 के बाद भारत में समाजवादी विचारधारा के प्रसार और किसान मजदूर संघर्षों के साथ-साथ बहुत बड़ी संख्या में लिखी गईं।

जातीय भाषा हिंदी के प्रसार के साथ-साथ जनपदीय उपभाषाएं निरतर उपयोग में आती रहीं। सन 40 के बाद किसान आंदोलन की प्रगति के साथ हिंदी प्रदेश में बहुत से जनकवियों ने जनपदीय उपभाषाओं में कविताएं लिखीं। महाबीर प्रसाद द्विवेदी के लिए बैसवाड़ी में लिखना जितना सुगम था उतना खड़ी बोली में नहीं। अपनी इस जनपदीय उपभाषा में वह एक आल्हा लिख गए हैं जो जनवरी 1906 की 'सरस्वती' में प्रकाशित

हुआ था। बालमुकुन्द गुप्त ने 'अनास्थिरता' को लेकर अपनी गद्यशैली का जो चमत्कार दिखाया था, उसका जवाब द्विवेदीजी के पास खड़ी बोली में नहीं था, लेकिन बैसवाड़ी में था। आल्हा इस तरह शुरू होता है:

देवि सारदा तुमका संवरों मनियां देउ महोबे क्यार
तुमहीं रच्छक हौ सब जग के बेड़ा खेइ लगावौ पार।
आपनि कथा सुनावौ तुमका सुनियौ ज्वानौ कान लगाय
जब सुधि आवै उन बातन कै जियरा कलपि कलपि रहि जाय।।

आज के जन कवियों के लिए यहाँ समझने-सीखने को बहुत कुछ है।

एक दूसरी परंपरा आगरे के कवि नजीर की है। इसका अनुसरण हिंदी में कम, उर्दू में अधिक हुआ है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने खड़ी बोली में जो सबसे अच्छी कविताएं लिखी हैं, वे इसी शैली में हैं। हिंदी-उर्दू को यह आगरे की खास देन है। अगस्त 1902 की 'सरस्वती' में वागीश्वर मिश्र की कविता 'अवकाश मंडल' यों शुरू होती है:

खड़ा हुआ मैं, निकल के घर से, गगन में तारे, चमक रहे थे।
सभी अनोखे, सभी मनोहर, सभी प्रभा से दमक रहे थे।
अपूर्व गहने, रजत के पहने, अपार छवि से छमक रहे थे।
मनो प्रतीक्षा करैं किसी की, इसी से मन में ठमक रहे थे।।

'सरस्वती' में इनकी और कावेताएं भी छपी हैं लेकिन जहां यह शैली छूट गई है, वहा कवि को उतनी सफलता नहीं मिली। ऐसी रचनाए उन कवियों के लिए आदर्श नमूने के तौर पर हैं जो हिंदी-उर्दू का अलगाव दूर करके एक ही लोकभाषा का विकास देखना चाहते हैं। कहने का मतलब यह है कि द्विवेदीयुग की कविता में कुछ बीजरूप ऐसे हैं जिनका विकास छायावादी युग में हुआ, कुछ का विकास प्रगतिशील रचनाओं में हुआ, और कुछ ऐसे भी हैं जिनका विकास भविष्य में होगा।

द्विवेदीयुगीन कविता की ऐतिहासिक उपलब्धि यह है कि उसने गद्य और पद्य की भाषाओं का अंतर समाप्त किया, उसने ब्रजभाषा की जगह पद्य में खड़ी बोली को प्रतिष्ठित किया, यह खड़ी बोली इतनी सरल और मधुर थी कि भारत भारती हिंदी प्रदेश के किसानों में भी लोकप्रिय हुई। द्विवेदीयुग के कवियों ने हिंदी पद्य को रीतिवादी प्रभाव से मुक्त किया, उसमें नए-नए सामाजिक विषयों का समावेश किया। उनकी व्यंग्य कविताएं, जनपदीय उपभाषाओं में लिखी गई रचनाएं छायावादोत्तर कवियों के लिए आदर्शों का काम करती हैं।

इस युग का गद्य और आगे बढ़ा हुआ है। वैचारिक ढांचा इतना महत्वपूर्ण है कि बहत से प्रगतिशील विचारक अभी यहाँ तक नहीं पहुंचे जहाँ महाबीर प्रसाद द्विवेदी प्रथम विश्वयुद्ध के पहले पहुंच चुके थे। स्वभावत: इस युग की आलोचना अत्यंत प्रखर है। वह काव्यसाहित्य से आगे आगे उसे रास्ता दिखाते हुए चलती है। 1901 में ही, जब महाबीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक नहीं बने थे, तब इस पत्रिका ने लिखा था : 'क्या हमारी भाषा के कवि भी नायिकाभेद और समस्या-पूर्ति को छोड़कर निजभाषा की वास्तविक उन्नति पर ध्यान देंगें?' और जुलाई 1901 की 'सरस्वती' में महाबीर प्रसाद द्विवेदी का लेख 'कवि कर्तव्य' छपा, जिसमें उन्होंने कहा, कविता गद्य में भी हो सकती है, पद्य में ही लिखी जाए यह आवश्यक नहीं; कवियों को नए-नए छंदों में कविता लिखना चाहिए और अतुकांत कविता भी लिखना चाहिए :

'हमारा यह मत है कि पादान्त में अनुप्रासहीन छंद भी भाषा में लिखे जाने चाहिए, कविता यथासंभव खड़ी बोली में लिखना चाहिए, समस्यापूर्ति, नायिकाभेद और अलंकार-प्रदर्शन से बचना चाहिए और यह समझना चाहिए कि काव्य-क्षितिज सारे संसार को अपने भीतर समेट लेता है, चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु; भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य; बिंदु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल; अनन्त आकाश; अनन्त पृथ्वी; अनन्त पर्वत - सभी पर कविता हो सकती है।'

पल्लव की भूमिका यहाँ से ज्यादा दूर नहीं है।

# 12. छायावाद : शक्ति काव्य

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी

हिंदी समीक्षा में 'छायावाद' शब्द बहुत बार प्राय: एक दुर्वचन के रूप में प्रयुक्त होता दिखता है। भावुकता कल्पना-विलास, यथार्थ से अलगाव, और जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में 'मधुचर्या' कहा, इन विविध मन:स्थितियों को वर्णित करने के लिए एक मोटा शब्द 'छायावाद' चल जाता है। यह परिस्थिति जहाँ अतिसरलीकरण से उत्पन्न हुई है वहीं अनेक विभ्रमों को उपजाती है। अंग्रेजी में भी 'रोमांटिक' शब्द कभी-कभी हल्के तिरस्कार के भाव को लपेटे रहता है, जबकि 'सेंटीमेंटल' शब्द का प्रयोग तो निश्चित रूप से खिल्ली उड़ाने के लिए होता है। पर इस तरह के दोनों अंग्रेजी प्रयोग सामान्य बोलचाल के ही क्षेत्र में अधिक चलते हैं। साहित्यिक संदर्भों में 'रोमांटिक' शब्द अपने पूरे भाव-गांभीर्य के साथ प्रयुक्त होता है। हिंदी में 'छायावाद' शब्द इस तुलना में अब काफी अवमूल्यित दिखता है; एक उदाहरण प्रस्तुत है, संदर्भ निराला की कविता 'तोड़ती पत्थर' का है—ये सारे शब्द-बंध छायावादी हैं और गाढ़े के कुर्ते में चमकते हुए रेशमी पेबंद से लगते है, जो सौंदर्य को बढ़ाते नहीं, उसका खुरदुरापन भंग करते हैं।' समीक्षा के नये रूप में, जो मुख्यत: नयी कविता के संदर्भों से विकसित हुआ है, 'छायावादी' शब्द का यह प्रातिनिधिक प्रयोग कहा जा सकता है (हो सकता है कि प्रस्तुत समीक्षक भी इस प्रवृत्ति का अपवाद न हो)। शुक्ल जी के बाद छायावादी काव्य की जो समझ मुख्यत: नंददुलारे वाजपेयी के माध्यम से विकसित हुई थी वह फिर परवर्ती काव्य आंदोलनों के उत्साह अतिरेक में क्रमश: मंद पड़ गई।

स्पष्ट ही यहाँ प्रश्न एक विशेष शब्द के प्रयोग का नहीं है। मुख्य बात है ऐतिहासिक विकास-क्रम में उस प्रयोग से द्योतित रचना-धारा के प्रति दृष्टिकोण की। साहित्य के इतिहास में किसी भी रचना धारा के लिए कोई भी नामकरण कभी पूरे तौर पर तोषप्रद नहीं हो सकता; 'छायावाद' भी नहीं है। पर देखना यह है कि नामकरण के प्रति असंतोष रचना-धारा ही के प्रति कोई पूर्वाग्रह न बना दे। यह सचमुच एक विचित्र स्थिति है कि साधारण ढंग से छायावाद कहने पर चांदनी रात, नौका-विहार, जुही की कली आदि से संबद्ध कविताओं की याद अधिक दिलाई जाती है, 'कामायनी', 'राम की शक्तिपूजा', 'तुलसीदास' को पृष्ठभूमि में डाल दिया जाता है। छायावाद का यह मनश्चित्र बनाने में कुछ तो उस युग के उन समीक्षकों और इतिहासकारों का योगदान है जो छायावाद को मूलत: प्रकृति संबंधी काव्य मानना चाहते थे। प्रकृति-काव्य के प्रेमी होने के कारण स्वयं

रामचंद्र शुक्ल इसी धारणा के निकट थे। उनका आग्रह तो यहाँ तक था कि प्रकृति को ही सर्वत: आलंबन मानकर कविता लिखी जा सकती है, लिखी जानी चाहिए। उदाहरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से उन्होंने स्वयं एक लंबी कविता सवैया-जैसे छंदों में लिखी थी – 'कविता, वह हाथ उठाए हुए, चलिए कवि वृन्द बुलाती वहाँ।' 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में छायावादी कवि-चतुष्ट्य में से सुमित्रानंदन पंत के काव्य के प्रति विशेष रूझान का एक कारण भी शुक्लजी के मन का यह प्रकृति-प्रेम और उसके प्रति उत्साह है।

यह ठीक है कि छायावादी कवियों के आरंभिक काव्य में प्रकृति के प्रति एक किशोर सम्मोहन-भाव दिखता है; पर धीरे-धीरे इस प्रकृति का स्थान मानवीय जीवन और उसकी विविध जटिल भाव-भूमियाँ ले लेती हैं। जब पंत ने शुरू-शुरू में लिखा था –

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को!

तब शायद उनके 'जग' में प्रकृति का ही विशेष महत्व था ! पर यथार्थ की समझ के प्रयत्न में प्रकृति को बाद दिए बिना भी उनकी तथा अन्य छायावादी कवियों की कविताओं में मनुष्य और उसके सामाजिक परिवेश का तनाव क्रमश: केन्द्र में आता जाता है। विडंबना इस बात की है कि स्वयं इन कवियों की विश्व-दृष्टि जहाँ विकसित और समृद्ध होती गई है, वहाँ इन कवियों के काव्य का जो मनश्चित्र हिंदी पाठकों और समीक्षकों की पहली पीढ़ी में बना था वह हमारे साहित्यिक वातावरण में अभी परिव्याप्त है। ऊपर उद्धृत कविता का यदि पंत ने नया संस्करण लिखा होता तो प्राथमिकताओं का क्रम शायद बिल्कुल उल्टा होता।

प्रकृति-काव्य और छायावादी काव्य में विभ्रम उत्पन्न होने की संभावना है, इस बात को जयशंकर प्रसाद ने समझा था। अपने निबंध 'यथार्थवाद और छायावाद' का समापन करते हुए उन्होंने लिखा है "प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिंब है, इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में ले आकर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धांत भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलंबन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है, किंतु प्रकृति से संबंध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।" इतनी खरी चेतावनी के संदर्भ में अच्छी तरह समझा जा सकता है कि रचनात्मक स्तर पर प्रकृति का सीमित उपयोग ही छायावादी कवियों ने किया है।

यह बात कहने पर कुछ अटपटी सी लग सकती है कि हिन्दी में छायावाद का मनश्चित्र बनाने में एक बड़ा योगदान रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विशेषतः उनकी 'गीतांजलि' का है। क्योंकि आरंभिक काल में यह मानकर चला जाता था कि हिन्दी का छायावादी काव्य बंगला के अनुकरण पर है (द्र.'पुराने ईसाई संतों के छायाभास तथा यूरोपीय काव्य क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएं 'छायावादी' कही जाने लगी थीं। यह 'वाद' क्या प्रकट हुआ, एक बने बनाए रास्ते का दरवाजा खुल पड़ा और हिंदी के कुछ नए कवि उधर एकबारगी झुक पड़े।' - रामचंद्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ. 566), अतः 'गीतांजलि' में जैसा प्रकृति-चित्रण, माननीय प्रेम और अध्यात्म का संश्लेष था वैसा ही काव्यात्मक वातावरण छायावाद का मान लिया गया। हिन्दी पाठक की यह विचित्र दीक्षा थी कि 'गीतांजलि' पढ़ने पर उस जैसी अनुभूति होती वैसी ही अनुभूति वह अनिवार्यतः छायावादी आस्वादन के साथ जोड़ लेता था।

बँगला का प्रभाव उस युग के मध्यदेशीय जीवन में था, इस पर दो मत नहीं हो सकते। साधारण आचार व्यवहार से लेकर साहित्यिक रचना कर्म के लिए मध्यदेश को आदर्श बंगाल से मिलता था। भौगोलिक और ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्वाभाविक था, क्योंकि उन्नीसवीं शती में पुनर्जागरण का नेतृत्व बंगाल ने किया था। निराला का काव्य व्यक्तित्व मनोविश्लेषण के स्तर पर एक गुत्थी है, उसका कोई समाधान नहीं होता, यदि उसमें से बंगाल के संपर्क को बाद कर दिया जाए । निराला बैसवाड़े के ग्रामीण परिवार के थे, पिता सामान्य सिपाही, शिक्षा कुछ हुई नहीं, हिन्दी भाषा के जीवित संपर्क से अलग रहे, फिर उनके काव्य में यह रचनात्मक ऊर्जा कहाँ से आती है? और तब विधेयवादी दृष्टिकोण का समर्थन न करते हुए भी, दिखता है कि वैसवाड़े के संस्कारों को परिष्कार कलकत्ता से टकराहट में मिला । हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में बंगला का यह रचनात्मक संपर्क आधुनिक काल में भारतेन्दु के समय से ही दिखाई देने लगता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचंद्र की कृतियों में से 'प्रेमतरंग' का ब्यौरा देते हुए ब्रजरत्नदास लिखते हैं, "ग्रन्थकर्ताओं में स्वर्गीय श्री बाबू गोपालचंद्र उपनाम 'गिरिधरदास' जी तथा भारतेंदु हरिश्चंद्र का नाम दिया है। इसमें 64 पृष्ठ और 361 पद हैं, जिसमें बाबू गिरिधरदास के 23, बाबू हरिश्चंद्र के 204 और 44 'चंद्रिका' उपनाम के हैं। अंतिम 34 बँगला के हैं।" 'भारतेन्दु हरिश्चंद्र, पृ. 58 ।

पर महत्वपूर्ण बात यह है कि पुनर्जागरण के बँगला मनीषी रामकृष्ण देव, विवेकानंद और रवीन्द्रनाथ से प्रेरणा लेकर निराला साहित्यिक रचनात्मक ऊर्जा में अपनी गुरू - परंपरा से

आगे बढ़ जाते हैं। दुर्गा-पूजा के देश बंगाल में शक्ति-आराधना पर वैसी ऊर्जस्वित रचना नहीं लिखी गई जैसी 'राम की शक्तिपूजा' है। शक्ति का मंत्र निराला को - प्रसाद और पंत को भी - बंगाल से मिला, पर शक्ति-काव्य मध्यदेश में इन छायावादी कवियों ने रचा। 'कामायनी', 'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा' में शक्ति और मानवीय चेतना का जैसा आख्यान है वैसा बँगला काव्य या रवीन्द्रनाथ में नहीं मिलता। बंगाल की सुकुमार कल्पना और सूक्ष्म प्रतिभा मध्यदेशीय पौरुष के संपर्क में, तथा ब्रजभाषा के विरोध में उठ खड़ी हुई खड़ी बोली की खड़खड़ाहट बँगला भाषा की कोमलता के संस्पर्श में शक्ति और दीप्ति का संश्लेष बन गई। बंगाल से जो कुछ निराला ने लिया उसमें बहुत कुछ जोड़कर जैसे उन्होंने गुरु - ऋण को पूरा किया। इसीलिए रवीन्द्रनाथ का काव्य और 'गीतांजलि' जिस वातावरण का निर्माण करते हैं वह हिंदी के छायावादी काव्य-संसार का एक अंशमात्र है, उसके केन्द्र में तो शक्ति-चेतना का वह उत्स है जिसने भारतीय पुनर्जागरण को परिचालित किया था, और जो फिर क्रमश: साहित्य के सूक्ष्म स्तरों पर उन्मुक्त हुआ। रवीन्द्रनाथ में प्रकृति और राष्ट्रीयता के विविध रूप हैं, शृंगार और अध्यात्म का सूक्ष्म चित्रण है, प्रार्थना की गहराई है, पर शक्ति-काव्य का वह रूप नहीं है जो प्रसाद या निराला में मिलता है।

'छायावाद' शब्द के आरंभिक प्रयोगकर्ता ने 'छाया' शब्द से ठीक-ठीक क्या व्यंजना देनी चाही थी यह बता पाना तो आज कठिन है, पर इस संदर्भ में 'छाया' शब्द की कई व्याख्याएँ हिंदी समीक्षा में प्रचलित हैं। इस नयी रचना धारा के विरोधियों ने 'छाया' का अर्थ प्रभाव या अनुकरण किया। एक दूसरे वर्ग ने 'छाया' का अर्थ लिया सूक्ष्म और वायवीय। एक अन्य अर्थ हुआ अस्पष्ट। कवि प्रसाद ने संस्कृत प्रयोगों के साक्ष्य पर 'छाया' की व्याख्या की :'मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता'। 'छाया' का अर्थ पानी, आब, चमक, कांति लेते हुए उन्होंने निष्कर्षत: कहा, "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है।'' यहाँ स्पष्ट ही अधिक संपृक्त और रचनात्मक दृष्टि प्रसाद की है। 'छाया' के प्रभाव, सूक्ष्म और अस्पष्ट जैसे अर्थों का प्रत्याख्यान करते हुए, और उसे महज प्रकृति-काव्य से अलग करके उन्होंने छायावाद की संरचना में चमक और कांति पर बल दिया। यह चमक और कांति शक्ति की ही एक पहचान है।

इस तरह छायावाद महज संध्या-सुंदरी, चाँदनी रात या नौका विहार का चित्र नहीं है। वह मूलत: शक्ति-काव्य है, पुनर्जागरण चेतना का व्यापक और सूक्ष्म रूप है और अपनी अर्थ-प्रक्रिया में मानव व्यक्तित्व को गहरे स्तरों पर समृद्ध करता है। 'कामायनी' में देव और असुर संस्कृतियों से भिन्न, और उनकी तुलना में अधिक सर्जनात्मक मानवीय संस्कृति

के विकास का आख्यान है, उसमें वर्तमान संकट की समझ है और इस संकट से बचाव की संभाव्य दिशा संकेतित है। थके और पराजित मनु के प्रति अपने उद्‌बोधन का समापन श्रद्धा इन शब्दों में करती है–

शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

यहाँ मूल संदेश शक्ति के नियोजन का ही है और संदर्भ राष्ट्रीय होते हुए भी चिंता समस्त मानवता की है। लगभग इसी के समानांतर स्थिति 'राम की शक्तिपूजा' में है। रावण के पक्ष में शक्ति आ गई हैं, राम यह जानकर स्तब्ध और हताश हैं–

कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार-बार,
असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार-हार;
× × ×
कुछ क्षण तक रहकर मौन सहज निज कोमल स्वर,
बोले रघुमणि-'मित्रवर, विजय होगी न समर,
यह नहीं रहा नर-वानर का राक्षस से रण,
उतरीं पा महाशक्ति रावण से आमंत्रण;
अन्याय जिधर, हैं उधर शक्ति।' कहते छल-छल
हो गए नयन, कुछ बूँद पुनः ढलके दृगजल

मनु की और राम की हताश मनःस्थिति बहुत कुछ मिलती जुलती है। और मनुष्यमात्र के जीवन में कभी-न-कभी ऐसी मनःस्थिति आती है। पर मनुष्य का साहस और सर्जन-क्षमता उसका अतिक्रमण भी करती है। जाम्बवान राम को परामर्श देते हैं–

शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,
छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो, रघुनंदन!

'शक्ति की करो मौलिक कल्पना'–संपूर्ण कविता की रचना-दृष्टि यहीं से आलोकित और प्रवाहित होती है। शक्ति की उपलब्धि अनुकरण से संभव नहीं, शक्ति को सदा मौलिक रूप में ही परिकल्पित किया जा सकता है। हर एक की शक्ति-साधना निजी और विशिष्ट होगी। यहाँ राम जितने अपने लिए हैं, उतने ही राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक हैं और उतने

ही स्वयं कवि-व्यक्तित्व के। ये कई अर्थस्तर एक-दूसरे से टकरा मानवीय आत्म-शक्ति का एक विराट आख्यान प्रस्तुत करते हैं। कविता का अंत होता है -

'होगी जय, होगी जय, हे पुरूषोत्तम नवीन!'

क़ह महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन ।

महाशक्ति का राम के वदन में लीन हो जान आत्म-शक्ति के विकास की ही व्यंजना देता है। शक्ति अपने से बाहर कहीं नहीं है, अपने ही अंदर है, केवल उसे जाग्रत और विकसित करना है। और यह प्रक्रिया अपने में मौलिक है, विशिष्ट है। इसी संदर्भ में शक्ति· की मौलिक कल्पना करने में क्षम राम को संबोधित करते हुए उन्हें 'नवीन' पुरूषोत्तम कहा गया है। श्रद्धा सर्ग की अंतिम पंक्तियों में शक्ति और विजय का जो संदेश है - 'विजयिनी मानवता हो जाए' वह यहाँ दूसरे कथा वृत्त के बीच से फूटता है। शक्ति - साधना का मूल स्वर एक है।

और यही स्वर एक विस्तृत फलक पर निराला के 'तुलसीदास' में मुखरित होता है। 'तुलसीदास' काव्य कवि तुलसी की रचना-प्रक्रिया को गतिशील होते हुए अंकित करता है और इस रचना शक्ति के विमुक्त होने में राष्ट्रीय जीवन के सांस्कृतिक संदर्भों और कवि के वैयक्तिक प्रणय की अंतर क्रिया को सूक्ष्म स्तरों पर आलोकित करता है। रत्नावली के जन-प्रचलित कथानक को लेकर निराला ने कवि के मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक तथा सर्जनात्मक पक्षों को एल संश्लिष्ट रूप में उभारा है। काव्य के अंतिम अंश में तुलसी को अपनी प्रिया का व्यक्तित्व भारती में रूपांतरित होते दिखता है। उनकी आंरभिक सांस्कृतिक चिंतना और पत्नी के प्रति एकांत प्रणय-भाव जैसे एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं। उनके हृदय में एक नया स्वर उठता है, जो 'आसुर भावों से भूने' प्रदेश में सर्वत्र गूँज उठता है। उस स्वर-क्रम का एक छंद इस प्रकार है -

'होगा फिर से दुर्धर्ष समर
जड़ से चेतन का निशिवासन,
कवि का प्रति छवि सेजीवनहर, जीवनभर,
भारती इधर, हैं उधर सकल
जड़ जीवन के संचित कौशल,
जय, इधर ईश, हैं उधर सबल माया-कर ।

संस्कृतियों और विचारधाराओं का संघर्ष यों तुलसी के 'रामचरितमानस' का प्रमुख उपजीव्य बनता है, -भारती इधर, हैं उधर सकल/जड़ जीवन के संचित कौशल'। यही संघर्ष निराला

के 'तुलसीदास' का है, स्वयं निराला का है, जिसे वे 'राम की शक्तिपूजा' में राम के ही माध्यम से अंकित करते हैं ('रावण अधर्मरत भी अपना मैं हुआ अपर–')। इस तरह एक ही रचना में कई स्तरों पर यह जीवन-मूल्यों और पक्षों का संघर्ष चित्रित हुआ है, जिसे 'शक्तिपूजा' के आरंभ में कवि ने कुछ नाटकीय मुद्रा में 'राम-रावण का अपराजेय समर' कहा है। 'कामायनी' की तो मूल वस्तु यही है–देव-असुर और मानव संस्कृतियों की टकराहट। पहले देव और असुर संस्कृतियों का संघर्ष है, जिसका चित्रण प्रधानत: इड़ा सर्ग में हुआ है (था एक पूजता देह दीन/दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को समझ रहा प्रवीण)। फिर देव और असुरों की साझी संस्कृति से टकराकर नयी मानवीय संस्कृति विकसित होती है, जो नश्वर है, पर अपनी नश्वरता में ही सर्जनात्मक है और प्रेम की शक्ति को विकसित करती है। आधुनिक युग के पुनर्जागरण में यह सांस्कृतिक संघर्ष की वस्तु अर्थ के स्तर पर और संचरणशील हो जाती है; अब टकराहट भारतीय और पाश्चात्य धाराओं के बीच है। इस सारे संघर्ष में मौलिक रचना-शक्ति की जय, भारती ('तुलसीदास') और दुर्गा ('राम की शक्तिपूजा') जिसकी अधिष्ठात्री हैं, कवि के आत्मविश्वास का केन्द्रबिन्दु है।

'राम की शक्तिपूजा', 'तुलसीदास' और 'कामायनी' में ही नहीं, 'आँसू' में भी, जिसे सामान्यत: छायावादी परिदृश्य के अंतर्गत विरह-काव्य के रूप में स्वीकार किया जाता है, सामान्य द्वन्द्व और संघर्ष को अतिक्रमित कर जाने की प्रक्रिया अंकित हुई है। 'कामायनी' में सुख-दुख के द्वन्द्व से ऊपर उठकर आनंद की जो स्थिति है कुछ वैसी ही स्थिति 'आँसू' में वेदना की है। इसीलिए वेदना को कवि ने कहा है, 'जगद्वंद्वों के परिणय की हे सुरभिमयी जयमाला !' 'आँसू' के अंतिम अंशों में पहुँचकर कवि का विरह-भाव सार्वभौम वेदना में रूपांतरित हो जाता है। यहाँ कवि का अनुभव इतना सघन हो उठता है कि उसे प्रकृति में और मानवता में, जहाँ कहीं पीड़ा दिखती है (मानस कुमुदों का रोना, बौने जलनिधि का हाहाकार मचाना, ज्वालामुखियों का मुँह सिये ताप झेलना, मधुकर की कली से मनमानी, फिर चिरवंचित भूखों की प्रलय दशा) वह उसे अपनी वेदना का ही रूप लगती है। यह वेदना का अद्वैत है। इन सारी पीड़ाओं के तत्व में उसे रचना की उपलब्धि होती है–

सब का निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन-सा
आँसू इस विश्व-सदन में !

'आँसू' की सघन वेदना में से भी निराशा का स्वर नहीं उपजता, उसमें से विराट रचना-आस्था फूटती है। वेदना के आलोक का सर्वव्यापी प्रसार महादेवी ने एक दूसरे स्तर पर आत्मीयता से चित्रित किया है–'सब आँखों के आँसू उजले, सबके सपनों में सत्य पला।'

छायावाद के विशिष्ट काव्यों और लंबी कविताओं के अतिरिक्त छोटे गीतों और कविताओं में भी मूलत: पुनर्जागरण की चेतना अंतर्व्याप्त दिखाई देती है। सबसे बड़ी बात यहाँ है ऐहिक जीवन और शरीर का महत्व, जिसे मध्यकालीन संतों और कवियों ने पानी का बुलबुला और काग-गीध का भोजन कहा था। ऐहिकता में यह आस्था आगे मानवीय आत्मविश्वास का आधार बनती है। सुमित्रानंदन पंत एक छोटी-सी कविता में, जो छायावाद के मुख्य काल के बाद में 1956 में लिखी गई है, मानव शरीर के प्रति सबसे पहले कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं--

मैं कृतार्थ हूँ, देह, तृणों के लघु दोने में,
तुम मेरी आत्मा का पावक करती धारण !

देह के दोने में आत्मा के पावक का बिंब शरीर की शक्ति को प्रमाणित करता है। 'कामायनी' के श्रद्धा सर्ग में ऐहिक जीवन में इसी आस्था और श्रद्धा का आख्यान प्रसाद ने किया है-

काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग
इच्छा का है परिणाम;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम !

हमारी संस्कृति में शरीर और संसार की महत्ता एक बार फिर से स्थापित करने में छायावाद का योगदान केन्द्रीय है। मध्यकालीन कवि के लिए संसार 'पचड़ा' था, आधुनिक युग का छायावादी कवि संसार में 'आनंद' की संभावना देखता है। 'कामायनी' और 'कृतज्ञता' दोनों में संसार और देह के प्रति कृतज्ञता की भावना से आरंभ करके कवि आनंद की भाव-भूमि तक पहुँचता है–

चेतनता एक विलसती आनंद अखंड घना था !
(कामायनी)

× × ×

प्रिय आनंद, छंद तुम मेरे, आत्मा के स्वर !

(कृतज्ञता)

यह छायावादी काव्य की मुख्य रचना-भूमि है और अपने ऐतिहासिक काल के बाहर भी सक्रिय होने पर छायावादी कवि यहाँ पहुँच पाता है।

छायावादी काव्य में शक्ति के आवाहन का एक और रूप जागरण-गीतों में मिलता है। पुनर्जागरण चेतना की बड़ी सूक्ष्म और प्रीतिकर अभिव्यक्ति इन गीतों में हुई है। मनुष्य की और प्रकृति की भी-सुप्त चेतना को जगाने का उपक्रम यहाँ कवि ने सामान्यत: प्रशमित और कभी-कभी ओज की मुद्रा में किया है। छायावादी काव्य में एक बड़ी संख्या इन प्रभाती और जागरण गीतों की है। 'प्रथम प्रभात', 'आँखों से अलख जगाने को', 'अब जागो जीवन के प्रभात!', 'बीती विभावरी जाग री!' (प्रसाद), 'जागो फिर एक बार', 'प्रिय, मुद्रित दृग खोलो!', 'जागा दिशा-ज्ञान', 'जागो, जीवन धनिके!' (निराला), 'जाग बेसुध जाग', 'जाग तुझको दूर जाना!' (महादेवी), 'प्रथम रश्मि', 'ज्योति भारत' (सुमित्रानंदन पंत) जैसी अनेक जागरण की कविताएँ अनायास स्मरण हो आती हैं। इनमें से कुछ गीतों में व्यक्तिगत प्रणय और राष्ट्र जागरण के भाव एक-दूसरे में घुल-मिल गए हैं। मानवीय प्रणय और देश-प्रेम का संश्लिष्ट रूप वस्तुत: छायावादी काव्य से पहले ही श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि स्वच्छंदतावादी कवियों की रचनाओं में मिलने लगता है; त्रिपाठी के खंड-काव्य 'पथिक' और 'स्वप्न' का विधान मुख्यत: इसी वस्तु पर विकसित हुआ है। मुख्य बात यह है कि छायावादी काव्य के इस बहुत बड़े अंश में पुनर्जागरण की चेतना सीधे लहराती है। गीतों के अतिरिक्त लंबी कविताओं के खंडों में जागरण का यह स्वर गूँजता है। 'आँसू' के बाद के हिस्से में एक पूरे-का-पूरा खंड प्रात:कालीन बिंबों के बीच जागरण-बेला का चित्रण करता है–

वह मेरे प्रेम विहँसते
जागो, मेरे मधुवन में,
फिर मधुर भावमाओं का
कलरव हो इस जीवन में!
मेरी आहों में जागो
सुस्मित में सोने वाले !
× × ×
हे जन्म-जन्म के जीवन
साथी संसृति के दुख में;

पावन प्रभात हो जावे
जागो आलस के सुख में !

इसी प्रकार का जागरण-स्वर 'तुलसीदास' के समापन-अंश में उभरता है-

'जागो, जागो, आया प्रभात
बीती वह, बीती अंध रात
झरता भर ज्योर्तिमय प्रपात पूर्वाचल;
बाँधो, बाँधो किरणें चेतन,
तेजस्वी, हे तमजिज्जीवन;
आती भारत की ज्योतिर्धन महिमाबल !

लंबी और छोटी कविताओं और गीतों की बंदिश में, विरह और प्रेम और आनंद की विविध भाव-भूमियों में सर्वत्र एक ज्योति और जागरण की चेतना स्पंदित है। इस तरह अपने व्यक्तिगत प्रणय और राष्ट्र-प्रेम की अनुभूति में और उनके संश्लेष में छायावाद मूलत: शक्ति-काव्य है।

यहाँ शक्ति-काव्य का सामान्य-साधारण अर्थ 'राष्ट्रीय काव्य' नहीं लगाना है। इस संदर्भ का उद्देश्य राष्ट्रीय काव्य के महत्व को कम करना नहीं है, पर छायावादी काव्य में राष्ट्र जागरण से अधिक समग्र चेतना का जागरण और आवाहन है, उसमें अन्तर्निहित शक्ति के विकास का रचनात्मक उपक्रम है। यहाँ राष्ट्रीय से अधिक संपूर्ण सांस्कृतिक जागरण प्रधान है, राष्ट्रीय जागरण वस्तुत: सांस्कृतिक जागरण के अंग रूप में आता है, जो पुनर्जागरण की मूल धारा के अनुरूप है। यों कह सकते हैं कि छायावाद की राष्ट्रीयता में आधार राजनीति की अपेक्षा संस्कृति है। राजा राममोहन राय से लेकर महात्मा गांधी तक पुनर्जागरण का स्वरूप मूलत: संश्लिष्ट है, वह समग्र मानवीय और भारतीय व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रयासशील रहा है। और पुनर्जागरण अवरुद्ध वहीं हुआ है जहाँ राजनीति को गलत अनुपात में महत्व मिल गया।

छायावादी काव्य पर जहाँ अतिभावुकता, सूक्ष्मता और वायवीयता के आरोप लगाए गए हैं वहीं उसमें पलायनवाद को भी ढूँढ़ निकाला गया है। समीक्षा ग्रंथों में विविध वादों के अंतर्गत जहाँ छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद आदि की चर्चा होती है वहाँ पलायनवाद का भी उल्लेख किया जाता है और अनिवार्यत: प्रसाद की एक ही पंक्ति बार-बार उदाहरण रूप में प्रस्तुत होती है-'ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक! धीरे-धीरे।' बिना इस पूरी कविता को समझे यह आरोप संपूर्ण छायावादी काव्य पर लगा दिया जाता है कि उसमें

जीवन के संघर्ष से पलायन करने की वृत्ति है। हिंदी समीक्षा की दिलचस्प गड्डलिकाओं में से एक यह है। इस कविता में विश्राम की मुद्रा का चित्रण है या पलायन की आकांक्षा है, यह समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। विश्राम तो श्रम का पूरक है और पलायन कर्म, श्रम, संघर्ष से भागना है। 'कर्म का भोग, भोग का कर्म' के माध्यम से कर्म और भोग की संश्लिष्ट तथा आधुनिक संदर्भ में नयी दृष्टि प्रस्तुत करने वाले कवि के लिए इससे बड़ी विडंबना की बात और क्या हो सकती है कि उसे पलायनवादी करार दिया जाए। गीता को केन्द्र में रखकर गतिशील हुए पुनर्जागरण आंदोलन में निष्काम कर्म के स्थान पर कर्म-भोग के संश्लेष को प्रस्तावित कर सकना प्रसाद जैसे समर्थ रचनाकार के लिए ही संभव था। गीता की मूल दृष्टि को प्रशस्त कर पाना वस्तुत: किसी भी भारतीय लेखक और विचारक के लिए स्पृहणीय है।

यहाँ प्रसाद की उपयुक्त 'दुर्नाम' कविता का कुछ विश्लेषण अपेक्षित होगा। जैसा कहा गया, इस गीत में पलायन की नहीं, विश्राम की मन:स्थिति का चित्रण हुआ है। और कवि का यह विश्राम-स्थल भी वायवीय और काल्पनिक नहीं, यथार्थ और सत्य है–

जिस गंभीर मधुर छाया में–
विश्व चित्रपट चल माया में–
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई,
दुख-सुख वाली सत्य बनी रे!

दुख और सुख से युक्त, लीला जैसा परिचालित यह संसार ईश्वर की तरह ही सत्य दिखाई पड़े, यही कवि की कामना है। पलायन की मन:स्थिति होती तो फिर यहाँ इस वांछित गंतव्य स्थल में दुख का उल्लेख क्यों होता? पर प्रसाद तो संसार के विकास के लिए दुख-सुख की द्वन्द्व-प्रक्रिया आवश्यक मानते हैं। श्रद्धा-सर्ग में श्रद्धा मनु को समझाती है-'यही दुख सुख विकास का सत्य।' कवि की यही दृष्टि उसके विश्राम-प्रदेश में भी रूपायित हुई है। गीत के अंतिम छंद में तो कवि 'अमर जागरण' का संदेश देता है–

श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से–
जहाँ सृजन करते मेला से-
अमर जागरण उषा नयन से–
बिखराती हो ज्योति घनी रे !

श्रम-विश्राम' को कवि ने कर्म-भोग के युग्म सदृश ही माना है। श्रम और विश्राम, कर्म और भोग मिल कर मेला जैसे उल्लास की सृष्टि करते हैं और उषा अमर जागरण का

संदेश देती है। यहाँ पलायन की मुद्रा नहीं, विश्राम से तरोताजा व्यक्ति की श्रम और सृजन के लिए उत्फुल्ल चेष्टा है, संसार के जीवन में रुचि और आस्था का उद्घोष है।

कुछ समीक्षक और रचनाकारों ने, जिनमें रामधारीसिंह दिनकर और गजानन माधव मुक्तिबोध का नाम लिया जा सकता है, यह माना है कि प्रसाद ने 'कामायनी' में जिस कर्म सिद्धांत को प्रतिज्ञा रूप में रखा है, अंततः वे उसका निर्वाह नहीं कर सके हैं, क्योंकि मनु और श्रद्धा को उन्होंने कर्म-क्षेत्र से हटाकर कैलास-प्रदेश में भेज दिया है। एक निगाह में देखने पर आपत्ति जायज़ लगती है। इस संबंध में विवेचन 'कामायनी का पुनर्मूल्यांकन' में हो चुका है, उसकी पुनरावृत्ति अब यहाँ अनावश्यक लग सकती है। इतना संकेत ज़रूर किया जा सकता है कि 'कामायनी' का कथानक परंपरित काव्यों जैसा स्थूल घटना-प्रधान नहीं है। मुक्ति-बोध ने स्वयं इस बात को अपने ढंग से पूर्व पक्ष में समझा-समझाया है, पर उत्तर पक्ष में भूल गए हैं। 'कामायनी' में वस्तुतः कथानक का जो स्थूल रूप है भी वह सर्वत्र रचनाकार के सूक्ष्म अभिप्राय से अनुशासित है। कथा के स्तरों की इस टकराहट से अर्थ सक्रिय होता है और रचना में ऊर्जा विमुक्त होती है। यह प्रक्रिया सृजन, और फिर आस्वादन तथा आलोचना में बराबर चलती रहती है रचना के क्षण को इतिहास का अनंत विस्तार देती हुई। रचना, आलोचना और इतिहास यों एक प्रवह-मान अर्थ-प्रक्रिया का अंग हो जाते हैं। सृष्टि अर्थ से संपन्न होकर सर्जन बन जाती है।

# 13. नाट्य समीक्षा और कथा समीक्षा

डॉ. निर्मला जैन

हिन्दी की समसामयिक आलोचना की एक बड़ी उपलब्धि दृश्य काव्य के रूप में नाटक की समीक्षा का विकास है। यूँ तो हिन्दी में नाट्य-समीक्षा के आरम्भ का श्रेय कृतिकारों में भारतेन्दु को और आलोचकों में बाबू श्यामसुन्दर दास को दिया जा सकता है, परन्तु भारतेन्दु ने अपने निबन्ध 'नाटक' में और श्यामसुन्दर दास ने अपने ग्रन्थ 'रूपक रहस्य' में मुख्यत: संस्कृत के नाट्यशास्त्र की उद्धरणी ही की। इनके उपरान्त नाट्यालोचन की जो परम्परा चल निकली उसमें या तो नाटकों के कुछ शास्त्रीय अध्ययन सम्मुख आए अथवा उपन्यास और कहानी आदि के समानान्तर एक साहित्यिक विधा के रूप में कथानक, चरित्र-चित्रण, सम्वाद, देशकाल वातावरण आदि नाटक के तथाकथित तत्त्वों पर विचार किया जाने लगा। इस प्रकार के अध्ययनों के बीच कहीं-कहीं चलताऊ ढंग से नाटक-विशेष की अभिनेयता पर भी विचार कर लिया जाता था परन्तु स्पष्ट ही इस प्रकार की समीक्षाओं में नाटकों की रंगमंचीय समस्याओं के व्यावहारिक और सटीक बोध का प्रमाण नहीं मिलता।

इस बँधी परिपाटी से भिन्न नाटक के सन्दर्भ में कुछ मौलिक और सैद्धान्तिक सवाल उठाने का श्रेय स्वयं 'प्रसाद' को दिया जा सकता है। जबकि विडम्बना यह है कि स्वयं उन्हीं के नाटक उस समय की अधिकांश प्रशंसात्मक और विध्वंसात्मक आलोचनाओं के केन्द्र में थे। रंगमंच की दृष्टि से यदि उस समय नाट्य-समीक्षा के प्रयास किए भी गए तो हिन्दी के किसी निजी रंगमंच के अभाव में वे अनौचित्यपूर्ण ही सिद्ध हुए। 'प्रसाद जी के दो नाटक' नाम से श्री कृष्णनन्द गुप्त ने इसी ढंग का एक प्रयास किया जिसमें उन्होंने "इब्सोनियन रंगमंच, अभिव्यक्ति शैली, और इब्सोनियन बुद्धिवाद" की कसौटी पर प्रसाद जी के 'स्कन्दगुप्त' की संक्षिप्त और 'चन्द्रगुप्त' की विस्तृत विध्वंसात्मक समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं। इस कसौटी के आयात की आवश्कता हिन्दी में अपने साहित्यिक या स्तरीय रंगमंच की कंगाली का प्रमाण है। इस प्रयास से किसी रंगमंचीय नाट्य-समीक्षा की प्रणाली का विकास भले ही न हुआ हो, हिन्दी की नाट्य-समीक्षा पर इब्सनवाद के प्रभाव का बोध अवश्य होता है, जिसकी पुष्टि बाद में लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने समस्या-नाटकों की लम्बी भूमिकाओं में की। रंगमंच से सम्बद्ध समस्याओं की चर्चा उपेन्द्रनाथ अश्क ने भी अपने नाटक-संग्रहों की भूमिकाओं में समय-समय पर की, परन्तु विकसित व्यावसायिक रंगमंच के अभाव में लम्बे समय तक नाटक इन समीक्षाओं में साहित्यिक विधा ही बना

रहा और उसका अध्ययन मुख्यत: श्रव्य-काव्य के रूप में या अधिक से अधिक दृश्य-काव्य के रूप में किया गया।

स्वाधीनता के बाद, छठे दशक के अन्त में संगीत-नाटक अकादमी के अन्तर्गत नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा एण्ड एशियन थियेटर की स्थापना, इस दृष्टि से एक ऐतिहासिक घटना है। विशेष रूप से निदेशक पद पर इब्राहिम अल्काजी की नियुक्ति हिन्दी रंगमंच में एक नये युग के आरम्भ की सूचक है। अल्काजी के आगमन के साथ इस संस्था में पहली बार रंगमंच की आधुनिक तकनीक का विधिवत् अध्यापन और मंच पर व्यावहारिक प्रयोग आरम्भ हुआ। यूँ हर शहर और कस्बे के अपने शौकिया और लोक-मंच पहले भी थे। बंगला और मराठी रंगमंच का इतिहास पर्याप्त समृद्ध रहा है। परन्तु 'नेशनल स्कूल' के रंगमंचीय प्रयोगों के साथ न केवल अभिनय-कला को एक गौरवपूर्ण स्तर मिला बल्कि रंगमंच सम्बन्धी धारणाओं में मूलभूत परिवर्तन परिलक्षित हुआ। रंगमंच की दृष्टि से नाटकीय अपेक्षाएँ कुछ और होने लगीं। खुली रंगमंच पर भारती के 'अंधा युग' की प्रस्तुति इस दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। यूँ 'कृति' में 1959-60 ई. में 'पार्श्व और प्रेक्ष्य' नामक स्तम्भ के अन्तर्गत नेमिचन्द्र जैन पहले भी नाट्य-समीक्षा के छिट-पुट उदाहरण प्रस्तुत कर चुके थे। परन्तु यह आकस्मिक नहीं है कि उन्होंने 'नटरंग' जैसी नाटक केन्द्रित पत्रिका के प्रकाशन की योजना 'नेशनल स्कूल' की स्थापना और रंगमंचीय प्रयोगों के उपरान्त ही कार्यान्वित की। इसी समय के आसपास (1963-64) 'कल्पना' में धारावाहिक रूप से वीरेन्द्रनारायण ने प्रसाद के 'स्कन्दगुप्त' के रंग-प्रकरण पर समीक्षा-लेखों में विचार किया।

विविध नाटकों की फुटकर समीक्षाएँ लिखने के अतिरिक्त नेमिचन्द्र जैन ने नाट्य-कला पर 'रंग दर्शन' नामक ग्रन्थ की रचना की, और डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने 'नाटक और रंगमंच' शीर्षक पुस्तक में भारतीय और पाश्चात्य नाटक एवं रंगमंच की परम्पराओं से विधिवत् परिचय कराने का प्रयत्न किया। कहने का तात्पर्य यह है कि नाट्य-समीक्षा के केन्द्र में नाटक केवल साहित्यिक विधा न रहकर रंगमंच के सन्दर्भ में नाटक हो गया।

रंगमंच की दृष्टि से जिन बहुत-सी बातों पर विचार करना जरूरी समझा गया उनमें से एक पक्ष नाटकों की भाषा का था। डॉ. गोविन्द चातक ने जब प्रसाद के नाटकों का भाषिक विश्लेषण प्रस्तुत किया तो उसकी मूल दृष्टि रंगमंचीय थी। परन्तु आधुनिक सन्दर्भ में रंगमंच-पक्ष से नाटक में भाषा के प्रयोग का सवाल उठाने का श्रेय प्रमुख रूप से डॉ. विपिनकुमार अग्रवाल को है। उनके द्वारा उठाये जाने पर यह सवाल और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि वे स्वयं एक प्रयोगशील नाटककार हैं।

अब तक नाट्य-समीक्षा के जिस विकास की चर्चा की गई उसके समानान्तर एक पूरा दौर उन समीक्षात्मक लेखों का है जो दिन-प्रतिदिन रंगमंच पर प्रस्तुत किए जाने वाले नाटकों को लक्ष्य कर लघु पत्रिकाओं एवं नियमित रूप से निकलने वाली अन्य-पत्रिकाओं में सामने आते हैं। दिलचस्प बात यह है कि इन लेखों में विचारणीय विषय नाटक नहीं, नाटक की रंगमंचीय प्रस्तुति रहती है। यह पूरा सिलसिला जैसे इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी समीक्षा में पहली बार नाटक की दृश्य-काव्य के रूप में सार्थकता नियत हुई है और रंगमंच से उसका सही रिश्ता कायम हुआ है।

यूँ आज भी न 'रूपक-रहस्य' की परम्परा निःशेष हुई है न शास्त्रीय अध्ययनों की। परन्तु रंगमंच के व्यावहारिक ज्ञान से एकदम अनभिज्ञ बुद्धि से रचित इस प्रकार की विशाल पोथियों, शोध-ग्रन्थों और नाट्य कोशों को कहाँ तक सही अर्थ में नाट्य समीक्षा कहा जा सकता है, यह एक अलग प्रश्न है।

**कथा समीक्षा** : हिन्दी की कथा समीक्षा के इतिहास में छठे दशक के मध्य युवा कथाकारों की एक पूरी पीढ़ी का उदय महत्त्वपूर्ण घटना है। मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, रामकुमार, मार्कण्डेय, कृष्णा सोबती, अमरकान्त, फणीश्वरनाथ 'रेणु' – कहानी क्षेत्र में एक साथ इतने नामों का उभरकर सामने आना जैसे कहानी के क्षेत्र में एक आन्दोलन की शुरुआत का सूचक है। इसी समय (1955 ई.) सरस्वती प्रेस से भैरवप्रसाद गुप्त के सम्पादन में 'कहानी' पत्रिका का निकलना आकस्मिक नहीं है। इसके सम्पादक भले ही बहुत सफल कहानीकार न रहे हों, पर उन्होंने एक अत्यन्त सफल सम्पादक के रूप में इस सर्जनात्मक उभार को एकजुट करने में योग दिया। इसी पत्रिका में कहानी सम्बन्धी आलोचनात्मक लेखों का प्रकाशन आरम्भ हुआ, और इसके 1956 ई. के नव वर्षांक में प्रकाशित अपने लेख 'आज की हिन्दी कहानी' में नामवर सिंह ने पहली बार यह प्रश्न उठाया है कि "नयी कविता' की तरह 'नयी कहानी' नाम की भी कोई चीज है या नहीं ?'' प्रेमचन्द के वस्तुगत यथार्थ और जैनेन्द्र व अज्ञेय की अन्तर्निष्ठ वैयक्तिकता के बीच ये युवा कथाकार मध्यम मार्ग खोज रहे थे। इस 'नये उफान' ने जो नयी जमीन तैयार की थी उसकी समीक्षा के लिए कथा-समीक्षा की पुरानी परिपाटी की अपर्याप्तता को भी नामवर सिंह कहीं गहरे महसूस कर रहे थे। 'कहानी-नयी कहानी' में संकलित 'नयी कहानी : सफलता और सार्थकता' शीर्षक लेख में उन्होंने घोषणा की कि "यह आवश्यक हो गया है कि कहानी की आलोचना को एक नये स्तर पर उठाया जाए। टेकनीक की शास्त्रीय चर्चाओं और कहानियों का सारांश बतलाते हुए उनकी सामान्य समस्याओं के परिचयात्मक विवरणों का काम बहुत हो चुका।'' इसी सन्दर्भ में उन्होंने

कहानी-सम्बन्धी सामान्य धारणा को सही कहानी की समीक्षा के रास्ते की बाधा बताते हुए 'कहानी को 'कथानक', 'चरित्र', 'वातावरण', 'भावनात्मक प्रभाव', 'विषयवस्तु', आदि अलग-अलग 'अवयवों' के रूप में देखने की' अभ्यस्तता का विरोध किया और कुछ और आगे बढ़कर 'रचनाधर्मी कहानी की संश्लिष्टता' को समझने की माँग की। अपनी इस समझ को उन्होंने अज्ञेय की कहानी 'पठार का धीरज' पर लागू करके दिखाने की कोशिश की। इसी सन्दर्भ में उन्होंने कहानी की सर्जनात्मक भाषा पर विचार किया और उसमें संकेत, बिम्ब, प्रतीकात्मक प्रयोगों का विवेचन करते हुए उनमें निहित खतरों के प्रति सावधान भी किया। पुस्तक के बारे में उनका दावा है कि "मैंने कथा-समीक्षा की एक पद्धति निकालने की कोशिश की है।'' इस कोशिश की शुरुआत का श्रेय निस्संदेह नामवर सिंह को दिया जायेगा।

परन्तु विडम्बना यह है कि कहानी के क्षेत्र में जिस नए उफान को उन्होंने 'नयी कहानी' नाम देने की कोशिश की उसका दोहरा विरोध हुआ। स्वयं कथाकारों को इस नाम में 'नयी कविता' की व्यक्तिवादी संकीर्णता की राह चले जाने का खतरा महसूस हुआ। शायद उन्हें 'नये' विशेषण से कथा-साहित्य पर एक गलत प्रवृत्ति के चस्पा हो जाने की आशंका भी पैदा हुई। दूसरी तरफ 'नयी कविता' के पक्षधर आलोचकों को शायद यह आशंका विचलित करने लगी कि 'नयी' विशेषण का नकाब ओढ़कर 'कहानी' 'कविता' के गौरवपूर्ण क्षेत्र में घुसपैठ न करने लगे। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने तो कहानी को 'बच्चनोत्तर गीतों के स्तर की सरल, सुगम लोकप्रिय विधा' कहते हुए जैसे उसकी साहित्यिकता को नकार दिया। उनके अनुसार ऐसी लोकप्रिय विधा की सीमा यही है कि उसमें कविता की सी सूक्ष्मता और नफ़ासत आना सम्भव ही नहीं। इन दोतरफ़ा विरोधों के बावजूद 'नयी कहानी' का यह आन्दोलन लगभग एक पूरे दशक तक चला। इस बीच उसी के समानान्तर कथा-समीक्षा भी लेखों के माध्यम से चलती रही। राजकमल प्रकाशन से भैरवप्रसाद गुप्त के सम्पादकत्व में 'नयी कहानी' पत्रिका (1960 ई.) का प्रकाशनारम्भ हुआ, और कहानी संबंधी चर्चा भी धारावाहिक रूप से चल निकली। 'हाशिये पर' शीर्षक स्तम्भ में नियमित रूप से लिखते हुए नामवर सिंह ने कहानी की सामान्य चर्चा को कहानी विशेष की चर्चा पर टिका दिया। इस क्रम में सबसे महत्त्वपूर्ण विवाद 'कहानी: अच्छी और नयी'; शीर्षक से द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' की 'एक शिल्पहीन कहानी' और उषा प्रियंवदा की 'वापसी' कहानी को लेकर हुआ। विवाद का आरम्भ नामवर सिंह ने किया लेकिन वह सिलसिला एक साल तक चला जिसमें अनेक लोगों ने भाग लिया। इन चर्चाओं की विशेषता इस बात में थी कि इनके केन्द्र में विशिष्ट कहानियाँ थीं, सामान्य सिद्धान्त नहीं और इस तरह व्यावहारिक समीक्षा के बीच से कथा-समीक्षा का सिद्धान्त या पद्धति स्वत: उभर रही थी।

इसी पत्रिका में मार्कण्डेय ने कहानी-संग्रहों की विधिवत् समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं। और इसी में आगे चलकर 'वह एक कहानी' स्तम्भ चालू किया गया जिसमें नयी या पुरानी अपनी पसन्द की कोई एक विशिष्ट कहानी चुनकर अनेक कहानीकारों ने कथा-समीक्षाओं का क्रम जारी रखा। बाद में 'धर्मयुग' में लगभग दो वर्षों तक चलने वाला 'एक कथा दशक' शीर्षक स्तम्भ जैसे इसी क्रम का बढ़ाव था। इस स्तम्भ में हिन्दी के सभी उल्लेखनीय कहानीकारों की कहानी के साथ उनके वक्तव्य भी प्रकाशित किये गये और इन वक्तव्यों पर आलोचनात्मक प्रतिक्रियाएँ भी। इस सम्पूर्ण आयोजन से कथा-समीक्षा की किसी निश्चित प्रणाली का विकास भले ही न हुआ हो किन्तु इससे एक तो उस समूचे कथा-दशक के सर्जनात्मक प्रयासों का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ, दूसरे किसी हद तक इस विधा का व्यावसायीकरण भी हुआ ही। कुछ वक्तव्यों में अपनी सृजन-प्रक्रिया की चर्चा से हटकर कहानी की रचना से सम्बद्ध कुछ मूलभूत समस्याओं पर विचार किया गया। इस दृष्टि से निर्मल वर्मा का वक्तव्य विशेष महत्वपूर्ण कहा जायगा।

इस सम्पूर्ण कथा-दशक में समीक्षात्मक लेखों की सरगर्मी के बीच कथा-समीक्षा की दिशा में जो पुस्तकाकार प्रकाशन हुए उनमें नामवर सिंह का 'कहानी-नयी कहानी' (जो उनके इस पूरे दौर में लिखे गये लेखों का संग्रह है) कमलेश्वर की 'नयी कहानी की भूमिका', देवीशंकर अवस्थी द्वारा सम्पादित 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति', और राजेन्द्र यादव की 'कहानी : स्वरूप और सम्वेदना' विशेष उल्लेखनीय हैं। राजेन्द्र यादव ने इसके अतिरिक्त 'एक दुनिया समानान्तर' नामक कहानी-संग्रह का सम्पादन कर उसकी एक 72 पृष्ठों की भूमिका भी लिखी। इनमें से कमलेश्वर की पुस्तक का स्वर आन्दोलनात्मक है, वह मानो 'नयी कहानी' की समझ से ज्यादा तत्सम्बन्धी घोषणाएँ प्रस्तुत करता है। राजेन्द्र यादव की पुस्तक में 'नयी कहानी' की उनकी अपनी समझ व्यक्त हुई है। देवीशंकर अवस्थी को इस बात का श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होंने अपने सम्पादित ग्रन्थ की भूमिका में नामवर सिंह की मान्यताओं का भाष्य प्रस्तुत किया। यह बात अलग है कि इस प्रक्रिया में उन्होंने जो ऐतिहासिक प्रमाण किए उनमें कुछ तथ्य सम्बन्धी भूलें रह गयीं।

यह दशक समाप्त होने न होते 'नयी कहानी' आन्दोलन की आन्दोलनात्मक प्रतिक्रियाएँ 'संचेतन कहानी' और 'अ-कहानी' के नारे के साथ सामने आयीं। विडम्बना यह कि इनमें से सचेतनवादी 'नयी कहानी' के समर्थकों की तुलना में पुरातनपन्थी और इनकी तथाकथित नवीनता के विरुद्ध पुराने यथार्थवाद के समर्थक थे और 'अ-कहानी' (ऐण्टी स्टोरी) के समर्थक इनकी अपेक्षा कहीं अधिक आधुनिक थे। सचेतन कहानी का नारा देने वाले कहानीकारों ने कहानी सम्बन्धी किसी नयी दृष्टि या समझ का प्रमाण देने के बजाय

कुछ लेखकों के द्वारा सामूहिक रूप से एक नारे की आड़ में अपने को प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न का आभास ही अधिक दिया। इनमें प्राय: ऐसे लेखक शामिल थे जो नयी कहानी में सम्मिलित न हो सके थे। इनमें महीप सिंह, मनहर चौहान, रवीन्द्र कालिया और गंगाप्रसाद विमल ने 'अ-कहानी' का झण्डा उठाकर नयी कहानी की तुलना में अपनी अत्याधुनिकता की घोषणा की। इसमें सन्देह नहीं कि अ-कहानी की बात उठाकर इस वर्ग के लेखकों ने कहानी में कथानक का विरोध किया, अपने कथ्य में ये निश्चय ही नये कहानीकारों की अपेक्षा कहीं अधिक साहसी दिखाई पड़े। किन्तु अत्याधुनिकता की दावेदारी के अतिरिक्त कथा-समीक्षा का कोई ठोस और टिकाऊ सिद्धान्त इनकी विरोध-प्रक्रिया के माध्यम से सामने नहीं आया। परिणामत: यह आन्दोलन भी टिक न सका।

असफल होने पर भी इन विरोधी स्वरों की सार्थकता इस बात में सिद्ध हुई कि जिस प्रकार नंयी कविता के विरोध से कविता के क्षेत्र में भाव-बोध और भाषा, दोनों स्तरों पर यथार्थ की एक नयी लहर का उन्मेष हुआ उसी प्रकार कहानी में भी नयी कहानी के विरुद्ध रचना के स्तर पर यथार्थ के नये स्तरों के उद्‌घाटन के प्रयास हुए जिसकी अभिव्यक्ति दूधनाथ सिंह, विजयमोहन सिंह, महेन्द्र भल्ला, सुरेन्द्र चौधरी आदि के समीक्षात्मक लेखों में हुई। ऐसा प्राय: उन समीक्षा-लेखों में हुआ जहाँ उन्होंने 'नयी कहानी' आन्दोलन के प्रमुख कहानी-संग्रहों की समीक्षा करते हुए उनसे अपना अलगाव प्रकट किया। यह एक प्रकार का पुनर्मूल्यांकन था जिसके द्वारा कथा-समीक्षा के कुछ नये प्रतिमान भी सामने आए। इस युवा पीढ़ी ने जान-बूझकर व्यावसायिक और बड़ी पत्रिकाओं का विरोध किया अर्थात् कहानी की बढ़ती हुई व्यावसायिकता का विरोध किया। शायद इसीलिए इनमें से बहुत-सी समीक्षाएँ लघु पत्रिकाओं के माध्यम से सामने आयीं।

जिस प्रकार कहानी के क्षेत्र में कुछ नये प्रयोगों के कारण, कहानी-समीक्षा की एक अपनी नयी पद्धति की जरूरत महसूस की गई थी, उसी प्रकार उपन्यास में भी सर्जनात्मक प्रयासों के साथ नये ढंग की उपन्यास-समीक्षा की पद्धति के विकास की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इस दृष्टि से फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास 'मैला आँचल' (1954 ई.) और 'परती परिकथा' (1957 ई.) चुनौती के रूप में समीक्षकों के सामने प्रस्तुत थे। किसी हद तक 'शेखर एक जीवनी' (1940-44 ई.) तथा 'नदी के द्वीप' (1951 ई.) की रचना ने एक नयी पद्धति के विकास की अपेक्षा पहले ही जगा दी थी। 'रेणु' के उपन्यासों ने जैसे इसका और टाला जाना असम्भव कर दिया। इन उपन्यासों के समीक्षक एक नयी पद्धति की माँग भी करते जाते थे और लगे हाथों कुछ दूर तक बनी-बनायी लीक से हटकर समीक्षा भी करते जाते थे। उदाहरण के लिए नेमिचन्द्र जैन ने हिन्दी उपन्यास की एक

नयी दिशा' शीर्षक देकर 'मैला आँचल' की समीक्षा की और 'कथा शिल्प का विशिष्ट प्रयोग' नाम से निर्मल वर्मा ने 'परती परिकथा' का मूल्यांकन किया। ऐसी समीक्षाओं के द्वारा तत्काल उपन्यास-समीक्षा की किसी सुनिश्चित पद्धति का आविष्कार भले ही न हुआ हो, पर इतना स्पष्ट हो गया कि पुराने ढंग की तत्त्वधर्मी आलोचना के कथानक, चरित्र-चित्रण, देशकाल-वातावरण आदि साँचे इस प्रकार की रचनाओं के लिए निरर्थक हो गए हैं। इन समीक्षाओं के शीर्षक उपन्यास-रचना के क्षेत्र में एक नयी दिशा के उद्‌घाटन का स्पष्ट संकेत देते हैं और इनकी समीक्षा एक नयी पद्धति की खोज के प्रयास का आभास देती है। नेमिचन्द्र जैन ने 'मैला आँचल' के कथानक में अंकित देहाती जीवन के प्रति लेखक के विशिष्ट दृष्टिकोण का विस्तृत विवेचन किया। उस 'अपूर्व आत्मीयता' का जिक्र किया 'जिसके साथ लेखक ने गाँव के जीवन की समस्त कटुता और संगीत को, सरलता और विकृति को, स्वार्थपरता और सामाजिक एकसूत्रता को, अज्ञान और मौलिक नैतिक संस्कार को सँजोया है।'' उन्होंने उपन्यास को 'इस कोटि के सभी हिन्दी उपन्यासों से भिन्न' इसलिए माना कि "लेखक ने देहाती जीवन को अत्यन्त आत्मीय और कवित्वपूर्ण दृष्टि से देखा है।'' आगे चलकर इस कवित्वपूर्ण दृष्टि की जो व्याख्या समीक्षक ने की वह स्पष्टत: उपन्यास में कविता के प्रतिमानों को लागू करने का प्रयास है। समीक्षा के अन्त में उन्होंने संरचना की उस प्रयोगात्मक प्रक्रिया की आलोचना भी की जो एक सीमा के बाद 'रस-सृष्टि में बहुत सहायक सिद्ध नहीं होती' और उपन्यास के भाव बोध को वाद्यवृन्द के सादृश्य से समझाया : 'ऐसा लगता है कि विभिन्न भाव एक बड़े भारी वाद्यवृन्द के अलग-अलग वाद्य हों, जिनकी स्वर-संगति अपनी जगह ठीक होते हुए भी उनके सम्मिलित प्रवाह में समन्वित नहीं है। लगता है, कुछ विवादी स्वर लग रहे हों, अथवा कुछ संवादी स्वर ध्वनियों की विविधता में कहीं खो गये हों।'' इसी प्रकार इस उपन्यास में लोक-संस्कृति की अपूर्व सम्पत्ति के नवीन प्रयोग को समझाने के लिए उन्होंने कभी न थमने वाले किन्तु सर्वथा संवेदनशील पार्श्व संगीत के उपमान का सहारा लिया।

यह आकस्मिक नहीं है कि रेणु के दूसरे उपन्यास 'परती परिकथा' से मन पर पड़ने वाले प्रभाव का विश्लेषण करने के लिए निर्मल वर्मा को भी कुछ इसी प्रकार की पद्धति का सहारा लेना पड़ा : "समूचा उपन्यास पढ़े जाने के बाद लगता है जैसे हम किसी गाँव का अद्‌भुत विचित्र 'कार्नीवाल' देख आये हैं। अनेकानेक रंगों, गन्धों, सुरों की हरहराती धारा हमारे बीच बहकर आगे बढ़ गयी है, अनेक व्यक्तियों की असंगतियों, सुख-दु:ख, हास-विलास से हमने अपने को सम्पृक्त किया है; किन्तु ये चेहरे, रंग और सुर अपने में महत्त्वपूर्ण नहीं हैं महत्त्वपूर्ण है इस 'कार्नीवाल' की गतिमयता, अविरल प्रवाह की कलकल, हवा में उड़ते रंगों की आभा, एक मायावी लय जो समस्त व्यक्तियों और घटनाओं के बीच

गुज़रती हुई हमारे मस्तिष्क और हृदय को आलोड़ित कर देती है।'' अपनी समूची काव्यात्मकता के बावजूद इन पंक्तियों में परती परिकथा की बुनावट, गति, उसमें अंकित जीवन की खासियत, उस जीवन के माध्यम से सम्पर्क में आनेवाले पात्रों के बारे में जो कहा गया है, वह किसी तत्त्वदर्शी समीक्षा में सम्भव न था।

निर्मल वर्मा को इसीलिए शिकायत भी है कि 'रेणु' ने हिन्दी उपन्यास के रचना-विधान और कथा-शिल्प के क्षेत्र में जो परिवर्तन किये हैं, नये मोड़ लिये हैं, उनके आधार पर हमने अपने रूढ़िगत मानदण्डों को परिवर्तित या परिमार्जित करना उचित नहीं समझा।'' जिन समीक्षकों ने 'परती परिकथा' पर दुरूहता और अस्पष्टता का आरोप लगाया, उनके बारे में उनका कहना था कि "इस उलझाव का कारण 'परिकथा' में न होकर हमारी आज की आलोचना पद्धति, साहित्य के तथाकथित मानदण्डों में सन्निहित है।'' क्योंकि निर्मल वर्मा को साहित्य के तथाकथित मानदण्डों से शिकायत है इसलिए जाहिर है कि उन्होंने उपन्यासों की प्रकृति और शिल्प के अनुरूप किसी बने-बनाये मानदण्ड का प्रयोग न कर सन्दर्भ के अनुरूप कुछ प्रासंगिक और कहीं-कहीं मूलभूत प्रश्न उठाए हैं। उदाहरण के लिए किसी साहित्यिक रचना में यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण का स्वरूप, कलाकार की वैचारिकता, विशेषकर अपने को 'सोशलिस्ट' समझने के आग्रह का उसके कलात्मक व्यक्तित्व पर प्रभाव, उपन्यास में नाटकीयता की सृष्टि, एवं उपन्यास में तथाकथित 'बिखराव' को कथा-शिल्प के विशिष्ट प्रयोग के रूप में समझने की दृष्टि आदि।

उपन्यासों की जिस समीक्षा-पद्धति का विकास इसी प्रकार की कृति-समीक्षाओं में क्रमश: हो रहा था, उसका एक कारण उपन्यासों की निरन्तर जीवन्त प्रयोगशीलता भी रही। इस प्रकार की समीक्षाओं में देवीशंकर अवस्थी की 'एक टूटा दर्पण' शीर्षक से 'चारु-चन्द्रलेख' की समीक्षा, 'दूसरों का नरक' नाम से श्रीकान्त वर्मा की 'अंधेरे बन्द कमरे' की समीक्षा और 'कविदृष्टि का अभाव' शीर्षक से कुँवरनारायण द्वारा की गयी 'झूठा सच' की समीक्षा का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है। ऐसे प्रयासों का पहला आभास नेमिचन्द्र जैन के संग्रह 'अधूरे साक्षात्कार' में दिखायी पड़ा।

इस क्रम में राजेन्द्र यादव के 'अट्ठारह उपन्यास' (1981) में संकलित समीक्षात्मक लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। समय-समय पर लिखी गई इन समीक्षाओं में 'चन्द्रकांता संतति' से 'एक इंच मुस्कान' तक अट्ठारह उपन्यास तो शामिल हैं ही, परिशिष्ट के आठ उप-लेखों में से अंतिम है: '1977 का साहित्य परिदृश्य : जलता हुआ मकान' शीर्षक से एक टिप्पणी।

पुस्तक की योजना और चयन कुछ अटपटा लग सकता है। ग्रहण और त्याग का सवाल निजी पसन्द और विवेक से ताल्लुक रखता है। यूँ भी राजेन्द्र यादव ने भूमिका में 'औज़ारों की तलाश' संबंधी चर्चा के बीच इसकी सफ़ाई पेश की है। शायद इसलिए भी कि उसमें खुद उनके अपने कुल तीन जमा दो, यानी पाँच उपन्यास शामिल हैं। वैसे इसकी कोई जरूरत नहीं थी। आलोचक पर अविश्वास व्यक्त करते हुए या ना-इंसाफ़ी की शिकायत करते हुए कवियों ने बराबर अपने पक्ष में बयान दिए हैं। ऐसा अक्सर उस स्थिति में भी हुआ है जब लीक छोड़कर चलने के कारण, उन्हें अपने रचनात्मक कर्म के संदर्भ में नए प्रतिमानों को प्रस्तावित करने, या फिर अपनी सृजन-प्रक्रिया या सरोकारों को स्पष्ट करने की आवश्यकता महसूस हुई।

राजेन्द्र यादव की चिन्ता भी ठीक ऐसी ही है: "परम्परा से न जुड़ने के कारण ही आज हमारे पास न तो समीक्षा की समझ का मानकीकरण है, न मुहावरे का, शायद औज़ार तो हैं ही नहीं।'' यह भी कि "हर विधा का अपना एक मुहावरा या अनुशासन होता है और वह पूरे परिप्रेक्ष्य के विचार-पुनर्विचार से ही उभर कर आता है।'' (पृ. 14)।

समीक्षकों पर उनके अविश्वास का अन्दाज़ा उस उद्धरण से लगाया जा सकता है जो "समीक्षकों को सम्बोधन'' के नाम पर पुस्तक के आरम्भ में छपा है। यह अविश्वास और सन्देह उपन्यासों की समीक्षाओं के बीच भी दिखाई पड़ता है। मसलन 'धूपछांही रंग' पर लिखते हुए नेमिचन्द्र जैन द्वारा प्रयुक्त 'साक्षात्कार' को जादू की छड़ी कहकर उनके कथा-संस्कार को मूलत: रोमानी और छायावादी कहते हुए यह घोषणा करना कि 'धूपछांही रंग' इन दो दशकों में छठा महत्त्वपूर्ण उपन्यास है, जिसकी पहली कड़ी उनका अपना उपन्यास 'उखड़े हुए लोग' था। यह बात अलग है कि उनकी इस राय से इत्तंफ़ाक रखने वाले लेखक-समीक्षक मुश्किल से मिलेंगे।

राजेन्द्र यादव शायद इस बात से बेखबर होंगे कि उनकी गैर-जानकारी में ही कुछ लेख आत्म-मोह और वैयक्तिक मुलाहिजे के शिकार हो गये हैं। परिशिष्ट में अपने उपन्यास के संदर्भ में औरों को जवाब देने की बेचैनी कुछ ऐसी ही अकुलाहट का नतीजा है। ठीक उसी तरह अपने उपन्यासों पर लिखे गए लेख पाठक-समीक्षक पर अविश्वास से प्रेरित हैं।

जिस लेख में उपन्यासकार से जितनी दूरी कायम है, वह उतना ही प्रभावी है। ये लेख कथा-समीक्षा के किसी जड़ ढाँचे को स्वीकार नहीं करते। हर कृति के किसी केन्द्रीय बिंदु की तलाश कर उसके चारों ओर एक अलग ढाँचा तैयार किया गया है जो इस बात का प्रमाण है कि रचना की प्रयोगात्मकता के सामने पूर्व निर्धारित औज़ार व्यर्थ हो जाते हैं।

उसकी समीक्षा के तर्क उसी के भीतर से उभरकर अपना तंत्र खुद बनाते हैं। कभी-कभी परिवेशीय दबाव (जो रचनाकार/आलोचक में से किसी के हो सकते हैं) अध्ययन की दिशा निर्धारित करते हैं। जैसा कि चन्द्रकांता संतति पर लिखे गए लेख में हुआ है।

इन लेखों की सबसे बड़ी खूबी इस बात में है कि इनमें आलोचना रचना पर नहीं, बल्कि रचना आलोचना पर हावी है। किसी कृति के अध्ययन का यही सही और कारगर तरीका है। चूंकि रचनाएँ अलग-अलग हैं इसलिए समीक्षा के औज़ार और उनके प्रयोग की विधि भी अलग है। सबसे बड़ा आकर्षण है इनकी रचनात्मकता जिसमें दोहराव कहीं नहीं है। इनमें से कई लेख कथा-समीक्षा के मॉडल हो सकते हैं। हिन्दी की काव्य-समीक्षा के सार्थक और महत्त्वपूर्ण प्रयास जिस तरह स्वयं कवियों ने किए हैं (जिनमें पंत, निराला, प्रसाद, महादेवी, अज्ञेय, साही-सबकी गणना की जा सकती है) उसी प्रकार कथा-समीक्षा की दिशा में 'औज़ारों' की सार्थक तलाश का श्रेय राजेन्द्र यादव को दिया जाना चाहिए।

देवीशंकर अवस्थी ने हिन्दी की कथा-समीक्षा पर पड़ने वाले प्रभावों का जिक्र करते हुए कहा है कि "कथा-समीक्षा की नयी पद्धतियों पर औज़ारों को विकसित करते समय पश्चिम के फ़िक्शन क्रिटिसिज़्म से भी सहायता ली गई और काव्य-समीक्षा की कोटियों को... भी लागू किया गया।" (नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति, पृ.17) कुँवरनारायण की 'झूठा सच' की समीक्षा का शीर्षक ही उपर्युक्त कविदृष्टि की खोज का प्रमाण है।

हिन्दी में उपन्यास-समीक्षा का नितान्त अभाव पहले भी नहीं रहा। हिन्दी के सभी प्रसिद्ध उपन्यासकारों पर और महत्त्वपूर्ण उपन्यासों पर कुछ शोध-ग्रन्थों के रूप में और कुछ समीक्षा-ग्रन्थों के रूप में ऐतिहासिक परिचयात्मक तत्त्वधर्मी समीक्षा की भरमार रही। परन्तु इस दशक की उपन्यास-समीक्षा का इस पूर्ववर्ती समीक्षा से मौलिक भेद इस बात में है कि इसमें बने-बनाये साँचों में फिट करके परस्पर सर्वथा भिन्न प्रकृति के उपन्यासों का मूल्यांकन प्रस्तुत करने की बँधी लीक का पालन नहीं किया गया। बल्कि इस आलोचना में उपन्यास की संरचना और उसमें यथार्थ के विभिन्न स्तरों के कल्पनात्मक सृजन का विषलेषण करने पर विशेष ध्यान दिया गया। परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है हिन्दी में कथा-समीक्षा की किसी सुनिर्दिष्ट पद्धति का विकास नहीं हो सका। कुँवरनारायण ने कल्पना में प्रकाशित 'अधूरे साक्षात्कार' की समीक्षा में इस समीक्षा दृष्टि की खामियों की ओर संकेत किया और 'कथा समीक्षा की समस्याएँ' (परिशीलन' प्रथमांक 1973 में दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित) शीर्षक अपने लेख में हमने भी इस समस्या की ओर संकेत का प्रयास किया है।

सातवें दशक में रचना के क्षेत्र में परिवर्तन के साथ ही आलोचना में भी परिवर्तन के लक्षण प्रकट होने लगे। गहमागहमी का एक दशक पूरा करके नयी कविता और नई कहानी आन्दोलन ठंडे होते दिखे तथा कवियों और कहानीकारों की एक युवा पीढ़ी ने नये तेवर के साथ साहित्य में प्रवेश किया जिसका मुहावरा ही नया नहीं था बल्कि जिसकी यथार्थ दृष्टि का आग्रह भी प्रबल था। यह अवश्य है कि इस दौर के लेखकों के रुख सामान्यत: आलोचना-विरोधी हैं, फिर भी समकालीन रचना के बीच से कुछ अपने आलोचक उभर ही आए। इन उदीयमान आलोचकों में मलयज और रमेशचन्द्र शाह के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

**मलयज** (1953-1982) के समीक्षात्मक लेखों का पहला संग्रह 'कविता से साक्षात्कार' (1977) उनके जीवन-काल में और शेष दो रचनाएँ 'संवाद और एकालाप' और 'रामचन्द्र शुक्ल' (1987) मरणोपरान्त प्रकाशित हुईं।

अपने पहले संग्रह 'कविता से साक्षात्कार' के लेखों से ही मलयज ने अपनी आलोचनात्मक - समझ की छाप छोड़ी। 'सरोज-स्मृति' के निराला का दुख उन्होंने अन्य छायावादी कवियों के दु:ख से अलगाकर पहचाना और 'तीसरे अज्ञेय की तलाश' में अज्ञेय के 'वास्तविक मूल्यांकन की कुंजी' उनकी काव्य-पंक्तियों में चीन्हने का प्रयत्न किया। शमशेर के 'निर्मम काव्य-शिल्प' को उन्होंने उन्हीं के वक्तव्यों के सहारे खोलने का जोखिम उठाया।

त्रिलोचन के 'दिगंत' पर प्रक्रिया के रूप में मलयज ने अत्यन्त सारगर्भित टिप्पणी की। त्रिलोचन की काव्य-वस्तु और संवेदना को एकदम ठीक-ठीक पहचानते हुए उन्होंने त्रिलोचन को 'औसत भारतीयता का कवि' कहा। भारतीयता के अभिप्राय को स्पष्ट किया और अन्त में उनकी कविता के बारे में ऐसे सवाल उठाए जिनके बारे में खुद मलयज का कहना था कि 'इन प्रश्नों के उत्तर की सरल सुविधा फ़िलहाल त्रिलोचन की कविताएँ हमें नहीं देतीं।' (पृ.66)

मलयज के इन आलोचनात्मक लेखों की निर्मम तटस्थता उनका प्रमुख आकर्षण है। वे न फ़तवे देते हैं न नारेनुमा वाक्य उछालते हैं, पूरी संवेदनशीलता और आलोचनात्मक विवेक से धीरे से **सही** जगह उंगली रख देते हैं। ऐसे माहौल में जब उनके एकाध हमउम्र आलोचकों की इकलौती पुस्तकों का समारोहधर्मी स्वागत किया-करवाया जा रहा था, मलयज की ओर जितना और जिस रूप में ध्यान दिया जाना चाहिए था, ज़ाहिर है वह नहीं दिया गया। खुद **मलयज** अनेक समकालीनों के कृतित्व और रचना-कर्म से संबंधित प्रासंगिक मुद्दों पर विचार करते हुए जिन निष्कर्षों पर पहुँचे उन्हें विनम्रतापूर्वक उन्होंने "समकालीन

जीवन और कविता के परस्पर संबंधों की खोज में आए विभिन्न पड़ाव'' कहा; यानी वे खुद को मंजिल तक पहुँचा हुआ सिद्ध नहीं साधक ही समझते रहे।

'संवाद और एकालाप' मलयज के आलोचनात्मक लेखों का दूसरा संग्रह है। इन लेखों में मलयज ने अपने वरिष्ठ समकालीनों-पन्त और शमशेर, मुक्तिबोध, नरेश मेहता, लक्ष्मीकान्त वर्मा, साही, निर्मल, रघुवीर सहाय से लेकर रमेशचन्द्र शाह तक के लेखन के साथ विजय सोनी की चित्र-प्रदर्शनी पर भी लिखा है। दरअसल संग्रह का पहला लेख "अमूर्त ज्यामिति के बाहर' ही चित्र-प्रदर्शनी पर लिखा गया है। साही की आलोचना-पद्धति को खुद मलयज ने कुछ इस तरह समझाया है: "आलोचना को रचना की सघन और तनावपूर्ण शर्तों पर पाना मुझे हमेशा आकर्षित करता रहा है। आलोचना की सृजनात्मक उड़ानें कविता में कल्पना की उड़ानों से किस कदर कम हों? एक बड़ी थीम को लेकर लिखी गयी कविता का स्थापत्य और रेह्टरिक, कुशल बुनावट और पच्चीकारी उस आलोचना में भी तो पायी जा सकती है जो रचना के भीतर से निकलनेवाले प्रश्नों को संवेदना और दृष्टि के एक बड़े फलक पर पूरी विविधता के साथ प्रोजेक्ट करती है।'' (पृ.40)

खुद मलयज की आलोचना भी कुछ ऐसी ही शर्तों को पूरा करती दिखायी पड़ती है। यह बात अलग है कि जिन रचनाओं का चुनाव किया गया है उनमें प्रवृत्तिगत विविधता तो है ही विधा की दृष्टि से भी अधिकांश साहित्य-रूप विचार-परिधि में आ गए हैं। गद्य-रचनाओं का अनुपात अपेक्षाकृत अधिक है। रचनात्मक साहित्य पर आलोचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य पर रचनात्मक लेख इस संग्रह का प्रमुख आकर्षण हैं।

इस संग्रह में वस्तुत: आलोचनात्मक लेख कहने लायक कम ही है। शीर्षक के अनुरूप पत्र, नोटबुक, संबोधन हर माध्यम से, मलयज रचनाकारों से संवाद या स्वयं से एकालाप में संलग्न दिखाई पड़ते है। शब्द के परंपरागत अर्थ में ये समीक्षा-लेख जैसे नहीं, कुछ रचनाओं को समझने की कोशिश भर प्रतीत होते हैं।

मलयज की तीसरी आलोचनात्मक पुस्तक 'रामचन्द्र शुक्ल' का सम्पादन नामवर सिंह ने किया। शुक्ल जी पर स्वतन्त्र आलोचनात्मक पुस्तक लिखने का दायित्व साहित्य अकादमी ने मलयज को सौंपा था। पुस्तक के उत्तरांश में प्रकाशित टिप्पणियों से साफ़ ज़ाहिर है कि मलयज ने उसकी मुकम्मल तैयारी कर ली थी। व्यवस्थित लेख तीन हैं-'पृष्ठभूमि', 'जीवन-वृत्त' और 'मिथ में बदलता आदमी'। टिप्पणियों से उस पद्धति का बोध होता है जिससे शुक्ल जी को समझा गया है।

इस पुस्तक की भूमिका में नामवर सिंह ने जिन विशेषताओं की चर्चा की है वे कवि आलोचक मलयज की आलोचना-पद्धति और भाषा की समझ के लिए बहुत दूर तक सहायक

हैं: "मलयज ने आलोचना के शास्त्रीय प्रत्ययों के अन्दर जाकर आचार्य शुक्ल के सामान्य मनुष्य की जिस प्रतिमा का निर्माण किया है वह निश्चित रूप से हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में एक मौलिक सृष्टि है, किन्तु इससे भी अधिक महत्त्पूर्ण वह पद्धति है, जिससे उस प्रतिमा के उपादान और तत्त्व खोजे गये हैं।''

भाषा के बारे में नामवर सिंह का कहना है "आत्म-संघर्ष-युक्त जनसंघर्ष की प्रक्रिया में मलयज ने आलोचना की एक नयी भाषा का विकास किया जो आचार्य शुक्ल की ही परम्परा में वस्तुमुखी, यथातथ्य, तर्कनिष्ठ, भाव-संवलित, सघन और सान्द्र है।'' कहना न होगा कि ये विशेषताएँ उनके आत्ममुग्ध समकालीनों में विरल हैं।

रमेशचन्द्र शाह (1940 ई.-) आलोचक सहृदय और रसज्ञ हैं। वे अशोक वाजपेयी से और बहुत-सी बातों में भिन्न होने के अलावा इस बात में भिन्न हैं कि उन्होंने समकालीन कविता के साथ कहानियों की समीक्षा में भी रुचि दिखलाई। यों तो उन्होंने छायावाद पर स्वतंत्र रूप से एक पुस्तक लिखी है। किन्तु उनकी उल्लेखनीय आलोचना-पुस्तक है 'समानान्तर' (1973 ई.) और 'वागर्थ' (1981 ई.) जो उनकी काव्य-समीक्षा और कहानी-समीक्षा दोनों का पूरा प्रतिनिधित्व करती है। शाह का बल 'सर्जनात्मक समीक्षा' पर है जिसे छायावादी ढंग की 'प्रभावाभिव्यंजक' समीक्षा समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। इसके लिए वे रचनाकार की 'सृजन-प्रक्रिया' का आत्मीय विश्लेषण आवश्यक मानते हैं। स्वयं शाह के शब्दों में उनका आदर्श है: "वही सम्पूर्णता-समझ और सहानुभूति की; दार्शनिक की-सी गंभीरता और बौद्धिक तेजस्विता, कलाकार की-सी लाघवपूर्णता और परिष्कृति, तथा वैज्ञानिक की-सी एकाग्र तथ्य चिन्ता, निर्लिप्ति और दक्षता।'' (समानान्तर, पृ. 16) शाह की अभिरुचि अज्ञेय के साहित्य में विशेष प्रतीत होती है, जिससे उनके प्रतिमान निर्धारित हुए हैं। उनका मन कविताओं और कहानियों की भाषा की सर्जनात्मकता के विश्लेषण में विशेष रूप से रमा है। इस दृष्टि से 'कुछ कविताएँ : कुछ कवि' तथा हिन्दी कहानी : भाषा-दृष्टि' शीर्षक निबन्ध द्रष्टव्य हैं। 'वागर्थ' के निबन्धों में उनके आलोचनात्मक सरोकार का विस्तार कविता और कथा-साहित्य से आगे बढ़कर साहित्य के बुनियादी सवालों तक हो गया है। संग्रह के पहले निबंध "साहित्य में आज का गतिरोध' में उन्होंने सन् चालीस, पचास और साठ के आसपास होने वाली गतिरोध विषयक चर्चाओं में सन् सत्तर को भी जोड़ने का प्रस्ताव किया है, पर टेक वही पुरानी है: "भाषा में हम अनुभव को रचते ही नहीं, उसे पाते पहचानते भी हैं। कविता भाषा में अपने होने को पहचानना ही है।'' (पृ. 17) निबंधों के विषयों में विस्तार भी है, विविधता भी। 'हिन्दी कवित्व और हिन्दी गद्य' 'समकालीन रचना में 'स्वतंत्रता का अर्थ' 'पराधीन कल्पना

एक दृष्टि' कुछ ऐसे ही निबंध हैं । पर उनकी मान्यताओं और नजरिये में कोई बुनियादी अंतर नहीं आया। जहाँ तक कृतियों के मूल्यांकन का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर शाह ने कृतियों का मूल्यांकन करने की अपेक्षा उनकी सहानुभूतिपूर्ण व्याख्या तक ही अपने को सीमित रखा है - जो उनकी शक्ति भी है और सीमा भी।

इन दो आलोचकों के अतिरिक्त समीक्षकों में सुरेन्द्र चौधरी और विजय मोहन सिंह कथा-समीक्षा के लिए और अशोक बाजपेयी तथा विष्णु खरे काव्य समीक्षा के लिए उल्लेख्य हैं। सुरेन्द्र चौधरी की रूचि मुख्यतः समकालीन साहित्य के ऐतिहासिक सामाजिक परिवेश तथा वैचारिक पक्ष में है। अशोक बाजपेयी, विजयमोहन सिंह, और विष्णु खरे ने पुस्तक समीक्षकों के माध्यम से सामान्यतः विध्वंसात्मक आलोचना के उदाहरण प्रस्तुत किए है। मुख्यतः पुस्तक समीक्षाओं के रूप में लिखी जाने पर भी इनकी आलोचनाओं में कहीं-कहीं सामान्य सिद्धान्तों के भी संकेत प्राप्त होते हैं। इस आलोचना से हिन्दी आलोचना के बदले हुए मिजाज का पता तो चलता ही है, आलोचना के बदलते, हुए मुहावरे का भी बोध हेाता है।

निर्मल वर्मा (1929 ई.) इन तमाम नामों के बीच एक विशिष्ट नाम कहानीकार चिंतक निर्मल वर्मा का है। आठवें दशक में सक्रिय रचनाकार आलोचकों में सबसे वरिष्ठ निर्मल वर्मा के समीक्षात्मक और वैचारिक लेखों के तीन संग्रह 'शब्द और स्मृति' (1976). "कला का जोखेम" (1981) और "ढलान से उतरते हुए" (1986) प्रकाशित हुए। कहना न होगा कि इस दौरान निर्मल कहानियाँ और उपन्यास भी लिखते रहे।

निर्मल के सर्जनात्मक और चिंतनपरक लेखन की विशेषता उनकी संजीदगी है। 'शब्द और स्मृति' के प्राक्कथन में उन्होंने लिखा था - 'मेरे लिए निबन्ध एक दुनिया की चीज जै, कहानियाँ दूसरी दुनिया की किन्तु कभी कभी उन पहाड़ों को देखते हुए दोनों की सीमाएं एक दूसरे में घुल जाती थी।" यहीं प्रूस्त के हवाले से उन्होंने इन दो दुनियाओं की पहचान बतायी हैः "हमारे सामान्य अनुभव समय की दुनिया में होते हैं, लेकिन ध्यान और रमृति के क्षणों में दूसरी दुनिया की भी झलक मिल जाती है।।" (पृ. 12) इन दो दुनियाओं का अन्तर काल ओर कालातीत का यानीसमय और शाश्वत का, अनुभव की भापा में सन्देह और आस्था का अन्तर है। इन दो छोरों के घात-प्रतिघात को, इनसे उत्पन्न तनाव को झेलना लेखकीय नियति भी है। और शायद सृजनात्मक क्षण का सर्वोत्तम रूप भी है। एक से दूसरे में संक्रमित होने का विकल्प भी उसके पास है - जीवन में भी और रचना में भी । निर्मल का अधिकांश चिंतन इस कशमकश की उपज है। एक साथ समय में और

समयातीत होने के तनावपूर्ण अनुभव को झेलते और रचते रहने की अनवरत प्रक्रिया । जब इन दोनों चेतनाओं को समतोल एहसास व्यक्ति को एक ही समय में होता है तभी यह एपिक -संस्कार के सबसे निकट होता है और महाकाव्य की रचना का जोखिम उठाता है।

निर्मल की दृष्टि में भारतीय साहित्य की समस्या है - "बने बनाये, वैचारिक रहस्यीकरणों और नैतिक पूर्वाग्रहों के सारे बोझ से मुक्त होने की, जिसनेकि कलात्मक कल्पना को प्राणवान बनाने वाली मूल प्रेरणा को हीं कुण्ठित कर दिया है।" (वही, पृ. 21)

निर्मल का सारा चिन्तन सृजन प्रक्रिया पर केन्द्रित है। उनके लिए "बाहर की कोई भी घटना, चाहे वह ऐतिहासिक रूप से कितनी ही क्रान्तिकारी क्यों न हो, लेखक को उस समय तक परेशान नहीं करती। (अपने सृजन में) जब तक वह घटना स्वयं उसकी सृजन प्रक्रिया की अनिवार्य शर्त न बन जाये।" (शब्द और स्मृति, पृ. 33)सृजन के बाद कलाकृति की स्वायत्तता के बारे में निर्मल का कहना है कि 'एक बार जन्म लेने के बाद हर कला कृति की अपनी एक अलग जिन्दगी हो जाती है। कलाकार और उसके सन्दर्भ से सर्वथा मुक्त स्वय अपनी शर्तों पर आधारित (वही, पृ. 33)। निर्मल का सारा चिन्तन इन्हीं सूत्रों से परिचालित होता है। कहने के लिए विचार का फलक काफी व्यापक है - सौन्दर्य, नैतिकता, लेखकीय आस्था, सम्प्रेषण का संकट , समाज व्यवस्था, प्रासंगिकता का प्रश्न, परम्परा और इतिहास बोध, मिथक और यथार्थ, काल और सृजन, धर्म, धर्मतंत्र और राजनीति से लेकर भारतीय संस्कृति को जीवित रखे की जरूरत तक बहुत कुछ इस विचार-परिधि के भीतर आ गया है। पर प्रश्न विषयों की व्यापकता का नहीं है बल्कि यह कि आप केन्द्र में खड़े व्यापकता को आलोकित कर रहे हैं या व्यापकता के केन्द्रोन्मुख कर रहे हैं। निर्मल का मार्ग दूसरा है। वे तमाम प्रश्नों की सार्थकता और प्रासंगिकता उनकी केन्द्रीयता यानी सृजन कर्म की सापेक्षता में देखते हैं । व्यापक सामाजिक प्रक्रिया से जुड़ने का अर्थ उनकी दृष्टि में है - जहाँ मनुष्य स्वयं इतिहास का अतिक्रमण करके अपने से मुक्त हो सकता हो' (कला का जोखिम, पृ. 23) ।

सर्जक व्यक्ति से आरम्भ करके अतिक्रमण की उन सीमाओं में सामुदायिकता/सामाजिकता या फिर मुक्ति का बोध (या अबोध) जो अमूर्त रहस्यवादिता का स्पर्श करती हो चिन्तन की ऐसी दिशा है जिससे सहमति कठिन है। इसके बावजूद निर्मल ने बराबर अपने पक्ष विपक्ष में सोचने की मजबूरी पैदा की है। कुछ वैसे ही जैसे अज्ञेय ने अपने विरोधियों को कभी यह सुविधा नहीं दी कि वे उनकी उपेक्षा कर सके। निर्मल ने भी स्वयं केन्द्र में रहते हुए सहमति-असहमति दोनों स्थितियों में तीखी प्रतिक्रियाओं को प्रेरित किया।

इसके अलावा उन्होंने अपने समय के प्रमुख रचनाकारों की अत्यन्त प्रभावी समीक्षाएं लिखीं।

इन समीक्षाओं में ध्यान देने की बात रचनाकारों का चुनाव तो है ही, उस मूल विशेषता का संकेत भी है जो एक ही समय में स्थित इन साहित्यकर्मियों की निजी पहचान बनाती है। रेणु में उन्हें 'समग्र मानवीय दृष्टि ' दिखायी पड़ी तो अज्ञेय में 'आधुनिक बोध की पीड़ा'। मुक्तिबोध की कविता के मुकाबले उनकी 'गद्य कथा' पर लिखना निर्मल को ज्यादा रूचिकर लगा, तो भी इस बात का एहसास बराबर बना रहा कि मुक्तिबोध का पूरा काव्यलोक उनकी दृष्टि में मौजूद है। इसलिए निष्कर्षों में मुक्तिबोध समग्रता में विद्यमान है ष 'कहानी में जो बर्फ की तरह जमा दिखायी देता है - कविता में वही बिजली के करण्ट सा बहता हुआ मुक्तिबोध की समूची अन्तर्यात्रा को आलोकित कर देता है ।' (कला का जोखिम, पृ. 90)।

निर्मल की इन समीक्षाओं में प्रकट होने वाली समझ उन दर्जनों आलोचनात्मक लेखों की तुलना में वाही विवेकपूर्ण और वजनी है जो इन कृतिकारों पर समय-सगय पर लिखे गये।

सम्प्रति हिन्दी आलोचना अपनी नातिदीर्घ ऐतिहासिक यात्रा के बाद अनेक प्रकार की असंगतियों से घिर गई । निस्सन्देह वह हर नये रचनात्मक प्रयास के प्रति निरन्तर जागरूकता का दायित्व निभाती रही है, किन्तु इस प्रक्रिया में समसामयिकता का आग्रह अधिक प्रबल हो गया है। आज के युवा आलोचक समसामयिक लेखन से इतने आक्रान्त हैं कि उनकी दृष्टि सुदूर अतीत के लेखकों पर एकदम नहीं और निकट अतीत के लेखकों पर बहुत कम जाती है। । ऐसा लगता है कि आज के आलोचक को अपने पूर्ववर्ती साहित्य के पुर्नमूल्यांकन के लिए अवकाश ही नहीं है। परम्परा से ऐसा सम्बन्ध विच्छेद हिन्दी आलोचना के इतिहास में पहले कम ही हुआ है। स्वभावतः इससे हिन्दी आलोचना के विकास को धक्का लगा है। आज की आलोचना में व्यापक परिदृश्य बोध का स्पष्ट अभाव दिखाई पड़ता है। रोजमर्रा की पुस्तक-समीक्षाओं ने अधिकांश आलोचना कर्म को कोरी व्यावहारिक समीक्षा के रूप में निःशेष कर दिया है, फलस्वरूप आज साहित्य के सैद्धान्तिक प्रश्नों में उलझने का उत्साह बहुत कम दिखाई देता है । इस प्रकार एक ओर सैद्धान्तिक आलोचना का मैदान अपने आप 'एकेडेमिक' आलोचकों के हाथ जा पड़ा है जहाँ वे प्रासंगिकता की परवाह किए बिना काव्यशास्, सौन्दर्य आदि की शास्त्रीय चर्चाओं से भरे भारी भरकम ग्रन्थों के द्वारा हिन्दी आलोचना को समृद्ध करने के लिए पूरी तरह स्वतंत्र है। दूसरी ओर इतिहासकारों और समाजशास्त्र के विद्वानों में साहित्यिक रचनाओं का उपयोग स्रोत सामग्री के रूप में करते हुए साहित्य में मूल्यांकन की नयी दिशाएँ प्रस्तावित की हैं। मध्यकालीन काव्य के संदर्भ में इतिहास के सुविख्यात विद्वान इरफान हबीव और हरबंस मुखिया का नाम उल्लेखनीय है।

आधुनिक उपन्यास साहित्य और उसमें भी विशेष रूप से प्रेमचंद के साहित्य का उपयोग प्रसिद्ध अर्थशास्त्री पूरन चन्द्र जोशी ने अपनी पुस्तक 'परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम' (1987 ई.) में, और श्यामचरण दुबे ने 'परम्परा इतिहास-बोध और संस्कृति' (1991 ई.) में किया है। यह आकस्मिक नहीं है कि दोनों की दिलचस्पी प्रेमचंद के साहित्य में है क्योंकि दोनों का आग्रह ग्रामीण समाज-व्यवस्था को समझने पर है और भारतीय ग्राम-जीवन और संबंधों का जितना अनुभवगम्य प्रामाणिक रूप प्रेमचन्द के उपन्यासों के माध्यम से सुलभ है शायद ही किसी दूसरे स्रोत से होता।

इन समाजशास्त्री आलोचकों का महत्त्व हिन्दी आलोचना को एक नया परिप्रेक्ष्य और पद्धति देने की दृष्टि से है। इस सन्दर्भ में विश्वनाथ त्रिपाठी का उल्लेख भी आवश्यक है। अन्य रचनाओं के अलावा उन्होंने तुलसीदास और हरिशंकर परसाई पर जिन आलोचनात्मक पुस्तकों की रचना की उनका महत्त्व वस्तुवादी दृष्टि और सामाजिक सन्दर्भों से जोड़कर साहित्य का अध्ययन करने की पद्धति से विशेष है।

उसके बावजूद हिन्दी आलोचना का सबसे जीवंत पक्ष काफी समय तक सनसनीखेज पत्रकारिता का शिकार रहा है। कुछ अपवादों को छोड़कर हिन्दी भाषा का कोई निश्चित चरित्र नहीं बन पाया है। मूल्यांकन के मानदण्डों और पद्धतियों की दृष्टि से भी पर्याप्त अराजकता है; किन्तु इसी स्थिति ने नए प्रयोगों और पद्धतियों की तलाश के लिए जमीन तैयार की है। तमाम उथल-पुथल के बावजूद यह देखकर आश्वस्त हुआ जा सकता है कि कुछ आलोचक स्वयं आलोचना-कर्म के प्रति नये सिरे से आत्मसजग होने लगे हैं और यह आत्मसजगता असंदिग्ध रूप से सम्भावनापूर्ण है।

# 14. हिन्दी

डॉ. मलिक मोहम्मद

## 'हिन्दी' शब्द का उदभव

भारत देश के वासी इस देश को आर्यों के नाम पर 'आर्यावर्त' तथा भरत (प्रसिद्ध मुनि अथवा सम्राट दुष्यन्त-पुत्र) के नाम पर 'भारत' कहते आ रहे है। बाहर के लोगों के लिए किसी दूसरी दिशा से भारत में पैदल आना कठिन था, क्योंकि पश्चिम दक्षिण और पूरब में महान सागर हैं और उत्तर में गगनचुम्बी हिमालय पर्वतमाला । दूसरे देशों से उत्तर पशिचम कोण से आने वाले लोग सिन्धुनदी की महानता के कारण इसके चारों ओर की भूमि को सिन्धुस्थान कहने लगे।

बड़े नामों के उच्चारण में अधिक काल और श्रम से बचने के लिए अथवा प्यार (या अवज्ञा) से लोग उसका केवल पहला ही या पिछला ही खण्ड रखते हैं, शेष को छोड़ देते हैं,. जैसे रामचन्द्र को राम, शशिभूषण को शशी मात्र कहते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी राज 'पिथ्रोरा' बन गए थे। इसी प्रवृत्ति से रेलगाड़ी को रेल, मोटरगाड़ी को माटर, ऐरोप्लेन को प्लेन, यूनिवर्सिटी को वर्सिटी, उत्तरदायित्व को दायित्व तथा 1972 को 72 ही बोलते है। इसी प्रकार धीरे धीरे सिन्धुस्थान की जगह 'सिन्धु' भी बोला जाने लगा।

अन्त में हस्व 'इ' 'उ' का उच्चारण स्वराधात के आधिक्य से गुरू बर कर 'ई' या 'ऊ' बन जाता है, जैसे रश्मि से रस्सी, अश्रु से ऑसू बाहु से बाजू आदि और स्वराघात रहित होने पर अतिलघु बनकर 'अ' - सदृश हो जाता है, जैसे रात्रि से रात, पंक्ति से पाँत, बाहु से बाँह, बिन्दु से बूँद आदि । इसी भाँति सिन्धु से सिन्ध बन गया।

पश्चिम में स का उच्चारण ह (भी)होता है जैसे अस्ति से (अहइ-हइ-) है, एक सप्तति से इकहत्तर और एकादश से ग्यारह बन जाता है। इस प्रवृत्ति (घोषीभाव) से 'स' का 'ह' होने, तथा महाप्राण के अल्पप्राण में परिणत होने (अल्पप्राणीभाव) की प्रवृत्ति से 'घ' के 'द' में और 'य' के 'त' में परिणत हो जाने से क्रमशः सिन्धुस्थान का उच्चारण हिन्दुस्तान और सिन्ध का उच्चारण हिन्द होने लगा। ये दोनों प्रवृत्तियाँ परिनिष्ठित संस्कृत में भी थी यह स्वयं पाणिनि ने घोषित किया है।

इस प्रकार एक ही मूल शब्द 'सिन्धु' का एक रूप सिन्ध' पास के जनपद के लिए दूसरा

1. अष्टध्यायी -(क) 7-4-54, जैसे वर्तमान का मध्यम पुरूष एकवचन 'सि' अथवा लोट में 'हि' बनता है, यासि-याहि (अष्टध्यायी 3-4-87) वैसे ही सिन्ध का 'सि' 'हि' बन गया। गलबन्ध का 'ध' गलाबनद (गुलबन्द) में 'द' बनता है वैसे ही सिन्ध का 'ध' भी 'द' बना।

रूप 'हिन्द' पास के देश के लिए तथा तीसरा रूप 'हिन्दू' या 'हिन्दु' इस देश में बसने वाले लोगों के लिए व्यवहृत होने लगा। एक शब्द में ही ध्वनिभेद से अर्थभेद या अर्थभेद से ध्वनिभेद के उदाहरण पर्याप्त मिलते हैं, जैसे 'पर्ण' से पन्ना तथा पान, पृष्ठ से पीठ तथा पटठा आदि ।

हिन्दी का अर्थ

हिन्द से ही हिन्दी बना है, हिन्दी का अर्थ है हिन्द का। जैसे बिहार से बिहारी, चीन से चीनी दोनों को कहते हैं, वहाँ की भाषा को भी और निवासी को भी, वैसे हिन्दी के भी दोनों अर्थ हैं, हिन्द की भाषा तथा हिन्द का वासी। परन्तु जिस प्रकार हिन्द के सभी लोग हिन्दी कहलाते हैं, चाहे वे बिहारी हों या मद्रासी, हिन्दू हों या मुसलमान इस प्रकार हिन्द की सब भाषाएँ हिन्दी नहीं कहलाती, 'हिन्दी' शब्द हिन्द की केवल एक भाषा के रूढ़ हो गया है।

विश्व की भाषाएँ तथा हिन्दी का परिवार

संसार में बड़ी या छोटी प्रायः पौने तीन हजार भाषाओं का पता लगा है। इनमें से लगभग ढाई हजार पिछड़े समाज में बोली जाती है। साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से इनका महत्व शेष से बहुत कम है। अतः अब तक इनके अध्ययन और वर्गीकरण का पूरा प्रयास ही नहीं किया गया है । जिन में बहुत या थोड़ा साहित्य उपलब्ध है, ऐसी भाषाएँ, विस्तृत अध्ययन, विश्लेषण के द्वारा प्रायः 12 से 18 तक 'परिवारों' में विभाजित की गई हैं। इन सबों में 'भारत यूरोपीय' या 'आर्य' परिवार औरों से वाही अधिक महत्वपूर्ण है। संस्कृत, अवेस्तिक, फारसी, ग्रीक, लेटिन, जर्मन, फ्रेंच,इंगलिश, रूसी आदि संसार की प्राचीन तथा समृद्ध भाषाएं इसी परिवार की हैं, हिन्दी भी इसी कुल की शोभा बढ़ाती है। इस कुल की सभी भाषाओं की माँ 'मूल आर्यभाषा' से ही संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के सोपानों से आगे बढ़ती हुई यह आज हिन्दी के रूप में विकसित हुई है।

वाक्य रचना की दृष्टि से संसार की भाषाएं मुख्यतः अयोगात्मक और योगात्मक दो श्रेणियों में बांटी जाती है। इन्हें ही स्थूल रूप से क्रमशः विश्लेषणात्मक और 'संश्लेषात्मक' भी कहते हैं। यद्यपि कोई भी भाषा न तो पूर्णतः अयोगात्मक होती है, न योगात्मक, परन्तु जिसमें जिसके धर्म या लक्षण अधिक रहते हैं वह उस श्रेणी में मानी जाती हैं। चीनी, तिब्बती, बर्मी, सूडानी आदि भाषाएँ सर्वाधिक अयोगात्मक हैं, और एस्किमों, बास्क, अरबी, आदि सर्वाधिक योगात्मक। पर यह रचना-पद्धति स्थिर नहीं रहती। भाषाएँ धीरे धीरे अयोगात्मक

से योगात्मक और योगात्मक से अयोगात्मक होती रहती हैं। मूल 'आर्य' या 'भारतीय' (भारत-यूरोपीय) भाषा, वैदिक या लौकिक संस्कृत प्राय: योगात्मक भाषा थी, पर परिवर्तित होती है उसकी एक वर्त्तमान शाखा हिन्दी प्राय: अयोगात्मक हो गई है। संस्कृत में बुद्धि: विद्याम् अपेक्षते (बुद्धि विद्या को चाहती है) तथा बुद्धिम् विद्या अपेक्षते (बुद्धि को विद्या चाहती है), में शब्द-क्रम एक रहने पर भी रूप-विकार से अर्थभेद स्पष्ट हो गया। हिन्दी में यह अर्थभेद क्रम-परिवर्त्तन की सहायता से करेंगे। 'बुद्धि विद्या (को) चाहती है', तथा 'विद्या बुद्धि (को) चाहती है'। संस्कृत में कारक और काल का बोधन भी संश्लिष्ट पद्धति से होती है, हिन्दी में विश्लिष्ट पद्धति से, जैसे पित्रा भ्रातृ-पुत्रा: अदृश्यन्त-पिता ने भाई के पुत्रों को देखा था आदि। इस प्रकार हिन्दी प्राय: विश्लेषात्मक भाषा है।

परन्तु हिन्दी में अनेकत्र संश्लेष की परम्परा आज भी वर्तमान है। जैसे-

(1) कारक बोधन के लिए – मैं+का = मेरा, मै+को = मुझे; उस+को = उसे आदि

(2) वचन बोधन के लिए - लड़का+बहुवचन -लड़के; नदी+बहुवचन -नदियाँ,
बहू+बहुवचन=बहुएँ, पढ़ता+बहुवचन-पढ़ते,
पढ़ा+बहुवचन-पढ़े; पढ़े+बहुवचन-पढ़े,
कैसा+बहुवचन-कैसे, मेरा+बहुवचन-मेरे,
अच्छा+बहुवचन-अच्छे, वह+बहुवचन-वे आदि।

(3) लिंग बोधन के लिए - लड़का+स्त्री.-लड़की; आया+स्त्री.-आयी,
अच्छा+स्त्री.-अच्छी, मेरा+स्त्री.-मेरी; कैसा+स्त्री.-कैसी
आदि।

(4) पुरुष बोधन के लिए - आना+प्रथमपुरुष आज्ञा-आवे; आना+मध्यमपुरुष
आज्ञा-आओ। आना+उत्तमपुरुष आज्ञा-आऊँ।
होना+प्रथमपुरुष वर्त्तमान-है; होना+मध्यमपुरुष वर्त्तमान-हो;
होना+उत्तमपुरुष वर्त्तमान-हूँ आदि।

(5) कालबोधन के लिए - पढ़+वर्त्तमान-पढ़ता; पढ़+भविष्यत्-पढ़े; पढ़+भूत-पढ़ा आदि।

संसार के विशालतम प्रजातन्त्र राष्ट्र तथा अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण देश भारत की राष्ट्रभाषा होने से आज हिन्दी का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है।

भाषा के तीन रूप - किसी भी देश और काल में किसी भी समृद्ध भाषा के स्थूलतः तीन रूप रहते हैं, (क) लोक भाषा (=जनपद भाषा=अशिक्षित अर्ध शिक्षित लोगों की सहज स्वाभाविक उच्चरित भाषा), (ख) शिष्ट भाषा (नागरिक भाषा, सुशिक्षित लोगों की परिष्कृत, मंजी, संवरी, वार्तालापीय भाषा), और (ग) साहित्यिक भाषा (लिखित, अलंकृत संक्षिप्त, अर्थगर्भित, पुस्तकीय भाषा)।

इनमें परस्पर अन्तर के कारण

(क) शुद्धता - जनसाधारण की, अशिक्षितों, शूद्रों, स्त्रियों और बालको की पारस्परिक व्यवहार- साधक बोली में रचना की बहुत सी त्रुटियाँ रहती हैं, क्योंकि इन लोगों का भाषा पर अधिकार नहीं रहता। ये टूटी फूटी भाषा में किसी प्रकार अपना अभिप्राय मात्र प्रकट कर लेने की क्षमता तथा प्रवृत्ति रखते हैं। इनकी संगति से अर्धशिक्षित लोग भी कुछ अशुद्ध प्रयोग या रचना सुनते सुनते स्वयं भी वैसा ही प्रयोग करने के अभ्यासी बन जाते हैं। इस प्रकार की अशुद्धियाँ जब जन साधारण में स्थायी स्थान पा जाती है, तब शिष्ट जन वार्तालापीय भाषा में निरन्तर श्रवण के प्रभाव से स्वयं भी अनवधान वश यदा-कदा इंनका प्रयोग करने लगते हैं। तीसरी छलांग में ये साहित्यिक भाषा में भी, विशेषतः प्रगतिवादियों की, तथा नाटकों की पहुँच जाती हैं। 'वाराणसी' 'पण' आदि शब्दों के ग्राम्य विकृत रूप 'बनारस' 'प्रण' आदि शिष्ट भाषा में स्थान पा चुके हैं, पर 'लखनऊ' का 'नखलऊ' 'शाप' का 'श्राप' आदि नहीं। 'क्षत्रिय' का 'खत्री' रूप अर्थविशेष में शिष्ट सम्मत हो चुका है, 'छत्री' रूप नहीं। कोई भी देशज, अनुकरणार्थक या नया शब्द पहले वार्तालाप में स्वीकृत होता है, तब पुस्तक में। सुशिक्षितों की भी वार्तालापीय भाषा में कुछ न कुछ अशुद्धियाँ हो जाती हैं, बोलने के समय शीघ्रता में उन्हें सुधारने का अवसर नहीं रहता। परन्तु लिखते समय एकाग्रता अधिक रहती है। समय भी अधिक रहता है, तथा सबसे बड़ी बात यह कि दुहरा कर देखने पर अशुद्ध प्रयोग को काट कर शुद्ध कर लेने की सुविधा रहती है। कोश व्याकरण आदि देख कर संदेह दूर कर लेने का अवसर रहता है। अर्धशिक्षित कहते हैं, 'अवर (या अब की बार) हम देखा। सुशिक्षित बोलते हैं "इस बार हमने देखा" "साहित्यिक लिखते हैं "इस बार मैंने देखा" । जनपद भाषा वहाँ तक अशुद्ध प्रयोग सह लेती है, जहाँ तक वह अबोध्य, दुर्बोध्य या उपहासास्पद नहीं हो जाती।

(ख) शब्द-संख्या - जनपद भाषा में शब्दों की संख्या कम रहती है, क्योंकि जन-साधारण के पास भाव भी कम रहते हैं, और भाव-प्रकाशन -क्षमता भी। सुशिक्षितों के वार्तालाप के

विषय जनसाधारण से अधिक व्यापक और गम्भीर होते हैं, उनमें शब्द-निर्माण-क्षमता भी अधिक रहती है, इसीलिए उनकी भाषा में, शब्दकोष में अधिक शब्द रहते हैं। पुस्तकों की, साहित्य की, भाषा में शब्दों की संख्या बहुत बढ़ जाती है, क्योंकि उसकी भाषा का विषय सर्वाधिक विस्तृत और गंभीर हो जाता है, प्रयोग का देश-काल बहुत व्यापक हो जाता है। उद्देश्य और साधन भी अधिक रहते हैं।

(ग) व्यापकता – लोक भाषा में क्षेत्र या अधिक रहती है। शिष्ट भाषा उससे व्यापक होती है। साहित्यिक भाषा देश तथा काल दोनों में और भी अधिक व्यापक होती है। उसमें क्षेत्रीय प्रवृत्तियों का समादर नहीं होता; विभिन्न देश कालों के निष्ठ शब्दों, विवरणों रचनाओं को ही मान्यता प्राप्त होती है। साहित्यिक परिनिष्ठित भाषा में जब कोई एक क्षेत्रीय प्रयोग किया जाता है तब दूसरे क्षेत्र के लोगों को यह अप्रिय भी लगता है, अपरिमत भी। इसे ग्राम्यता दोष कहते हैं। 'तरकारी' की जगह 'सब्जी', 'भींजना' की जगह 'भीगना'' आदि अधिक परिष्कृत माने जाते हैं। लोकभाषा के रूप में हिन्दी या खड़ी बोली का एक रूप केवल उत्तर प्रदेश के एक भूखण्ड में बोला जाता है। शिष्ट भाषा के रूप में खड़ी बोली भारत में व्यापारियों, सैनिकों, पर्यटकों, साधुओं तथा विद्वानों में अन्तर-राज्यीय भाषा के रूप में अपनाई जा रही है। साहित्यिक भाषा के रूप में तो यह क्रमशः सारे संसार में समादृत हो रही है।

(घ) स्थिरता – साहित्यिक भाषा में अधिक स्थिरता रहती है, क्योंकि यह लिपिबद्ध हो जाती है। शिष्टों की वार्त्तालापीय भाषा भी व्याकरणानुगामिनी होने से कुछ स्थिर रहती है, परन्तु जनभाषा में देश-काल के थोड़े अन्तर से भी अधिक परिवर्तन हो जाता है। शिष्ट तथा साहित्यिक भाषा परिवर्तन को जल्दी नहीं अपनाती।

(ङ) शैली – उच्चरित और लिखित भाषाओं की शैलियों में परस्पर अन्तर स्पष्ट है। लोकभाषा नग्न तथ्य मात्र कहती है, वह ग्रामवासिनी रहती है, उसमें न तो भारी भरकम शब्द प्रयुक्त होते हैं, न लम्बे वाक्य, न क्लिष्ट रचना। शिष्ट भाषा अपने को सजा संवार कर, क्रम ठीक कर, लिंग वचन को सुधार कर सुन्दर बन जाती है। उसमें कुछ कठिन शब्द या रचना भी चल जाती है। वह नगरवासिनी बन जाती है। साहित्यिक लिखित भाषा अन्यूनानतिरिक्त परिधान धारण कर, अलंकृत-परिष्कृत बन कर, आह्लादक, प्रभावोत्पादक हो जाती है और यदि वह काव्यात्मक हो गई, तब तो बन ठन कर, नयी-नयी रूप-सज्जा से सँवर कर, मोहिनी-मूर्त्ति धारण कर लेती हैं जनपद-भाषा भाषा-नायिका का घरेलू रूप है, शिष्ट-भाषा, पास-पड़ोस में निकलने वाला, लिखित भाषा, शहर-बाजार, मेला-ठेला में जाने वाला तथा काव्य भाषा अभिनय-मंच पर उतरने वाला। किन्तु चतुर आँखें देखते ही

भाँप लेती हैं कि विविध रूपों में, भिन्न-भिन्न परिधानों में, दिखने वाली नायिका वास्तव में एक ही है।

## भारत की प्राचीन भाषा

बहुत पहले ऋग्वेद-रचना काल में भी आर्यावर्त्त की भाषा के ये ही तीन रूप थे। भारत की होने से इस भाषा का नाम 'भारती' पड़ा था और संस्कार-परिष्कार-युक्त होने से 'संस्कृत''। इस भाषा को बोलने, समझने वाले अपने को पृथ्वी पर सर्वाधिक सभ्य, संस्कृत देखते, समझते थे इसलिए वे अपने को 'आर्य' और 'देव' तथा इस भाषा को 'आर्यभाषा' और 'देव-भाषा' कहते थे। उस समय चूँकि काव्य-निर्माण प्राय: पद्य या छन्द (छन्दस्) में ही होता था, इसलिए साहित्यिक संस्कृत का नाम ही 'छन्दस्' था। परन्तु ज्यों-ज्यों साहित्य निर्माण पद्य की भाँति गद्य में भी होने लगा, त्यों-त्यों छन्दस् से काव्य-मात्र का ग्रहण होने लगा, चाहे वह पद्यात्मक हो या गद्यात्मक। यजुर्वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् का बहुत सा भाग गद्यमय ही था। इस प्रकार धीरे-धीरे उस समय का समस्त लिखित वाङ्मय, जो केवल वैदिक साहित्य ही था, काव्य[1] या छन्दस् कहा जाने लगा। परन्तु पद्य की भाषा स्पष्ट ही गद्य की भाषा से अधिक निकट क्लिष्ट तथा अलंकृत थी। पाणिनि ने संभवत: संहिताओं की भाषा के लिए "मन्त्र'' मन्त्रात्मक पद्य के लिए 'ऋक्', मन्त्रात्मक गान के लिए 'साम', मन्त्रात्मक गद्य के लिए 'यजुष्'' और पूरे वैदिक साहित्य की भाषा के लिए "निगम'' तथा "छन्दस्'' शब्दों का प्रयोग किया है। वैदिक काल में चूँकि एक मात्र प्राप्त साहित्य वैदिक वाङ्मय की भाषा (वैदिक संस्कृत) का ही रूप स्थिर हो पाया था, वार्त्तालापीय शिष्ट भाषा (लौकिक संस्कृत) का नहीं, अत: प्रातिशाख्यों ने केवल वैदिक संस्कृत का ही अध्ययन-विश्लेषण किया।

पाणिनी काल में शिष्टों की वार्त्तालापीय लौकिक संस्कृत भाषा का भी रूप प्राय: स्थिर होने लगा था। यह प्रक्रिया पाणिनि के बाद भी कात्यायन और पतंजलि तक चली, इसीलिए संस्कृत व्याकरण में तीनों प्रमाण माने जाते हैं। पाणिनि ने इसे "भाषा'' कहा है। "भाषा' का शब्दार्थ है, जो बोली जाए। अर्थात् पाणिनि ने जिस भाषा का व्याकरण लिखा है, वह वास्तव में उस समय जनता में बोली जाती थी। तुलसीदास ने अपने रामचरित मानस को ''भाषा-निबन्ध'' कहा है, "भाषा-निबन्ध मतिमंजुलमातनोति'', "भाषाबद्ध करब मैं सोई''। अर्थात तुलसी ने अपनी रामायण अपने देश और काल में बोली जा रही भाषा (अवधी) में लिखी ताकि आ-पामर जनता उसे समझ सके। परन्तु पाणिनि ने मुख्यत: रोकभाष का व्याकरण लिखते हुए भी जहाँ छन्दस् में कुछ अन्तर पड़ता है, वहाँ तुलना

---

[1] वसुधा देवस्य काव्यं न समार न जायति'' अर्थात देखो यह देवों का काव्य, जो न कभी नष्ट होता है, न पुराना पड़ता है (श्रुति)।

के लिए उसकी चर्चा कर दी है। लोकभाषा में भी जो प्राच्य, प्रतीच्य उदीच्य क्षेत्रों की बोलियों में अन्तर थे, जिन्हें आर्यभाषा (दिवभाषा) में मान्यता प्राप्त हो चुकी थी, उन्हें पाणिनि ने बता दिया है। इस प्रकार पाणिनि ने संस्कृत भारती का मुख्यत: दो स्तम्भों में विश्लेषण किया है, भाषा (शिष्ट वार्त्तालापीय) और छन्दस् (साहित्यिक)। उस समय परिनिष्ठित मानक संस्कृत के ये ही दो भेद थे, "छन्दस्'' संस्कृत का पुराना पुस्तकमात्र-सीमित साहित्यिक रूप था, और "भाषा'' तात्कालिक परस्पर-व्यवहार में प्रयुक्त रूप । पतंजलि ने महाभाष्य में बताया है कि पाणिनि ने 'अपभाषाओं' या 'अपभ्रंशों', अर्थात् अर्धशिक्षितों की विभिन्न जनपदीय बोलियों से 'भाषा' अर्थात् शिष्ट, मानक (संस्कृत) भाषा का अन्तर दिखाया है। यह ध्यातव्य है कि पाणिनि ने स्वयं इसे 'संस्कृत' कभी कहीं नहीं कहा है। उन्होंने 'संस्कृत'' अन्न की चर्चा की है, 'संस्कृत' वाणी की नहीं । परन्तु बाद के लोगों ने उस भाषा को भी अन्नवत् परिष्कृत देख कर संस्कृत (संस्कारयुक्त) कहना आरम्भ किया, जो क्रमश: विशेषण से अधिक रूढ़ संज्ञा बन गया। पाणिनि ने बताया है कि उस समय की मानक शिष्ट भाषा में केवल 'गौ:' को मान्यता प्राप्त थी। अपभाषा को 'म्लेच्छभाषा' और 'अपभ्रंश' भी कहते थे। इसे ही उस समय की पहली प्राकृत भाषा समझ सकते हैं। 'प्राकृत' अर्थात् साधारण, प्रकृति के अनुयायी, आत्म-परिष्कार से प्रकृति को नियन्त्रित नहीं कर पाने वाले जनों की 'प्राकृत' अर्थात् स्वच्छन्द अपरिष्कृत भाषा। तुलसी ने कहा है "कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछताना'' पतंजलि ने इस मानक भाषा को आर्य-भाषा कहा है, और उससे 'अपभ्रंश' (अपभाषा-उपभाषा-क्षेत्रीय बोली-प्रथम प्राकृत) में तीन निम्नलिखित अन्तर बताए हैं।

(क) **पर्याय-भेद या पर्यायापभ्रंश** – किसी भी पदार्थ के लिए आर्यभाषा में एक मानक पर्याय होता था, उससे मिलते-जुलते अनेक प्रतिशब्द अपभ्रंशों अर्थात् क्षेत्रीय भाषाओं में विकसित और प्रचलित हो जाते थे; जैसे एक मानक शब्द 'गो' या 'गौ' के लिए गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अप्रभंश या प्राकृत शब्द विभिन्न क्षेत्रों में चल रहे थे।

(ख) **उच्चारण भेद या उच्चारणापभ्रंश** – अक्सर ऐसा भी होता था कि अपभ्रंश या प्राकृत भाषा में संस्कृत के ही मूल शब्द का प्रयोग रह जाता था, परन्तु उसका उच्चारण परिवर्त्तित हो जाता था। जैसे 'हिऽरय:'' 'पलाश:' 'शश:' 'मञ्चक:' आदि संस्कृत प्रयोगों का प्राकृत जन हिऽलय:' 'पलाष :' 'शष:' 'मञ्जक:' आदि उच्चारण करते थे। संस्कृत "क्षमा'' को ही बंगाली लोग 'क्खमा' कहते हैं। बिहारी 'छमा'।

(ग) **अर्थभेद या अर्थापभ्रंश** – किसी शब्द का मानक भाषा में दूसरे अर्थ में प्रयोग होता था, और क्षेत्रीय या प्राकृत भाषाओं में दूसरे अर्थ में जैसे आर्यभाषा में 'शव' का अर्थ था

निष्प्राण शरीर, लाश, परन्तु कम्बुज प्रदेश में 'शवति' का अर्थ था जाता है। 'राग' शब्द का अर्थ संस्कृत में अनुराग है बंगला में क्रोध (अर्थात द्वेष), 'रंज' फारसी में दुःख पछतावा को कहते हैं, भोजपुरी में अप्रसन्न, क्रुद्ध को, संस्कृत का क्षोभ (मानसिक उद्वेलन) अवधी आदि में छोह (कृपा, 'करहु सदा रघुनायक छोहू') बन गया है।

पतंजलि ने बताया है कि "जाता है" के लिए आर्य लोग "गच्छति" का प्रयोग करते हैं, सुराष्ट्रवादी प्राकृतजन 'हम्मति' बोलते है।, प्राच्य मध्य भारतीय जन 'रहित' कहते हैं, कम्बोजवासी शवति"। पतंजलि के उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत उस समय समस्त आर्यावर्त की, आर्यों की जनता की परिनिष्ठित वार्तालापीय शिष्ट भाषा थी। यह भ्रम है कि संस्कृत केवल पुस्तकीय साहित्यिक भाषा या केवल विद्वान ब्राह्मणों की भाषा थी। यदि ऐसी बात होती तो पाणिनि इसके लिए "भाषा" शब्द का प्रयोग नहीं करते, और उसमें प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य बोलियों का अन्तर नहीं दिखाते। पतंजलि यह नहीं लिखते कि एक ही "जाता है" अर्थ की प्रतीति कराने के लिए देश के विभिन्न भागों में भिन्न भिन्न धातुओं का प्रयोग होता है, तथा एक ही गौः शब्द के भिन्न भिन्न बोलियों में भिन्न भिन्न विकृत रूप प्रयुक्त होते हैं।

इस प्रकार हिन्दी, अंग्रेजी आदि किसी भी विकसित भाषा के जैसे तीन रूप होते हैं; वैसे संस्कृत के भी तीन रूप चलते थे (क) छन्दस या साहित्यिक लिखित भाषा, (ख) भाषा या नागरिक, शिष्ट वार्तालापीय मानक (स्टैंडर्ड) राष्ट्रीय भाषा तथा (ग) अपभ्रंश या विभिन्न क्षेत्रीय बोलियाँ (उस समय की प्रथम प्राकृतें )। पाणिनि ने अपने व्याकरण में स्पष्टतः बता दिया है कि इस शब्द या धातु का 'छन्दस' में यह रूप प्रयुक्त होता है और 'भाषा' में यह रूप। पतंजलि ने ठीक ही कहा है कि इस प्रकार प्रकार पाणिनि ने बहुत संक्षेप से यह संकेत दे दिया है कि शेष सभी रूप अपभ्रंश है।

क्षेत्रीयता की दृष्टि से भी भाषा के तीन रूप होते हैं। घरेलू या स्थानीय रूप अपने घर पड़ोस में बोला जाता है और व्यापक या मानक रूप उस भाषा के पूरे क्षेत्र या प्रदेश में व्यवहृत होता है।, सबसे व्यापक उसका साहित्यिक रूप होता है जो उस भाषा प्रदेश के बाहर भी संसार में वाही उसके व्याकरण की सहायता से समझा और बोला जाता है। अंग्रेजी हिन्दी आदि महत्वपूर्ण भाषाओं का यह तीसरा रूप सारे संसार में समझा और बोला जा रहा है।संस्कृत को भी बहुत कुछ यह गौरव प्राप्त रहा है। पालि, मागधी, अर्धमागधी, शोरसेनी, महाराष्ट्री भाषाएं भी इस रूप में अपने मूल क्षेत्र मे बहुत दूर दूर तक व्यवहृत होती रही, इसलिए आज के विद्वानों को यहाँ तक भ्रम हो जाता है कि इनके क्षेत्रीय

नाम शिष्टाचार मात्र हैं। व्याकरण की उपयोगिता भाषा के दूसरे तीसरे रूपों के लिए ही होती है।

एक ही भाषा के इन तीन रूपों में अधिक तत्त्व तो सर्वनिष्ठ ही होते हैं, कम ही तत्त्व एक दूसरे से भिन्न रहते हैं। व्यापक, शिष्ट, नागर, मानक भाषा में साहित्यिक श्रेण्य, प्रवृत्तियों की मुख्यता तो रहती है, परन्तु क्षेत्रीय बोलियों (डायलेक्ट) का प्रयोग भी यत्र-यत्र स्वीकृत रहता है। बल्कि साहित्यिक भाषा में भी जहाँ तहाँ जनपद भाषा के छीटें आ ही जाते हैं। साथ ही विद्वान् लोग अपनी क्षेत्रीय बोलियाँ बोलते समय विद्वत्ता और अभ्यास के कारण उन्हें भी साहित्यिक या शिष्ट भाषा के निकट पहुँचा देते हैं।

इस वैदिक (जानपदिक) प्रवृत्ति ने ही हिन्दी में ड़ और ढ़ को जन्म दिया है। पाणिनि ने परिनिष्ठित संस्कृत में इनकी स्वीकृति नहीं दी है, अपनी वर्णमाला में इनकी चर्चा नहीं की है। हाँ, वैदिक व्याकरणों, प्रातिशाख्यों, में इनकी चर्चा है। हिन्दी के खिंचाव के कारण आज संस्कृत के विद्वान् भी गरुड को गरुड़ और गूढ को गूढ़ कहते हैं, किन्तु यह अपाणिनीय है। परन्तु पश्चिम और पूरब में 'र' 'ल, के उच्चारण-मिश्रण की क्षेत्रीय प्रवृत्ति शिष्ट-भाषा पर ऐसी हावी हो गई थी कि पाणिनि को भी इसकी स्वीकृति देनी पड़ी।

व्यास और वाल्मीकि ने अपने पुराण, महाभारत, रामायण आदि लोक भाषा में ही रचे थे, क्योंकि वेदों की प्राचीन, कठिन, साहित्यक भाषा में व्यक्त धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक शिक्षा उन्हें लोकभाषा में ऐतिहासिक कथाओं के माध्यम से जनता तक पहुँचानी थी, फिर भी इनमें यत्र तत्र छान्दस प्रयोग मिल ही जाते हैं। दो चार छान्दस प्रयोग कालिदास में भी प्राप्त है। इस काल के बाद तो साहित्य का प्रणयन केवल शिष्ट-भाषा संस्कृत में ही होने लगा, यहाँ तक कि शिष्ट-भाषा क्रमशः लोक साहित्य का वाहन बनते बनते एक श्रेण्य साहित्यिक भाषा में परिणत हो गई, जिसमें साहित्य की हर विधा की अगणित रचनाएँ प्राप्त हैं। बल्कि नाटकों में तो अनपढ़ स्त्रियों, बालकों, तथा निचले स्तर के पात्रों से किसी न किसी क्षेत्रीय बोली (प्राकृत) में ही बात कराई गई है, क्योंकि इनसे तो शिष्ट संस्कृत में भी वार्तालाप कराना असत्य एवं अस्वाभाविक होता। इन नाटकों में शिक्षित पात्रों से श्रेण्य संस्कृत तथा अशिक्षित पात्रों से लोक भाषाओं में परस्पर वार्तालाप कराने का अर्थ ही है, कि प्राकृत जन भी शिष्टों की परिनिष्ठित संस्कृत मजे में समझ लेते थे, तथा शिष्ट नागरिक जन भी ग्राम्यों की विभिन्न प्राकृतों को, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार आज भी हिन्दी क्षेत्र में विभिन्न प्रदेशों के अशिक्षित ग्राम्य लोग शिष्टों की खड़ी बोली को मजे में समझ लेते हैं, और नगरों के शिष्ट लोग भी ग्राम्यों की भोजपुरी, अवधी, ब्रज आदि को।

की क्षेत्रीय बोलियाँ हैं, उसी प्रकार शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी आदि भी व्यापक, नागर शिष्ट-भाषा संस्कृत की क्षेत्रीय बोलियाँ थी। चाहे वैदिक छान्दस हो, चाहे लौकिक शिष्ट साहित्यिक, चाहे जनपदीय प्राकृत; सब एक ही व्यापक परिनिष्ठित भाषा संस्कृत के विभिन्न रूप थे।

पाणिनि के समय तक केवल वेद वेदांग उपांग विषयक साहित्य ही उपलब्ध था; जो प्राय: छन्दस् में अन्तर्भूत था, 'भाषा' प्राय: शिष्टों के अन्तर जनपदीय व्यवहार, वार्तालाप मात्र में हो प्रयुक्त होती थी। इसमें साहित्य-निर्माण विरल था, जनपदों की विभिन्न प्राकृतों का लिखित भाषा में प्रयोग तो दूर की बात रही। अत: यह कहना कठिन है कि उस समय की प्रथम प्राकृत भाषाओं का क्या रूप था। छान्दस भाषा में ही कुछ प्राकृत छूटों, उदारताओं की चर्चा की जा चुकी है। परन्तु उस समय की प्राकृतों, शिष्ट मानक लौकिक संस्कृत तथा साहित्यिक छान्दस संस्कृत में इतना कम अन्तर था कि तीनों का मूल एक ही वैदिक या प्राग्वैदिक संस्कृत को मानना उचित है। वास्तव में साहित्यिक या लिखित भाषा, शिष्ट परिनिष्ठित वार्त्तालापीय मानक भाषा तथा जन सामान्य की क्षेत्रीय लोक भाषाएँ परस्पर अधिक भिन्न हो ही नहीं सकती, ये एक दूसरे से सदा आदान-प्रदान करती रहती हैं। यह तो स्पष्ट है कि साहित्य-निर्माण होता ही है जनता के लिए, और यदि साहित्य की भाषा ही जनभाषा से दूर हट गई तो उसे समझेगा कौन ? साहित्य का उद्देश्य ही समाप्त हो जाएगा? तब एक बात अवश्य है कि किसी देश काल विशेष में, जड़ पुस्तकों में लिखित भाषा का रूप स्थिर होकर पुस्तकों में ही रह जाता है, और जनता की रुचि, सुविधा, परिस्थिति आदि के साथ चलने वाली लोक भाषा का रूप सदा बदलता रहता है। 'फल' यह होता है कि सौ पचास वर्षों में ही पुस्तक की भाषा जनभाषा से बहुत पीछे छूट जाती है। जब जनता की भाषा से बहुत पीछे छूटी पुस्तकीय साहित्यिक भाषा जनता के लिए दुर्बोध्य हो जाती है, तब जनभाषा में उसकी व्याख्या कर जनता को उसका अर्थ समझाने की चेष्टा की जाती है। यह स्थिति देखकर नवीन साहित्य-निर्माता जनता में विस्मृत शब्द रचनाओं को छोड़ कर नवोदित शब्दों और रचनाओं का व्यवहार करने लगते हैं। अठारहवीं सदी की हिन्दी या अंग्रेजी पुस्तकों की भाषा से आज की हिन्दी या अंग्रेजी पुस्तकों की भाषा में कितना अन्तर है, यह कोई भी एक झाँकी में समझ सकता है।

विशेषत: साधारण जन समाज में ही अभिनीत होने के लिए लिखे गए दृश्य काव्यों, नाटकों में बहुत से जनपद-भाषा के प्राकृत शब्द धड़ल्ले से घुस जाते हैं, जो पहले देश, काल, रचना-विशेष के लिए ही अनुमति पाते-पाते, क्रमश:, धृष्टतापूर्वक शिष्ट भाषा में भी स्थिरता से जम जाते हैं. और बाद में शिष्टों को उन्हें स्वीकृति देकर अपनाना पड़ता है।

साहित्यिक भाषा तथा शिष्ट नागरिक जनों की (अंत: प्रदेशीय) दैनिक व्यवहार, वार्त्तालाप की भाषा, दोनों को संस्कृत कहते थे क्योंकि ये, व्याकरणानुगामिनी होने से परिष्कृत होती थीं। लोक-भाषा को प्राकृत कहते थे, क्योंकि यह अनपढ़ों की अनगढ़ भाषा थी। लेखकों ने जब जहाँ पाया कि उनकी काव्योचित संस्कृत भाषा साहित्य-निबद्ध रहती-रहती जनता की प्राकृत भाषा से दूर पड़ गई, उन्होंने जन-बोध्य होने के लिए आवश्यक मात्रा में प्राकृत भाषा को साहित्य निर्माण में अपना लिया परन्तु फिर यह प्राकृत भी उधर कुछ दशकों शतकों में सर्वबोध्य बनने के लिए व्याकरणानुगामिनी बन साहित्यिक, परिनिष्ठित रूप धारण कर स्थिर हो गई और इधर प्राकृत भाषा जीवन्त जन प्रवाह में उछलती कूदती बहुत आगे निकल गई। इस प्रकार साहित्यिक तथा शिष्ट-भाषा और जनपद भाषा अथवा संस्कृत एवं प्राकृत भाषा की भाग पकड़, आँख मिचौली, आरम्भ से ही चली आ रही है। समाज में सम्मान, प्रतिष्ठा साहित्य या शिष्ट भाषा की रहती है, अत: जनभाषा उसका अनुसरण-अनुकरण करती है, ग्राम्यता के स्पर्श से बचने के लिए बनी ठनी नागर भाषा उस से दूरी बनाए रखती है, परन्तु जन-समूह-बोध्यता जनपद भाषा में ही अधिक रहती है, इसलिए नागर या संस्कृत भाषा ग्राम्य या प्राकृत भाषा से अधिक दूर नहीं पड़ जाने के लिए सावधान रहती है। जनपद में, गाँव की धूल में उत्पन्न कोई व्यक्ति जब पढ़ लिख कर अपनी योग्यता तथा जनता की सेवा से जनपद का प्रेमभाजन बन जाता है, तब पूरा जनपद उसका अनुसरण करता है, उसे अपना आदर्श और नेता बना लेता है। नेता होकर भी वह जनता की प्राकृत प्रवृत्ति का ध्यान रखता है, जनता की भाषा-भूषा में ही जनता से सुख-दुख सुनता कहता है पर धीरे-धीरे उसमें प्रभुता का मद, अभिजात्य का गर्व, आ छा जाता है, वह ग्राम्य संपर्क से दूर रहना चाहने लगता है, अथवा बूढ़ा होकर जनता की सेवा में असमर्थ हो जाता है। फलत: जनता उसे छोड़ फिर से अपने बीच से ही किसी दूसरे को नेता की गद्दी पर बिठाती है, पहला नेता केवल इतिहास के पन्नों में रह जाता है। यही स्थिति प्राकृत तथा संस्कृत भाषाओं की भी चलती रही है। सिक्खों के ग्रन्थ साहब, मुसलमानों के कुरान, यहूदियों इसाइयों के बाइबिल, तथा बौद्धों के त्रिपिटक आदि की भाँति आर्यों का वेद भी अपने समय की लोक-भाषा में ही लिखा गया अन्यथा जनता उसे समझती, गाती कैसे ? संस्कृत का उपलब्ध मूलतम रूप के ऋग्वेद की भाषा है। यही उस समय की मानक वार्त्तालापीय भाषा भी रही होगी, जन भाषा भी। सुविधा के लिए इसे हम वैदिक संस्कृत या आदि संस्कृत या आदि प्राकृत कह सकते हैं। स्वयं वैदिक वाङ्मय के ही भीतर ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों तक किस प्रकार प्राकृत या लोक भाषा आगे बढ़ती गई और साहित्यिक भाषा जनबोध्य बने रहने के लिए उसके पीछे-पीछे चलती गई, इसका सुन्दर उदाहरण अध्ययन-प्रेमी बड़ी स्पष्टता से देख सकते हैं। बहुत बाद की लोकभाषा को ऋग्वेद

काल की लोक भाषा से इतनी दूर पड़ गई देखकर ही ब्राह्मण-ग्रन्थों ने वेदों की व्याख्या की, प्रातिशाख्यों ने वैदिक भाषा का अध्ययन विश्लेषण किया। यह सब तो आध्यात्मिक साहित्य था, जिससे जनसाधारण को उतना मतलब नहीं था। इस गूढ़ विषय को सरलता से जनता तक पहुँचाने के माध्यम के रूप में जब पुराण, महाभारत, रामायण आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों का निर्माण हुआ, तब तो स्पष्ट ही साहित्यिक छान्दस भाषा को छोड़कर लोक-भाषा का आश्रयण करना पड़ा। आयुर्वेद, युद्धशास्त्र, समाजशास्त्र, संगीत आदि कलाओं के विषय तो पूर्णत: जन साधारण के ही काम के थे, अत: अब पुस्तकीय लिखित साहित्य के निर्माण के लिए भी पुरानी छान्दस साहित्यिक भाषा को सर्वथा छोड़ तात्कालिक मानक परिनिष्ठित लोक भाषा संस्कृत को अपनाना पड़ा। वैदिक भाषा के साथ पुराणों की भाषा की तुलना करने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि सहस्त्रों सैकड़ों वर्षों बाद साहित्यिक भाषा कितनी दूर पड़ गई थी। जब इस लोक भाषा का ग्रहण शिष्ट भाषा तथा साहित्यिक भाषा के लिए किया गया तब फिर शीघ्र ही इसे भी अधिक देश काल तक बोध्य रहने देने के लिए मानकीकरण की आवश्यकता पड़ी। ऐसे ही समय वैयाकरण-शिरोमाणि पाणिनि का आविर्भाव हुआ। पाणिनि ने अभिनव साहित्य में प्रयुक्त अपनी लोकभाषा का सर्वांगीण विश्लेषण कर एक ओर छान्दस या प्राचीन साहित्यिक भाषा से तथा दूसरी ओर तत्काल प्रचलित अनेक क्षेत्रीय बोलियों से इसका पार्थक्य स्पष्ट कर इस परिनिष्ठित संस्कृत का रूप सुव्यवस्थित कर दिया। यह व्यवस्था इतनी उत्तम हुई कि वह देवभाषा आज तक प्राय: उसी लीक पर चल रही है, और अब अमर कही जा रही है। सुविधा के लिए इसे परिनिष्ठित या श्रेण्य संस्कृत कह सकते हैं। रामायण, महाभारत, पुराण आदि की भाषा श्रेण्य संस्कृत ही है। सन्धिकाल में निर्मित होने से इनमें छान्दस प्रयोग भी यत्र तत्र मिल जाते हैं, किन्तु बाद के सभी संस्कृत लेखकों, कवियों ने पाणिनि के नियमों का पूर्णत: अनुसरण किया है। कहीं अपनी रचना में छान्दस प्रयोग नहीं आने दिए हैं। एकमात्र महाकवि कालिदास ने ही दो एक जगह कुछ छूट ली है।

इस प्रकार साहित्य-निर्माण के लिए श्रेण्य संस्कृत का रूप सुस्थिर हो गया। इसी में भास, कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ, भवभूति आदि कवियों ने अपना साहित्य रचा। पाणिनि सब पर हावी रहे। परन्तु लोकभाषा प्राकृत तो कुछ ही सौ वर्षों के बाद फिर बहुत आगे बढ़ गई थी, जिसका कवि लोग केवल नाटकों में निम्न पात्रों के मुँह से उच्चारण कराते थे। शूद्रक जैसे, क्रान्तिकारी नाटककार ने भी पूरा नाटक प्राकृत में नहीं लिखा। श्री हर्ष, पण्डितराज जगन्नाथ जैसे समर्थ साहित्यिकों ने भी इस लोक-भाषा को साहित्य निर्माण के किए नहीं अपनाया। वाक्पतिराज, हाल आदि कुछ कवियों ने लोक-भाषा में ही स्वतन्त्र रचना करने का उत्साह भी दिखाया, किन्तु वररुचि, हेमचन्द्र आदि प्राकृत वैयाकरणों में

कोई भी पाणिनि जैसा समर्थ वैयाकरण नहीं हुआ, जो तत्कालीन किसी प्राकृत भाषा को सर्वमान्य, सार्वदेशिक मानक रूप दे सके, इसकी विभिन्न क्षेत्रीय प्रवृत्तियों को नियन्त्रित कर सके। बौद्ध और जैन साहित्यिक यद्यपि किसी न किसी लोक-भाषा में ही अपना साहित्य-निर्माण करते रहे, पर समाज के उच्च वर्ग के साहित्यिकों ओर पाठकों ने उसे नहीं स्वीकारा। जैसे आदर्श राजनैतिक तथा सामाजिक नेता के अभाव से देश की राष्ट्रीय एकता खण्डित हो गई, उसी प्रकार व्यास, वाल्मीकि, कालिदास जैसे कवियों तथा पाणिनि पतंजलि जैसे भाषाशास्त्रियों के अभाव से भाषीय एकता भी। संस्कृत से विकसित अनेक लोकभाषाओं में से न तो कोई संस्कृत की भाँति परिष्कृत होकर सर्वमान्य बन सकी, न पूरे राष्ट्र की शिष्ट भाषा होकर संस्कृत की उत्तराधिकारिणी। शिष्टों, विद्वानों, जननायकों द्वारा अस्वीकृत, वैयाकरणों द्वारा अपरिष्कृत ये लोकभाषाएँ ही प्राकृत कहलाईं। परस्पर वैमत्य के कारण इनमें से एक भी राष्ट्रभाषा का पद नहीं ले सकी। इनका शुद्ध मानक समान्तर रूप चिर-प्रचलित संस्कृत राष्ट्र भाषा बनी रही। लोकभाषाएँ उसी का परिष्कृत समान्तर रूप थीं, अत: मूल रूप संस्कृत कहलायी। प्राकृत-भाषियों का भी आदर्श संस्कृत ही रही, अशक्ति, अज्ञानवश भले ही वे इसका शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाएँ। संस्कृत भाषा ही नहीं, संस्कृत नाम भी ऐसा प्रख्यात हुआ कि भारत की इस राष्ट्र भाषा का नाम 'भारती' से संस्कृत पड़ गया। पूर्वकालिक वैदिक भाषा संस्कृत का ही प्राचीन रूप मानी जाती है और परकालिक लोक-विकसित प्राकृत भाषाएँ इसकी सन्तानें। परन्तु यह स्पष्ट है कि जन-भाषा और शिष्ट-भाषा (साहित्यिक भाषा भी) परस्पराश्रित होती है, इसलिए प्राकृत संस्कृत पर और संस्कृत प्राकृत पर आधारित रहकर ही विकसित हुई। जो एकमात्र लोक-प्रयुक्त मूलतम प्राकृत भाषा रही होगी, उसका कहीं कोई अवशेष नहीं है। यह विवाद उठाना व्यर्थ है कि प्राकृत से संस्कृत का विकास हुआ कि संस्कृत से प्राकृत का। "प्राकृत" शब्द का अर्थ कोई करता है प्रकृति अर्थात् संस्कृत से विकसित और कोई प्रकृति अर्थात् स्वभाव से, बिना किसी शास्त्र की सहायता से, परंपरा से विकसित। दूसरा अर्थ ही अधिक शुद्ध प्रतीत होता है।

पाणिनि के प्रताप से परिनिष्ठित संस्कृत सारे भारत में एक बनी रह गई, पर जनभाषा क्रमश: संस्कृत से दूर हटकर "पालि" बन गई, जिसे प्रथम प्राकृत कहते हैं। स्वयं 'प्राकृत शब्द भी परिनिष्ठित संस्कृत का ही है। "पाली" शब्द की व्युत्पत्ति में विद्वानों ने बहुत दिमाग खपाया है, पर चिराग तले ही अंधेरा रह गया है। शौरसेनी प्राकृत में "प्राकृत शब्द ही ध्वनि-परिवर्तन से पालि या पालो बन गया है। क के स्थान में र, ड़ या ल हो जाने के बहुत उदाहरण हैं, जैसे आढ़की - अरहर, कपोतक-कबूतर, मशक-मच्छर, स्तोक-थोड़ा, कञ्चुक-केंचुल, पादिक - पायल। इसी प्रकार प्राकृत पाकिद-पाडिअ-पालिअ-पालि या पाली बना है। भारत में राम और कृष्ण की भाँति विष्णु का अवतार माने जाने वाले बुद्ध का

संदेश घर-घर में जन-जन पहुँचाने के लिए बौद्ध लेखकों ने इस लोकभाषा पाली को ही माध्यम बनाया। अशोक के शिलालेखों की भाषा भी पाली ही है, जो प्राय: पूरे भारत में फैले हुए थे। इस प्रकार क्रमश: पालि भी एक साहित्यिक अमर भाषा बन गई और विदेशों में भी पहुँच गई। परन्तु लोकभाषा तो आगे बढ़ती गई और, ज्यों ही बौद्ध धर्म का प्रभाव घटा, त्यों ही उत्तर भारत की अनेक लोकभाषाओं ने सिर उठाकर पाली का एकच्छत्र शासन अस्वीकार कर अपने को स्वंतत्र घोषित कर दिया। जहाँ पहले एक ही प्राकृत पालि की चलती चल रही थी, वहाँ अब उत्तर मध्य भारत में शौरसैनी, पूर्व भारत में ही मागधी, दक्षिण आर्यावर्त में महाराष्ट्री तथा पश्चिम भारत में पैशाची का प्राधान्य हो गया। शौरसैनी और मागधी के विस्तृत क्षेत्रों की सन्धि में एक अर्धमागधी भाषा विकसित हुई, जिसमें दोनों के कुछ तत्त्व मिले थे। विद्वानों ने पाली को प्रथम प्राकृत तथा इन पाँचों को द्वितीय प्राकृत नाम दिया है।

वस्तुत: पूरे उत्तर में शिष्ट भाषा संस्कृत के सामानान्तर ये पाँच ही नहीं, और अनेक प्राकृत बोलियाँ चलती होंगी, पर उसमें लिखित साहित्य के अभाव के कारण उनके परस्पर सूक्ष्म भेद प्रभेदों की उपेक्षा कर सबों का इनमें ही समावेश और गणना की गई। आरा, छपरा, चम्पारण की भाषाओं में अवश्य ही परस्पर कुछ अन्तर है, पर तीनों को भोजपुरी ही कहते हैं। पूर्वभारत में असम, उत्कल, बंग, कलिंग, अंग, मिथिला, मल्ल आदि सभी जन पदों की भाषाओं पर बुद्ध की आध्यात्मिक जन्मभूमि तथा जरासन्ध, अशोक आदि सम्राटों की राजधानी मगध की भाषा का अत्यधिक प्रभाव था, अत: इन सब जनपदों की भाषाओं की प्रतिनिधि मागधी मानी गई। उत्तर भारत में, आर्य संस्कृति के केन्द्र ब्रह्मावर्त्त में तथा मध्यदेश में कृष्ण की लीलाभूमि शूरसेन (मथुरा, आगरा) का विशेष महत्त्व था, अत: पश्चिम-दक्षिण की सभी भाषाओं पर वहाँ की भाषा का बहुत प्रभाव पड़ा। इसलिए राजस्थानी, गुर्जरी आदि सभी भाषाओं का प्रतिनिधित्व शौरसेनी ने किया। शौरसेनी-मागधी क्षेत्रों के बीच राम की जन्मभूमि अवध या कोसल प्रदेश भी आर्य संस्कृत का एक महान् केन्द्र था, इस क्षेत्र की प्रमुख भाषा कोसली पर शौरसेनी और मागधी दोनों का प्रभाव था, अत: इसे एक स्वतन्त्र स्थान देकर 'अर्धमागधी' नाम दिया गया। जैन विद्वानों ने बौद्धों की 'पालि' की तुलना में इस लोक भाषा को अपनाकर इसे 'आर्ष भाषा' कहा, तथा अपनी कृतियों से इसे साहित्य में अमर बना दिया। आर्यावर्त्त का दक्षिण भाग, वीरप्रसू, महाराष्ट्र जनपद एक स्वतन्त्र गर्वीला व्यक्तित्व रखता आया है। उस क्षेत्र की समस्त बोलियों को एक 'महाराष्ट्री' नाम दिया गया। पश्चिमी भारत तथा उसकी भाषा भूषा पर भारत के पश्चिम की लुटेरी, क्रूर, पिशाच (असुर) जातियों की संस्कृति तथा भाषा का प्रभाव पड़ा, इसलिए पश्चिमी क्षेत्र की सभी भाषाएँ एक "पैशाची" वर्ग में ही रख दी गयीं।

यहाँ यह याद रखना चाहिए कि पाली तथा मागधी जब बौद्धों के सन्देश का और अर्धमागधी जैनों के संदेश का वाहक बनकर साहित्यिक भाषाएँ बन गईं तब वे क्षेत्रीय नहीं रह गईं, सारे भारत में, बल्कि भारत के बाहर भी अपने साहित्य के साथ प्रचारित हुईं। जैसे इंग्लिश, फ्रेंच आदि स्थानीय नाम रखने पर भी ये भाषाएँ इंग्लैण्ड फ्रांस के बाहर खूब समझी बोली जाती हैं, उसी प्रकार ये भाषाएँ भी क्रमशः साहित्यिक रूप धारण कर अपने क्षेत्र से पर्याप्त दूर तक व्यवहृत हो जाती थीं। धीरे-धीरे शौरसैनी, महाराष्ट्री पैशाची भी साहित्यिक भाषाएँ बन भारत भर में फैल गईं। इनका क्षेत्रीय नाम केवल औपचारिक रह गया। इससे बहुत से विद्वानों को आज भी यह भ्रम हो जाता है इन भाषाओं का इन क्षेत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं था, इन क्षेत्रों के समादर-मात्र के लिए इनके ये नाम रख दिये गए थे। ये सब भाषाएँ साहित्यिक और भारत-व्यापी हो जाने पर भी संस्कृत के क्षेत्र तथा यश को घटा नहीं सकीं। जहाँ तक लोक-भाषा से दूर पड़ जाने का प्रश्न था, प्रथम तथा द्वितीय प्राकृतें भी संस्कृत की समकक्ष हो रही थीं, और समाज के अभिजात वर्ग में अब भी देवभाषा संस्कृत के सामने ये उपेक्षित-अनादृत ही थीं। इसीलिए स्वयं जैनों और बौद्धों को भी अपनी बातें उच्च-स्तरीय समाज में पहुँचाने के लिए अर्ध मागधी तथा मागधी को छोड़ संस्कृत अपनानी पड़ती थी।

जब ये प्राकृतें पुस्तक-निबद्ध होकर स्थिर भाषाएँ बन गईं और उस क्षेत्र की लोकभाषाओं का प्रवाह बहुत आगे बढ़ गया, तब ये भी दुर्बोध्य बन गईं। इन प्राकृतों के माध्यम से भी साहित्य प्रणेता जन जनता का मनोरंजन, मार्ग प्रदर्शन करने में समर्थ नहीं रहे। तब उन्होंने प्राकृतों को भी छोड़ तत्काल प्रचलित जनभाषाओं में साहित्य सृष्टि आरम्भ की। ये भाषाएँ 'प्राकृत' की तुलना में 'अपभ्रंश' कही जाती हैं। ये 'संस्कृत' और 'प्राकृत' के 'अपभ्रष्ट' या विकृत रूप ही थीं। जैसे 'पालि को 'पहली प्राकृत' कहते हैं, वैसे अपभ्रंशों को 'तीसरी प्राकृत'। यद्यपि 'द्वितीय प्राकृत' की भाँति 'तृतीय प्राकृत' या अपभ्रंश के भी उस समय अनेक रूप रहे होंगे, परन्तु सर्वाधिक महत्त्व 'शौरसेनी' की 'लाटी' शाखा के विकसित रूप 'नागर' अपभ्रंश का ही रहा। यहाँ तक कि 'मागधी', और 'महाराष्ट्री' अपभ्रंशों का कहीं नामोल्लेख भी नहीं मिलता। 'नागर' के अतिरिक्त एक 'उपनागर' की चर्चा मिलती है, जो अवश्य ही 'नागर' के पार्श्ववर्ती क्षेत्र की ही भाषा रही होगी। इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरे अपभ्रंश 'ब्राचड' का नाम आता है जो नागर से पश्चिम सिन्ध के आस-पास की भाषा होगी, और इसका विस्तार 'पैशाची क्षेत्र' तक भी हुआ होगा।

साहित्य के क्षेत्र में कुछ दिनों तक उच्च वर्ग में संस्कृत के समानान्तर निम्नवर्ग में इन अपभ्रंश भाषाओं की भी चलती रही होगी। किन्तु जनता की भाषा-भागीरथी का प्रवाह शीघ्र

ही इन्हें भी पुस्तकों में, साहित्य में, बँधी देख, पीछे छोड़ आगे बढ़ गया। अपभ्रंश में साहित्यिक हो जाने पर जनपद में विकसित लोकभाषा का नाम अवहट्ठ पड़ा। क्योंकि यह भाषा अपभ्रंश का भी अपभ्रंश थी और "अवहट्ठ" शब्द भी 'अपभ्रष्ट" का अपभ्रंश है। इस अवहट्ठ के भी अनेक क्षेत्रीय भेद होंगे, परन्तु इनका विस्तृत भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन तो 'अपभ्रंश" से भी कम हुआ है। इसे 'तीसरी प्राकृत अपभ्रंश' की तुलना में 'चौथी प्राकृत' कह सकते हैं। पर यह तीसरी प्राकृत अपभ्रंश में ही गतार्थ कर ली जाती है।

विद्वानों ने प्रथम प्राकृत या पालि का समय ई. पू. 500 से ईसवी सन् के आरम्भ तक द्वितीय प्राकृत या शौरसेनी आदि का उसके बाद से 500 ई. तक तथा तृतीय प्राकृत या अपभ्रंश का 500 से 1000 ई. तक माना है। यह ई. पू. 500 से 1000 ई. तक का 1500 वर्षों का समय विकास की दृष्टि से भारतीय आर्यभाषा का मध्यकाल कहा जाता है। इसके पहले अर्थात् 500 ई. पू. से पूर्व भारतीय आर्यभाषा का प्राचीन या आदिकाल कहा जाता है। जैसे मध्यकाल विकास की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा गया है, वैसे आदिकाल को भी तीन भागों में विभाजित करना चाहिये, (क) संहिता काल, (ख) ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-काल, तथा (ग) सूत्र इतिहास-पुराण-स्मृतिकाल।

यदि ऋग्वेदकाल से ही भाषा का क्रमिक विकास देखा जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि साहित्य निर्मातागण साहित्य-निर्माण लोकभाषा में ही करते हैं। परन्तु साहित्य की भाषा शिष्टों से व्यवहृत और लिखित होते ही व्याकरण के अनुसरण के कारण जन-साधारण की भाषा से कुछ अधिक गठी सजी सँवरी हो जाती है, इसलिए वह अधिक दिनों तथा क्षेत्रों तक एकरूप, स्थिर रह जाती है। प्राकृत जनों की व्यावहारिक भाषा उपर्युक्त नियंत्रणों के अभाव से स्वच्छन्द होने के कारण थोड़ी ही दूरी तथा देरी पर परिवर्तित होती रहती है। भारतीय विद्वानों ने सर्वत्र तत्त्वत: एक ही संस्कृत भाषा के प्राचीन साहित्य-प्रयुक्त व्यापकतम रूप को छन्दस् तथा तत्काल लोक-प्रयुक्त क्षेत्रीय-भेद प्रभेद वाले रूप को भाषा कहा है। साहित्यिक संस्कृत के पूर्णत: व्याकरणानुशासित रहने पर भी इसकी पद्यशैली में ऋग्वेद से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ के "भामिनीविलास" तक तथा गद्यशैली में कृष्णयजुर्वेद से लेकर पं. अम्बिकादत्त व्यास के "शिवराजविजय" तक जो सुस्पष्ट क्रमिक परिवर्तन दिखाई पड़ता है, उसका कारण नि:सन्देह साहित्य-भाषा की लोक भाषा से अधिक पीछे नहीं छूट जाने की सावधानी है। फिर भी व्याकरण के अनुशासन का ही यह सुफल है कि संस्कृत में इतना परिवर्तन हो जाने पर भी जो व्यक्ति आज के किसी भी लेखक की किसी भी गद्यात्मक या पद्यात्मक संस्कृत रचना को ठीक से समझ सकता है, वह आज से हजारों वर्ष पहले की ऋचाओं, यजुषों को भी थोड़ा-बहुत समझ लेता है। दूसरी ओर 'भाषा' या

'लौकिक संस्कृत' में इस अवधि में इतना अन्तर पड़ गया है कि आज का हिन्दी साहित्य का अच्छे से अच्छा विद्वान् भी आज की ही लिखी संस्कृत रचनाओं का अर्थ नहीं समझ सकता, छान्दस या साहित्यिक प्राकृत का समझना तो दूर रहे।

उत्तर भारत की असमी, बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, आदि सभी आधुनिक आर्यभाषाओं के समान हिन्दी का विकास भी एक अपभ्रंश 'नागर' के अवहट्ठ रूप से ही हुआ है। जब यह कहा जाता है कि छन्दस् या वैदिक संस्कृत से लौकिक परिनिष्ठित संस्कृत, उससे पालि, उससे प्राकृत, उससे अवहट्ठ तथा उससे हिन्दी आदि आधुनिक आर्यभाषाओं का विकास हुआ है, तब दो बातें ध्यान में रखनी चाहिये। एक तो यह कि जिस संमय छन्दस् वैदिक काव्य भाषा थी, उस समय लोक भाषा वही नहीं, उसके सर्वथा सदृश, समानान्तर, उसका ही अपरिमार्जित रूप थी। संस्कृत भाषा साक्षात् छन्दस् से नहीं, उसके समकालीन लोकभाषा से विकसित परिष्कृत होकर साहित्य में प्रयुक्त हुई। इसी प्रकार पालि साहित्यिक संस्कृत से नहीं, जनप्रयुक्त संस्कृत से, प्राकृत साहित्यिक पालि से नहीं, लोक व्यवहृत पालि से, अपभ्रंश पुस्तकीय प्राकृत से नहीं, जनपद-प्रचलित प्राकृत से तथा हिन्दी आदि वर्त्तमान आर्यभाषाएँ सिद्ध नाथ कवियों, सन्तों के पदों के अवहट्ठ से नहीं लोक प्रचलित अवहट्ठ बोलियों से विकसित हुई हैं। इस प्रकार जैसे इंग्लैंड, फ्रांस, चीन, रूस आदि की प्राचीनतम भाषाओं को भी पुरानी इंग्लिश फ्रेंच, चीनी, रूसी आदि ही कहते हैं, किसी दूसरे नाम से नहीं पुकारते, उसी प्रकार छन्दस् संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश, अवहट्ठ, को भी पुरानी हिन्दी ही कहना चाहिये। ये सब हिन्दी के ही पूर्व पूर्वतर रूप हैं, हिन्दी की ही भाषाएँ हैं। हिन्दी के भी दो समानांतर रूप हैं, साहित्यिक 'संस्कृत हिन्दी', तथा, लोक 'प्रयुक्त भाषा हिन्दी'।

दूसरी बात यह कि आर्यावर्त्त का क्षेत्र और जनसंख्या इतनी विशाल है कि यहाँ एक ही लोक भाषा नहीं रह सकती। यहाँ बीसों जनपद थे, जनभाषाएँ थीं। प्राकृत या अपभ्रंश के प्रसंग में निम्न-लिखित भाषाओं के नाम मिलते हैं - (1) प्राच्या, (2) गौड़ी, (3) औद्री, (4) माहाराष्ट्री (5) सौराष्ट्री (6) लाटी, (7) मागधी, (8) अर्धमागधी, (9) आवन्त्या, (10) पांचाली (11) शौरसेनी (12) नागरी, (13) उपनागरी, (14) उदीच्या, (15) प्रतीच्या (16) दाक्षिणात्या, (17) बाह्लीका, (18) केकयी, (19) शाकारी, (20) चाण्डाली, (21) आभीरी, (22) पैशाची, (23) व्राचडी, (24) खसजा, (25) दरदी आदि। इनमें अंगिका, वज्जिका, मल्लिका, कोसली, कौरवी, गुर्जरी, राजस्थानी आदि और भी अनेक नाम जोड़े जा सकते हैं। इनमें से कभी कोई कहीं प्रभावशाली कवियों या शासकों का आश्रय पाकर अन्त: प्रदेशीय सांस्कृतिक-साहित्यिक या राजकीय भाषा बनी कभी कोई। परन्तु केन्द्र होने के कारण प्राय: मध्य प्रदेश की भाषाओं को ही यह गौरव मिलता आ रहा है। सर्व-प्रथम भारत

की सांस्कृतिक-साहित्यिक भाषा तथा राष्ट्रभाषा-राजभाषा होने का सौभाग्य वैदिक वाङ्मय जैसे अमर अनुपम साहित्य की भाषा संस्कृत को प्राप्त हुआ। जो सम्भवत: पहले उत्तर पश्चिम की भाषा थी; अब भारती अर्थात् समस्त भारत की भाषा कहलाई। बाल्मीकि, व्यास जैसे ऋषि-कवियों तथा पाणिनि, पतंजलि जैसे ऋषि वैयाकरणों ने इसे भारती की सनातन सांस्कृतिक भाषा, राष्ट्रभाषा बना दिया। इसके बाद समाज के निम्नस्तर में वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न करने के लिए आर्य संस्कृति के नव व्याख्याता बौद्धों ने मध्य देश के कोसल प्रदेश के आसपास की लोकभाषा पालि को, तदनन्तर मगध की प्राकृत भाषा मागधी को अपने बौद्ध वाङ्मय का सांस्कृतिक राष्ट्रीय वाहन बनाया, और इनकी प्रतिस्पर्धा में जैनों ने काशी के पास की अर्धमागधी प्राकृत को अपने विशाल साहित्य से अमर कर दिया। परन्तु दोनों को बौद्ध या जैन दर्शन में स्थायिता और व्यापकता लाने के लिए, विद्वानों को भी अपनी बात सुनाने तथा आभिजात्य प्राप्त करने के लिए बाद में समस्त भारत की भारती, संस्कृत की शरण लेनी ही पड़ी। संस्कृत की भाँति पालि में भी प्राच्य, प्रतीच्य, दाक्षिणात्य आदि क्षेत्रीय अन्तर कम थे, पर प्राकृतकाल में ये सूक्ष्म अन्तर ही बढ़ गए। इस समय कोई एक लोकभाषा साहित्यिक क्षेत्र में एकाधिकार नहीं प्राप्त कर सकी। मागधी, अर्धमागधी के साथ शौरसेनी, माहाराष्ट्री का भी पर्याप्त प्रयोग चल रहा था। संस्कृत नाटककारों ने भी स्त्रीपात्रों तथा विदूषकों से गद्य के लिए प्राय: अनिवार्यत: शौरसेनी का व्यवहार कराया है। भरत मुनि ने नाटकों के लिए देशभाषाओं में शौरसेनी प्राकृत पर ही अधिक बल दिया है। परन्तु ऐसे पात्रों से भी पद्य-रचना के लिए सदा महाराष्ट्री का ही प्रयोग कराया गया है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि उस समय कविता के लिए महाराष्ट्र का क्षेत्र अधिक प्रख्यात हो रहा था। और माहाराष्ट्री भाषा अधिक मधुर मानी जा रही थी, जैसे बहुत दिनों तक गद्य के लिए खड़ी बोली का प्रचार रहने पर भी पद्य ब्रजभाषा में ही लिखा जाता रहा (या अवधी में) प्रवर सेन के "रावणवहो" वाक्पतिराज के "गउडवहो" काव्य तथा हाल की "गाहा सत्तसई" और जयवल्लभ के "वज्जालग्गे" की भाषा भी महाराष्ट्री ही है। मागधी का प्रयोग नाटकों में और भी निम्नतर स्तर के पात्रों से कराया गया है। गुणाढ्य ने अपनी "बड्ढ कहा" (बृहत्कथा) पैशाची में ही लिखी है। प्रमुख "प्राकृत" वैयाकरण वररुचि ने पैशाची और मागधी की प्रकृति शौरसेनी को तथा शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत को बताया है। शौरसेनी को प्राय: माहाराष्ट्रीवत् कहा है, और सामान्यत: प्राकृत पद से माहाराष्ट्री का ही ग्रहण किया है। विद्वान लोग शौरसेनी और महाराष्ट्री की तुलना करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वयं महाराष्ट्री भी शौरसेनी का ही काव्योचित विकसित रूप है। इससे स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि आरम्भ से ही शौरसेनी का क्षेत्र पश्चिम-मध्यभारत भाषा के लिए आर्यावर्त्त का नेतृत्व करता आ रहा है।

तृतीय प्राकृत अर्थात् अपभ्रंश काल से साहित्य-निर्माण में उपर्युक्त तीन शाखाओं में "नागर" की प्रधानता रही, जो आरम्भ में गुजरात के पास की देशभाषा थी, पर क्रमशः देहली तक फैल गई। बहुत सम्भव है कि इसका कारण यह हो कि उस समय तक सौराष्ट्र तट के बन्दरगाहों का अधिक विकास हो गया हो, भारत से विदेश के व्यापार तथा यातायात का मार्ग उत्तर पश्चिम घाटियों की जगह सीधा समुद्र हो गया हो, और विदेशी धन की वर्षा से गुजरात की समृद्धि और प्रमुखता भारत में सर्वाधिक हो गयी हो; कवि, पण्डित भी आश्रय के लिए वहीं अधिक एकत्र हो गए हों। बल्कि इसीलिए उसका नाम सुराष्ट्र, अच्छा सुखी राष्ट्र तथा नगर (शहर) पड़ गया हो, यह केवल शौरसेनी प्राकृत का शुद्ध स्थानीय विकसित रूप नहीं थी, इस पर बाहर से आई अनेक जातियों के उच्चारण का भी प्रभाव पड़ा था। अपभ्रंश के बाद बौद्ध-नाथ-साधुओं ने 'अवहट्ठ'भाषा में पर्याप्त पद लिखे हैं, परन्तु सम्पूर्ण उत्तर भारत में काव्य के लिए व्यवहृत इस अवहट्ठ का अभी एक क्षेत्रीय दृष्टि से अध्ययन विश्लेषण नहीं किया जा सका है। शौरसेनी के ही एक अपभ्रंश 'नागर' के ही किसी 'अवहट्ठ' से हिन्दी या खड़ी बोली, किसी से गुजराती, किसी से राजस्थानी, किसी से ब्रजभाषा का विकास हुआ है। हिन्दी के मूल तथा प्रधान रूप ' खड़ी बोली' का विकास मेरठ, बिजनौर दिल्ली के आसपास बोली जानेवाली जनभाषा 'कौरवी' के अवहट्ठ से हुआ है इसे नीचे बताई गई तालिका से समझ सकते हैं -

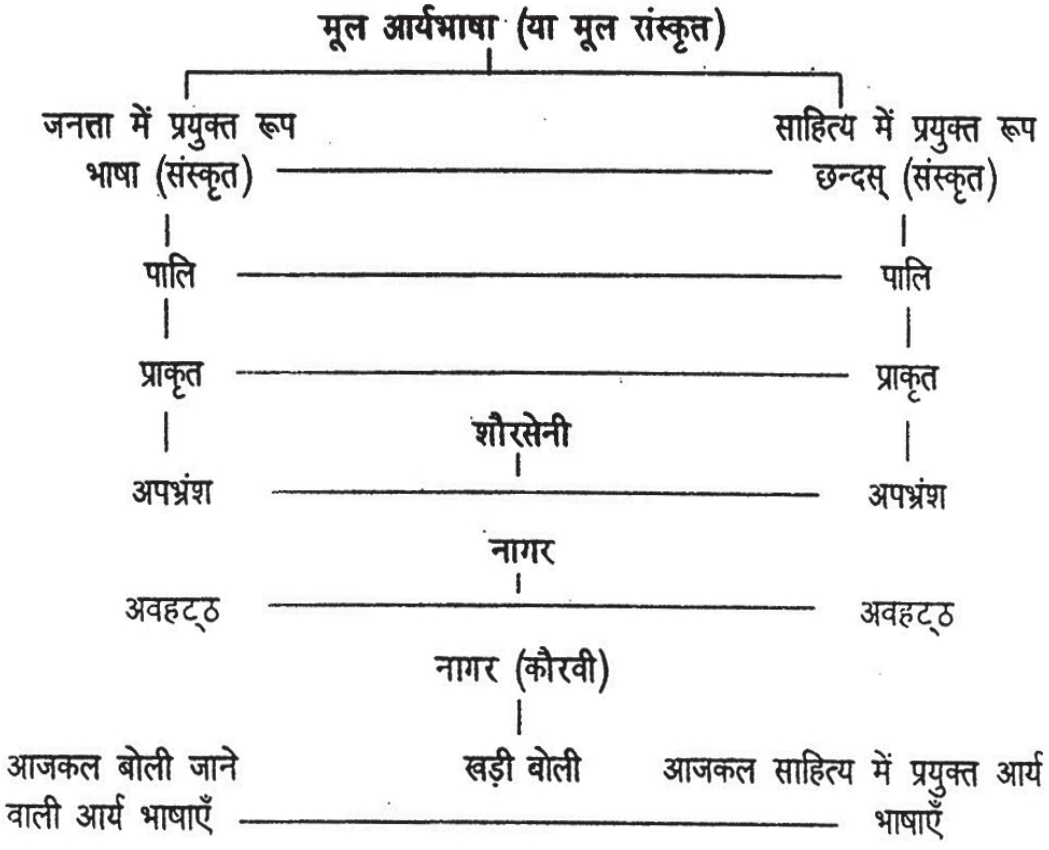

(1) ब्रजभाषा – यह भी शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश से ही विकसित है, परन्तु खड़ी बोली और ब्रजभाषा की प्रकृति में इतना अन्तर है कि दोनों का मूल एक ही अवहट्ठ या अपभ्रंश नहीं हो सकता। शौरसेनी प्राकृत के एक अपभ्रंश तथा अवहट्ठ रूप (कौरवी) से खड़ी बोली का विकास हुआ है दूसरे (माथुरी) से ब्रजभाषा का। मध्यकाल में यह कई सदियों तक गुजरात से लेकर बंगाल तक की प्रमुख साहित्यिक भाषा रही है। सूर आदि अष्टछाप के कवियों ने अपनी अमर वाणी से इसे अमर बना दिया है। अपने समय में एक बार यह हिन्दी की ही भाँति पूरे उत्तर भारत के साहित्यिक क्षेत्र में साम्राज्य कर चुकी है। खड़ी बोली को उस समय काव्य के क्षेत्र में कोई पूछता भी न था। अब यह एक बोली मात्र रह गई है।

(2) बाँगरू – इसका दूसरा नाम हरियाणी भी है। यह खड़ी बोली का ही रूप है तथा उसके पश्चिमी क्षेत्र में व्यवहृत होती है। इस पर राजस्थानी और पंजाबी का कुछ-कुछ प्रभाव है।

(3) बुन्देली – यह ब्रजभाषा का ही एक दक्षिणी रूप है, पर दक्षिण की राजस्थानी से भी थोड़ा प्रभावित है।

(4) कन्नौजी – यह भी ब्रजभाषा का ही एक रूप है, पर अपने से पूरब की अवधी से भी कुछ प्रभावित है।

अर्धमागधी' या 'शौरसेनी मिश्रित मागधी' से विकसित पूरबी हिन्दी -

(5) अवधी – यह भी बहुत समय तथा भूखण्ड तक सहित्यिक भाषा रही है। मध्यकाल में ब्रजभाषा के गौरवकाल में दूसरा स्थान अवधी का ही था, खड़ी बोली का नहीं। जायसी तुलसी आदि ने इसे अमर कर दिया है। 'रामचरित मानस'' की भाषा के रूप में यह समस्त उत्तर में (सदा) अमर बनी रहेगी। यह अर्धमागधी से विकसित हुई है।

(6) बघेली – यह अवधी का ही प्राय: दक्षिणी रूप है।

(7) छत्तीसगढ़ी – यह भी अवधी का ही एक रूप है और बघेली से भी दक्षिण में बोली जाती है।

लाटी' या 'गुर्जरी' प्रभावित, 'आवन्त्या मिश्रित शौरसेनी' से विकसित राजस्थानी हिन्दी -

(8) मारवाड़ी या पश्चिमी राजस्थानी – इसी का साहित्यिक रूप डिंगल भाषा है, जिसने पूरे राजस्थान मे वीरों को अद्‌भुत प्रेरणा दी है।

(9) मालवी या दक्षिणी राजस्थानी।

(10) जयपुरी या पूर्वी राजस्थानी।

(11) मेवाती या उत्तरी राजस्थानी – इस पर ब्रजभाषा का भी कुछ प्रभाव है।

'शौरसेनी' की छाया से प्रभावित 'पश्चिमी मागधी से विकसित बिहारी हिन्दी

(12) भोजपुरी – इसका क्षेत्र बहुत बड़ा है। यह बिहार के पश्चिमी तथा उत्तर-प्रदेश के पूरबी भाग की भाषा है। इसमें अब कुछ गद्य साहित्य भी लिखा जा रहा है। यह पश्चिमी मागधी के भी पश्चिमी रूप से विकसित है। शौरसेनी की सर्वाधिक छाया इसी पर पड़ी है। इसके पद्य साहित्य का अधिकांश अभी लोक कंठ में ही प्रवाहित है। इसका केन्द्र है बिहार का एक जिला "भोजपुर" (पहले का शाहाबाद)।

# 15. हिंदी, उर्दू हिंदुस्तानी : ऐतिहासिक संदर्भ

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

हिंदी' शब्द पर विचार करते समय यहाँ नीचे दिए गए कुछ ऐतिहासिक तथ्यों पर दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा, जिसे प्राय: अनदेखा कर दिया जाता है।

(1) आधुनिक आर्य भाषाओं की उत्पत्ति के कुछ समय बाद ही भारत पर विदेशी आक्रमण हुए। इन विदेशी आक्रमणकर्ताओं की अपनी सभ्यता, संस्कृति और भाषा थी। उन्होंने न केवल अपनी सभ्यता और भाषा छोड़कर सामान्यत: भारतीय सभ्यता और भाषा को अपनाया वरन् यहाँ की भाषाओं को एक सीमा तक प्रभावित भी किया।

(2) मुसलमानों का शासन स्थापित हो जाने पर एक बार फिर कुछ समय के लिए भारतीय राजनीति दिल्ली में केंद्रित हो गई और उत्तर भारत एक राज्यतंत्र की व्यवस्था के भीतर आया। इस तरह उत्तर भारत में नहरों एवं राजपथों के निर्माण के साथ व्यापार का भी प्रसार हुआ तथा व्यापार के साथ अंतर्प्रादिशिक बोलियों के बोलनेवालों में न केवल एक सम्बन्ध स्थापित हुआ, वरन् व्यापारियों को अपनी भाषा के प्रसार का भी अवसर मिला

(3) मुसलमानों की सभ्यता मूलत: सामंतवादी थी। सामंती ढाँचे में सामाजिक स्तर-भेद के अनुरूप भाषा-प्रयोग के विभिन्न स्तर देखे जा सकते हैं।

(4) 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में अंग्रेजों ने भारत को पराधीन करके अपनी प्रभुता स्थापित कर दी। अपनी शासन-व्यवस्था के हित के लिए उन्होंने भारतीय भाषा, संस्कृति और कला को अपने अनुरूप मोड़ने का प्रयास भी किया। सभ्यता और संस्कृति की सम्वाहक भाषा होती है और भाषा को भी अपना अस्त्र बनाने में अंग्रेजों ने संकोच नहीं किया। इसलिए परिभाषा-व्याख्या की नई प्रणाली तक ही सीमित न रहकर उन्होंने भाषा-सम्बन्धी कुछ नए प्रयोगों की घोषणा भी की।

(5) साम्प्रदायिक भिन्नता के आधार पर कुछ भारतीय नेताओं ने भाषा के रूप-निर्माण का भी प्रयास किया। महात्मा गाँधी ने साम्प्रदायिक भेद को मिटाने के लिए भाषा की विभिन्न प्रवृत्तियों को एक करने की कोशिश भी की।

(6) स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद शब्द-निर्माण (पारिभाषिक) की आवश्यकता ने हिंदी को संस्कृत की ओर मुड़ने को बाध्य किया और दूसरी ओर राष्ट्रीय प्रयोजनों के स्तर पर उसे परिनिष्ठित करने की आवश्यकता उत्पन्न हुई।

उपरोक्त सामाजिक-ऐतिहासिक तथ्यों के परिप्रेक्ष्य के अभाव में 'हिंदी' शब्द की व्याख्या या निरुक्ति संभव नहीं है। इसके संदर्भ में ही हिंदी शब्द के अर्थ-विकास को देखना अभीप्सित होगा।

हिंदी के अर्थ-बोध के संदर्भ में हमें कई परिभाषाएँ देखने को मिलती हैं। उन पर यहाँ विचार कर लेना अनुचित न होगा:

(1) "यह आधुनिक भारतीय भाषाओं के पश्चिमी (परिनिष्ठित) हिंदी और पूर्वी (बोलचाल की) हिंदी का समुच्चयबोधक नाम है।"-डिक्शनरी ऑफ लिंग्विस्टिक्स'।

(2) कुछ विद्वानों ने इसके भौगोलिक विस्तार का आधार लेकर यह समझाने का प्रयास किया है कि हिंदी कहाँ-कहाँ बोली जाती है तथा किन-किन भागों में इसका प्रसार है:

(अ) "व्यवहार में हिंदी उस बड़े भूमिभाग की भाषा मानी जाती है, जिसकी सीमा पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तथा पहाड़ी प्रदेश, पूरब में भागलपुर, दक्षिण-पूरब में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खांडवा तक पहुँचती है।"-बाबू श्यामसुंदर दास।

(ब) "यह बिहार, संयुक्त प्रांत, हिंदी मध्य प्रांत, मध्यभारत, हिमालय के पहाड़ी प्रांत तथा पंजाब की साहित्यिक भाषा है।" - बाबूराम सक्सेना।

(3) कुछ अन्य विद्वान हिंदी को और विस्तृत संदर्भ में देखते हैं:

"शब्दार्थ की दृष्टि से 'हिंदी' शब्द का प्रयोग हिंद या भारत में बोली जानेवाली किसी भी आर्य, द्रविड़ या अन्य कुल की भाषा के लिए हो सकता है, किंतु आजकल वास्तव में इसका व्यवहार उत्तर भारत में मध्यप्रदेश के हिंदुओं की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में मुख्यतया तथा साथ ही इसी भूमिभाग की बोलियों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में साधारणतया होता है।" - डॉ. धीरेंद्र वर्मा।

(4) डॉ. ग्रियर्सन के अनुसार "हिंदी, हिंदुस्तानी भाषा का वह रूप है, जिसमें संस्कृत शब्दों की बहुलता होती है, और जो देवनागरी लिपि में लिखी जा सकती है।" पाश्चात्य विद्वानों ने प्राय: इसी मत को अपनाया है। अकादमिक बरान्निकोव तथा कुछ अन्य विद्वानों ने इसी परिभाषा को कुछ बदलकर प्रयोग किया है।

हिंदी की उपरोक्त परिभाषाओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश विद्वानों ने हिंदीभाषी क्षेत्र का या तो निर्देश देकर ही संतोष कर लिया है अथवा उसके अर्थ क:

ऐसा व्यापक प्रसार किया है जो साहित्यिक दृष्टि से भले ही मान्य हो, पर भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से ग्राह्य नहीं हो सकता। कुछ विद्वानों ने ऐतिहासिक स्रोत के आधार पर यह भी कहा है कि हिंदी का अर्थ केवल पश्चिमी हिंदी से ही है, पूर्वी हिंदी से नहीं, क्योंकि पश्चिमी हिंदी शौरसेनी की वंशज है और पूर्वी हिंदी अर्द्धमागधी की। - (बाबू श्यामसुंदर दास)।

ग्रियर्सन और सुनीतिकुमार चैटर्जी का भी यही मत है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह मत मान्य हो सकता है, लेकिन भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं। भाषा मूलत: कोई निश्चित बोली ही होती है, जो भिन्न कारणों के फलस्वरूप कालांतर में भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो जाती है। कभी ब्रज और अवधी भाषा थीं और आज बोली के रूप में स्वीकृत हैं। उस समय खड़ी बोली मात्र बोली थी, जो उसके नाम से ही ध्वनित है। पश्चिमी हिंदी के अंतर्गत खड़ी बोली, बाँगरू, कन्नौजी, बुंदेली और ब्रज का नाम लिया जाता है। अगर पश्चिमी हिंदी ही ऐतिहासिक दृष्टि से हिंदी है तो इनमें से कोई एक बोली ही हिंदी भाषा के रूप में विकसित होगी-सभी नहीं। और अगर बोली विशेष पर आधारित भाषा-विशेष 'हिंदी' नाम से पुकारी जाती है और उसके अंतर्गत बाँगरू, ब्रज, कन्नौजी, बुंदेली को उसकी बोलियाँ मानकर उसी भाषा के अंतर्गत स्वीकार किया जा सकता है तो क्या पूर्वी हिंदी (अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी) को उसकी बोलियाँ इस कारण नहीं कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से वे शौरसेनी की वंशज न होकर अर्द्धमागधी अपभ्रंश से विकसित हुई हैं? क्या केवल ऐतिहासिक विकास मात्र से बोलियों को स्वीकृति मिलती है?

अगर डॉ. ग्रियर्सन और अका. बरान्निकोव की मान्यता को स्वीकार किया जाए कि हिंदी, हिंदुस्तानी का ही एक विकसित साहित्यिक रूप है तो यहाँ यह देखना अनुचित न होगा कि हिंदुस्तानी का मूल रूप क्या है? हिंदुस्तानी से हमारा तात्पर्य क्या है, और ऐतिहासिक क्रम में वह तथाकथित हिंदी को किस प्रकार जन्म देने में सफल हुई?

'हिंदुस्तानी' के तात्पर्य-बोध के लिए अगर स्वयं डॉ. ग्रियर्सन के कथन को साक्ष्य माना जाए तो उनके अनुसार 'हिंदुस्तानी' ऊपरी गंगा के दोआब की भाषा है जो भारत की लिंगुआ-फ्रांका भी है तथा फारसी और देवनागरी लिपि में लिखी जा सकती है। लेकिन यह तो एक तथ्यपरक निर्देश मात्र है, जहाँ तक 'हिंदुस्तानी' शब्द का सम्बन्ध है-उनका कथन है कि-"वह यूरोपियन प्रभाव के कारण प्रचलित शब्द है और हिंदुस्तान की भाषा के अर्थ में प्रयुक्त होता है।" लेकिन उनकी यह धारणा भी भ्रामक ही है, यद्यपि आज भी कुछ विद्वान इस मत को मानते हैं। ध्यान देने पर यह स्पष्ट होता है कि यूरोपीयों के आगमन के पूर्व ही यह शब्द भारत में प्रचलित था। स्वयं बाबर ने अपने आत्म-चरित में इसका

प्रयोग किया है। हाब्सन-जाब्सन ने टामस कैरियट की घटना का उद्धरण दिया है-"कैरियट हिंदुस्तानी इस प्रकार बोलता था कि 1616 ई. में जब उसकी धोबिन ने उसे गालियाँ दीं तो उसी भाषा में गाली देकर उसने उसे चुप कर दिया।" चंद्रबली पांडे के अनुसार 'हिंदुस्तानी' शब्द अंग्रेजों के आगमन की बात छोड़िए, मुसलमानों के भी पूर्व का है और इसके प्रचारक, उनके अनुसार, 'शक' थे।

उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि ग्रियर्सन की यह मान्यता कि 'हिंदुस्तानी' शब्द अंग्रेजों की देन है, उचित नहीं। ग्रियर्सन ने हिंदी को हिंदुस्तानी की एक शैली अवश्य माना, लेकिन उन्होंने न तो हिंदी शब्द की निरुक्ति ही दी और न हमारी भाषा के इस नाम की प्राचीनता के सम्बन्ध में ही विचार किया। - (डॉ. उदयनारायण तिवारी)।

हाब्सन-जाब्सन के अनुसार हिंदुस्तानी उत्तर भारत में रहनेवाले मुसलमानों की भाषा है, जिसे उर्दू भी कहा जा सकता है। इस 'मूर' उर्दू को कुछ ऐंग्लोइंडियन 'मूर्स' भी कहते हैं। इस 'मूर' भाषा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा-"मूर भाषा से कथित भाषा की लिपि संस्कृत और बंगाली से भिन्न है। इसे नागरी कहते हैं, जिसका अर्थ है-लिखावट-(यहाँ नागरी लिपि पर ध्यान दें)।" इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुत: हिंदुस्तानी अगर उर्दू है तो यह उर्दू, हिंदी के अतिरिक्त कोई दूसरी भाषा नहीं है। जार्ज हैडले ने स्पष्ट शब्दों में मूर भाषा को 'हिंदवी' कहा है।

इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए यह आवश्यक है कि उर्दू के शब्दबोध और उसकी उत्पत्ति पर भी विचार करें। उर्दू के विषय में हाब्सन-जाब्सन ने लिखा कि "ताशकंद और खोकंद में 'उर्दू' शब्द 'किला' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'शाही-पड़ाव' के अर्थ में 'उर्दू' शब्द सम्भवत: बाबर के साथ आया। 'शाही पड़ाव' के परिणाम से जिस मिश्रित भाषा का जन्म दरबार और पड़ाव में हुआ, वह 'जबाने-उर्दू' कहलाई।"

ध्यान देने की बात है कि उर्दू का अर्थ है-'किला' और हाब्सन-जाब्सन के अनुसार "दिल्ली के दरबार अथवा 'कैंप' में हिंदू और मुसलमान जातियों के मिलने से जिस मिश्रित भाषा का जन्म हुआ, वही 'जबाने-उर्दू' कहलाई।" इस मत को स्वीकार करनेवाले कई विदेशी और हिंदुस्तानी विद्वान हैं। परंतु आचार्य चंद्रबली पांडे ने अपनी पुस्तकों ('उर्दू का रहस्य', 'उर्दू की जुबान', उर्दू का उद्गम' तथा 'राष्ट्रभाषा पर विचार') तथा डॉ.रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक ('भाषा और समाज') द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि ऐसी धारणा भ्रामक है। विचारणीय है कि 18वीं शताब्दी के अंत तक 'उर्दू' शब्द का

प्रयोग भाषा के अर्थ में प्रयुक्त नहीं मिलता। डॉ. बैली के अनुसार , उर्दू का प्राचीनतम प्रयोग 18वीं शताब्दी के अंत में मसहफ़ी की रचना में मिलता है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि मुसलमानों को आए हुए तो अब तक पाँच-छह सौ वर्ष हो चुके थे। क्या इतनी लम्बी अवधि मिश्रित भाषा को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त न थी? जो लेखक उर्दू को मिश्रित भाषा के रूप में देखते हैं और इसको जन-साधारण की बोली के रूप में स्वीकार करते हैं, उनके लिए पाँच सौ वर्ष के अंतराल में उर्दू शब्द को न देखना आश्चर्य का कारण बन जाता है। इसलिए वे प्रश्न उठाते हैं कि इसके बावजूद हमारे समक्ष यह खुला प्रश्न है कि क्यों जिस भाषा के उदाहरण हमें 15वीं शताब्दी में मिलते हैं, उसका नामकरण 18वीं शताब्दी में हुआ? ऐसे लेखक उर्दू के वास्तविक स्वरूप और विकास-क्रम को ठीक से समझ नहीं पाते।

ध्यान देने की बात है कि आक्रामक के रूप में जो मुसलमान भारत में आए थे, वे प्राय: तुर्की थे। अगर दैनिक व्यवहार के मेल-जोल से भाषा बनने का सवाल है तो उर्दू में सबसे अधिक शब्द तुर्की के होने चाहिए। किंतु वस्तुस्थिति इसके विरुद्ध है। "मुसलमानी भाषाओं में सबसे कम तुर्की शब्द हिंदी आदि भाषाओं में आए हैं। इसके बाद अरबी और सबसे अधिक फारसी शब्द....." -(पं. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी), "क्योंकि शासकों की राजभाषा स्वयं तुर्की न होकर फारसी थी। वे स्वयं जातीय एवं सांस्कृतिक पराधीनता से संत्रस्त थे।" -(सैयद एहतिशाम हुसैन)। डॉ. रामविलास शर्मा ने मुसलमान बादशाहों, सूफी संतों और उर्दू के पुराने कवियों के अनेक उद्धरण एवं प्रमाण देते हुए यह स्पष्ट किया है कि "फारसी न मुसलमानों की बोलचाल की भाषा थी, न हिंदुओं की। उसे हिंदू भी सीखते थे और मुसलमान भी, किंतु इस बात में संदेह की जरा भी गुंजाइश नहीं है कि दिल्ली के आम मुसलमानों की भाषा हिंदी थी।" अमीर खुसरों तुर्क थे, उनकी सांस्कृतिक भाषा फारसी थी, पर हिंदुस्तानी होने का उन्हें गर्व था और हिंदी से उन्हें असीम अनुराग था। उनका कहना है-"मैं हिंदुस्तानी तुर्क हूँ और हिंदी में जवाब दे सकता हूँ। मेरे पास मिस्र की शकर नहीं है कि अरब की बात करूँ।" मसूद ह-सद सलमान ने 'दो दीवान फ़ारसी में और एक दीवान हिंदवी में लिखा था।"-(डॉ. बाबूराम सक्सेना) 'फरिश्ता' के अनुसार महमूद गज़नवी के समय में भी हिंदी कविता रची जाती थी। खुसरो के अलावा उस समय जिन और लेखकों ने फारसी में ग्रंथ लिखे हैं, उन्होंने भी हिंदी शब्दों का प्रयोग किया है। यह स्वाभाविक था क्योंकि जो गैर-ईरानी मुसलमान फ़ारसी सीखते थे, वे उसे भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही सीखते थे। यदि आम मुसलमानों में आपस के व्यवहार के लिए फ़ारसी भाषा का प्रयोग होता, तो उसे सीखने के लिए किसी भारतीय भाषा के सहारे की जरूरत न थी।-(डॉ. रामविलास शर्मा)।

इसमें संदेह नहीं कि हिंदी के आधार के रूप में बोलचाल की खड़ी बोली मुसलमानों के आने के बहुत पहले से ही विद्यमान थी। यही हिंदी (खड़ी बोली) उर्दू की भी मूलाधार बनी। 'वर्जे-इस्तला' (परिभाषा-निर्माण) में प्रो. मौलवी वहीदुद्दीन साहब 'सलीम' ने लिखा है- "....हिंदी को हम अपनी ज़बान के लिए उमुल्लिसान (भाषा की जननी) और हमूलाए-अव्वल (मूलतत्त्व) कह सकते हैं। इसके बगैर हमारी ज़बान की कोई हस्ती नहीं है।''-(अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी)। क्या इस हिंदी में फ़ारसी के कुछ या अधिक शब्दों के अंतर्भुक्त हो जाने मात्र से ही नई भाषा का आविर्भाव हो जाता है? बंगाल में भी तो फारसी कुछ समय के लिए राजभाषा बनी। बंगाली भाषा में फारसी के कई शब्द शामिल हुए पर इससे क्या बंगाली का कोई दूसरा रूप भी निर्मित हुआ? सिंधी, पंजाबी, कश्मीरी और बंगला साहित्य में मुसलमानों के योगदान से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि भारत के हर जातीय प्रदेश में मुसलमानों ने वहाँ की भाषा को अपनाया।-(डॉ. रामविलास शर्मा)। यही नहीं, हिंदी में अंग्रेजी और पुर्तगाली के अनेक शब्द आए पर उससे कोई नई भाषा का आविर्भाव नहीं हुआ। स्वयं अंग्रेजी, फ़ारसी और रूसी भाषा में कई शब्द आए पर उनका कोई दूसरा नाम नहीं रखा गया। हिंदी के संदर्भ में बहुत पहले जार्ज हैडले ने इस ओर स्पष्ट संकेत किया है। 18वीं शताब्दी तक हम मुसलमानों की इस बोली को 'हिंदी', 'हिंदवी', 'हिंदुई' नाम से बोधित होता हुआ पाते हैं। अमीर खुसरों से लेकर मीर तक इस भाषा को हिंदी कहते हैं।

इतिहास पर ध्यान देने से एक तथ्य और सामने आता है। मुहम्मद तुगलक ने 1327 ई. में दौलताबाद को राजधानी बनाया, जो फीरोज तुगलक के समय पूरी तरह स्वतंत्र हो गया। 1347 ई. में बहमनी राज्य की स्थापना हुई और अगर 'तारीखे-फरिश्ता' की बात ठीक मानी जाए तो बहमनी बादशाह के राज्य-कार्यालय में हिसाब-किताब हिंदी में होता था-(सैयद एहतिशाम हुसैन)। जब मुहम्मद तुगलक के निश्चय के कारण दिल्ली के स्थान पर राजधानी देवगिरी स्वीकृति हुई, तो फिर से दिल्ली की राजधानी के रूप में ग्रहण करने के बावजूद दक्षिण की भाषा वही स्वीकृत हुई, जिसे दिल्लीवाले साथ ले गए थे। दिल्लीवाले कौन-सी भाषा अपने साथ ले गए थे, यह दक्खिनी साहित्य को देखने पर स्पष्ट हो जाता है। वस्तुत: हिंदी, हिंदवी या दक्खिनी-एक ही भाषा के भिन्न-भिन्न नाम हैं। बाबूराम सक्सेना के शब्द इसके प्रमाण हैं-"जिस बोलचाल की भाषा में अमीर खुसरो और शेख फरीदुद्दीन शकरकंजी आदि प्रारम्भ काल के कलाकारों ने रचना की और जिसका साहित्य उत्तर भारत में लुप्त होकर दक्खिन में 15वीं, 16वीं, और 17वीं सदी में फूट निकला, उसका नाम हिंदवी और हिंदी था और उसी को दक्खिनी साहित्यकार दक्खिनी कहते थे।'' 'उर्दू' नाम दक्खिन के किसी भी कलाकार के ग्रंथ में नहीं आया।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिंदू-मुसलमानों के मेल-जोल से जो भाषा बनी, वह उर्दू न थी, वरन् हिंदी ही थी। जिस प्रकार अंग्रेजी, फारसी, रूसी एवं अन्य जीवंत भाषाओं ने विदेशी शब्दों को आत्मसात किया और उसके बाद भी वह वही भाषा बनी रही, उसी प्रकार हिंदी में फ़ारसी-अरबी के शब्द आने के बावजूद वह वही भाषा बनी रही। "... ..मुसलमानों के आगमन के पहले यहाँ एक मिली-जुली भाषा प्रचलित थी। उस समय तक उसका रूप बहुत परिष्कृत नहीं था। मुसलमानों के आने के बाद इस भाषा ने सांस्कृतिक एवं साहित्यिक रूप ग्रहण किया।''-(अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी)। पर अभी यह प्रश्न अपने स्थान पर ही है कि 'उर्दू' नाम से पुकारी जानेवाली भाषा कौन थी? 'उर्दू' नाम उसके लिए क्यों पड़ा? और आज हिंदी-उर्दू में इतना गहरा अंतर क्यों है?

'दरिया-ए-लताफ़त' से इंशा अल्ला का उद्धरण देते हुए चंद्रबली पांडे ने लिखा है-"सैयद इंशा साफ-साफ कहते हैं कि लाहौर, मुलतान, आगरा, इलाहाबाद की वह प्रतिष्ठा नहीं है जो शाहजहाँनाबाद व दिल्ली की है। इसी शाहजहाँनबाद में 'उर्दू' का जन्म हुआ-कुछ मुलतान, लाहौर या आगरा में नहीं।'' फरहंगे असफ़िया का हवाला देते हुए उन्होंने लिखा-"उर्दू की टकसाल में जो जुबान पैदा की गई वह शाही लोगों की जुबान थी-कुछ आम लोगों की नहीं।'' इसी स्थल से दूसरा उद्धरण देते हुए उन्होंने लिखा-"जो लोग उर्दू को हिंदू-मुसलमान मेल की निशानी समझते हैं, उन्हें 'नव-मुस्लिम भाइयों' और जो लोग उर्दू को 'लश्कर' की चीज समझते हैं, उनको इस 'छावनियों के सतबेझड़े बाशिंदों' पर विशेष ध्यान देना चाहिए और यह सदा के लिए टाँक लेना चाहिए कि वस्तुत: उर्दू 'उर्दू' की जुबान है, कुछ 'पुड़दू' याने लश्कर और बाजार की सतबेझड़ी बोली नहीं।'' -(चंद्रबली पांडे)। सैयद मौलवी अहमद देहलवी का यह 'पुड़दू' और कुछ नहीं, हिंदी ही है।

सच तो यह है कि उर्दू और हिंदी का यह भेद दिल्ली में न था। दिल्ली में बोली जानेवाली मुसलमानों की भाषा और दक्खिनी रूपवाली खड़ी बोली में जो शब्द-भंडार हैं, उनमें हिंदी में प्राय: प्रचलित शब्दों का प्रयोग है (बाबूराम सक्सेना), पर बाद में जो हिंदी के प्रचलित शब्द थे, उन्हें बाकायदे सिद्धांत के आधार पर हटाकर, उनके स्थान पर फारसी के शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति चली और यह प्रयोग लखनऊ में हुआ, जब दिल्ली से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए वहाँ मतरुकात (अलगाव) का सिद्धांत अपनाया गया।

मौलाना अब्दुल हक़ का उद्धरण देते हुए पं. पद्मसिंह शर्मा ने लिखा-"प्रचलित ठेठ हिंदी शब्दों का बहिष्कार और उसकी जगह अप्रचलित अरबी-फ़ारसी या संस्कृत शब्दों की भरमार भाषा-भेद का एक प्रधान कारण है। यह प्रवृत्ति पहले न थी। उर्दू के पुराने कवि

और लेखकों ने अपनी रचनाओं में ठेठ हिन्दी के शब्दों के प्रयोग बड़ी अधिकता से किया है। उर्दू में कठोर फारसी-अरबी शब्दों के प्रयोग का प्रचार लखनऊ स्कूल है, दिल्ली के कवि और लेखक भाषा के विषय में बड़े उदार थे।" उर्दू के अधिकांश शायर अवध के दरबार से सम्बन्धित थे और उनकी कविता का आधार मूल रूप से सामंती था। सैयद एहतिशाम हुसैन ने इस सम्बन्ध में बहुत रोचक तथ्य दिए हैं - "फुंगा ने सबसे पहले दिल्ली छोड़ी। 'सौदा' पहले फैजाबाद और बाद में लखनऊ आए। इंशा और मुसहफी लखनऊ में रहते ही थे। जौक और गालिब बादशाहों के मान्य शायर थे और उन्हें शायरी की शिक्षा देते थे। दाग भी रामपुर के दरबार से सम्बद्ध थे।" इस तरह हम देखते हैं कि हिन्दी उर्दू के अलगाव का प्रमुख कारण उर्दू काव्य का यह सामंतवादी आधार है और है मतरूकात का सिद्धान्त, जो जनभाषा की अपनी प्रकृति की जगह पर फारसी के शब्द ही नहीं, बल्कि, 'कबाअते- मजबत' को अपनाने का आग्रही है।" - (श्रीवास्तव)।

उर्दू के संदर्भ में इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्यों 18वी शताब्दी तक उर्दू शब्द हमें भाषा के लिए प्रयुक्त नहीं मिलता । ध्यान देने की बात है कि मुसलमानों का आगमन और उसके साथ फारसी का राजपद पर आसीन होने का इतिहास लगभग 6-7 सौ वर्ष पुराना है, पर उर्दू भाषा का जन्म केवल दो सौ वर्ष पहले हुआ। और इस भाषा को मान्यता मिली मुगल सल्तनत के पतन-काल में । इसके पहले के जन-सामान्य (हिन्दू मुसलमान) की बोली को चाहे हम 'पुड़दू' कहें या हिंदवी, हिंदुई अथवा हिन्दुस्तानी, वह वस्तुतः हिन्दी (दिल्ली-आगरे के पास बोली जाने वाली बोली) ही थी। उर्दू का मूलाधार वह हिन्दी है, जिसमें मतरूकात के सिद्धान्त पर फारसी शब्दों, मुहावरों और यहाँ तक कि कभी कभी क्रियापदों का भी जान बूझकर प्रयोग किया गया है। इसका ढाँचा और वातावरण दोनों ह्रासोन्मुख सामंती व्यवसाय का ऋणी है और व्यवहार के रूप में वह बादशाहों, शहजादों तथा दरबारी शायरों की रचनाओं में संकुचित हैं। आम जनता से इसका कोई सम्बन्ध न था। मौलवी मुहम्मद अजीज मिर्जा के रोचक संस्मरण तथा प्रेमचन्द के व्यापक अनुभव के पश्चात किसी को संदेह करने की गुंजाइश नहीं रह जाती कि मुसलमान जहाँ वाही भी गये, वहाँ की भाषा को उन्होंने अपनाया। और जैसा डा. शर्मा के उद्धरणो से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कविता की तो यहीं की भाषा में।" तो क्या हिन्दी के क्षेत्र में ही वहाँ की बोलियों के साथ उनकी शत्रुता थी? वस्तुतः बोलचाल की हिन्दी और बोलचाल की उर्दू दोनों में न कोई मौलिक भेद है और न व्यावहारिक कठिनाई- (प्रेमचंद)। 1917 में भड़ौंच में हुई गुजरात शिक्षा परिषद की सभा में सभापति- पद से भाषण देते हुए गाँधीजी ने भी यही कहा कि 'हिन्दी और उर्दू दो भाषाएँ नहीं, भेद है तो लिपि का ।" स्पष्ट है कि 'हिन्दी और उर्दू' दोनों एक ही भाषा

है, उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं। वह केवल फारसी लिपि में लिखी जानेवाली खड़ी बोली हिंदी का ही एक रूप है, जिसने अरबी, फारसी शब्दावली और काव्य-रूढ़ियों को किसी खास ऐतिहासिक परिस्थिति में विशेष रूप से अपनाया। हिंदी और उर्दू एक ज़बान है, उनके बोलनेवालों की जमीन एक है-इस बात को गाँधीजी जैसे नेता ने भी कहा है, प्रेमचंद ऐसे साहित्यकार ने भी बताया है और केलकर जैसे भाषाविद् ने भी समझाया है।''-(श्रीवास्तव)।

उर्दू के विषय में उपरोक्त विचार करने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि 'हिंदुस्तानी'पर भी विचार किया जाए। प्रारम्भ से ही यह शब्द विवाद का विषय रहा है और आज की बदली हुई परिस्थिति में भी यह समस्या सुलझ नहीं रही है। अंग्रेजी के विरोध में उठनेवाले राष्ट्रीय आंदोलनों में हिंदुस्तानी भाषा की एक विशेष भूमिका रही है। कांग्रेस भारत की राष्ट्रीय संस्था रही है और 'हिंदुस्तानी' शब्द का सम्बन्ध इस संस्था से गहरे जुड़ा हुआ है। वस्तुत: राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के सक्रिय आग्रह और सबल मोह के कारण यह शब्द आज काफी प्रचलित हो गया है। इतिहास के आइने में देखने पर यह स्पष्ट होता है कि सर्वप्रथम 1926 ई. में श्री पुरुषोत्तम दास टंडन ने कानपुर में कांग्रेस अधिवेशन में अंग्रेजी के स्थान पर हिंदुस्तानी के व्यवहार की माँग की। इसके बाद 1935 ई. में इंदौर हिंदी साहित्य सम्मेलन में महात्मा गाँधी ने हिंदी-हिंदुस्तानी को व्यापक प्रतिष्ठा दी। पर भाषा के रूप में डॉ. गिलक्राइस्ट ने सर्वप्रथम इसका भ्रामक प्रचार किया।

अंग्रेजी शासन के प्रारम्भिक काल में भाषा-नीति-निर्धारण में फोर्ट विलियम कॉलेज और डॉ. गिलक्राइस्ट का विशेष हाथ रहा है। इस बात को लल्लू लाल और सदल मिश्र ने अपनी रचनाओं की भूमिका में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। गिलक्राइस्ट ने 'हिंदुस्तानी' को मूल मानकर यह निर्देश दिया है कि उसकी तीन श्रेणियाँ हैं-(1) हाईकोर्ट की अर्थात् फ़ारसी शैली, (2) बीच की अर्थात् मान्य हिंदुस्तानी शैली, और (3) गँवारी हिंदवी। फ़ारसी शैली के उद्धरण सौदा, वली, मीर, दर्द आदि की रचनाओं में मिलते हैं। हिंदवी नीचे स्तर के नौकरों और हिंदुओं की भाषा है। इनके बीच की शैली (हिंदुस्तानी) मुंशियों की बोलचाल की भाषा है। इसी मुंशियों की शैली के समर्थक गिलक्राइस्ट थे।

यहाँ यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि मुंशी लोग दरबारों से सम्बद्ध थे अत: पहले उनकी भाषा का रूप सामान्य बोलचाल का ही क्यों न रहा हो, पर उनके लिए यह आवश्यक हो गया होगा कि वे अपने मालिकों की शैली अर्थात् दरबार की फ़ारसी शैली का

अनुकरण करें। फल यह हुआ कि जिस मध्यम श्रेणी की चर्चा गिलक्राइस्ट महोदय ने की और जिसके प्रति उनका आग्रह अंत तक बना रहा, वह धीरे-धीरे फारसी-मिश्रित हिंदुस्तानी (उर्दू) में बदल गई और हिंदुस्तानी शब्द बाद में चलकर उर्दू का पर्याय बन गया। यह बात इन तथ्यों में और भी स्पष्ट हो जाती है कि डाउसन ने जिस व्याकरण का निर्माण किया, उसमें हिंदुस्तानी को उर्दू का पर्याय माना है, यह उस पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है-'ए ग्रामर ऑफ उर्दू और हिंदुस्तानी लैंग्वेज''। सर रिचर्ड ने 19वीं शताब्दी की हिंदुस्तानी को उर्दू के रूप में स्वीकार किया। मुंशियों की हिंदुस्तानी बोली फारसी की ओर आकर्षित होकर धीरे-धीरे जन-सामान्य की भाषा से कैसे दूर हो गई, इस विषय में मद्रास के गर्वनर (1852-60) का यह कथन द्रष्टव्य है-"फोर्ट विलियम कॉलेज के तत्त्वधान में पनपी हिंदुस्तानी, हिंदुस्तान के किसी भी भाग में नहीं बोली जाती।''

डॉ. गिलक्राइस्ट ने हिंदुस्तानी के चाहे किसी रूप को भी स्वीकार किया हो, लेकिन यह निश्चित है कि उसका मूलाधार उन्होंने 'हिंदवी' को ही माना है। यह 'हिंदवी' मुसलमानों के आक्रमण के पहले बोली जानेवाली हिंदुओं की भाषा का ही नाम है। पहले यह जन-साधारण की बोली थी और बाद में अरबी-फारसी शब्दों से समृद्ध हुई। उन्होंने स्वयं लिखा है-"हिंदुस्तानी का यह रूप कुछ ही समय पहले अरबी-फारसी से निर्मित ऊपर की इमारत है। जिस प्रकार अंग्रेज़ी के लिए फ्रांसीसी और लैटिन भाषा है (अर्थात् अंग्रेजी ने उनसे शब्द लिए हैं), उसी प्रकार हिंदुस्तानी के लिए फ़ारसी और अरबी को माना जा सकता है। अंग्रेजी का मूलाधार अगर सैक्सन है तो हिंदुस्तानी का मूलाधार है हिंदवी। क्या यहाँ यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता कि जब फ्रांसीसी और लैटिन शब्दों के आ जाने से अंग्रेजी का नाम नहीं बदला तो जान गिलक्राइस्ट महोदय ने हिंदवी में अरबी-फारसी के समावेश होने मात्र से उसे हिंदुस्तानी नाम देने की आवश्यकता को क्यों अनुभव किया? सुविधा के लिए चाहे जो नाम दिया जाए, परंतु भाषावैज्ञानिक दृष्टि से यह भ्रामक है। आश्चर्य की बात है कि यह भ्रामक दृष्टिकोण न केवल विदेशी विद्वानों का है वरन् कुछ भारतीय विद्वान भी इससे मुक्त नहीं हैं। हिंदी-उर्दू भाषा को साम्प्रदायिकता से जोड़कर इसे मजहबी भाषा बनाने का जो प्रयास हुआ, उसका दुष्परिणाम हमारे सामने है। इस विरोध को मिटाने के लिए गाँधीजी जैसे राजनीतिक नेता और प्रेमचंद जैसे साहित्यकार ने सराहनीय प्रयास किया।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'हिंदुस्तानी' कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है, वरन् यह हिंदी का ही एक सरल बोलचालवाला रूप है।

## हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी : सम्प्रति मान्यताएँ

### हिंदी

अपने व्यापक अर्थ में हिंदी, अक्षेत्रीय भाषा है, जिसे दो निश्चित संदर्भों में परिभाषित किया जा सकता है:

(क) भारतवर्ष की प्रमुख राजभाषा के रूप में : भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343, खंड 1 के अनुसार "संघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी होगी।"

संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुसार इस हिंदी की प्रकृति इस प्रकार निर्मित है-"हिंदी भाषा की प्रसार-वृद्धि करना, उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सब तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किए बिना हिंदुस्तानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात् करते हुए तथा जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यत: संस्कृत से तथा गौणत: अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्तव्य होगा।"

राजभाषा के रूप में हिंदी भारत के विभिन्न भाषिक समाज के बीच सम्पर्क-सूत्र के रूप में सिद्ध है।

(ख) अधीनस्थ बोलियों के वर्नाक्यूलर के रूप में : इस दृष्टि से यह अपनी बोलियों, यथा-ब्रज बुंदेली, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि के बीच सम्पर्क-सूत्र के रूप में स्थित वह भाषा है जिसे विभिन्न बोली समुदाय के व्यक्ति अपनी सामाजिक अस्मिता के लिए सहज रूप में स्वीकार करते और सीखते हैं।

अपने सीमित अर्थ में हिंदी खड़ी बोली का वह संस्कारिक रूप है, जिसके भीतर विभिन्न सामाजिक एवं साहित्यिक शैलियाँ-अरबी-फ़ारसी-मिश्रित उर्दू, संस्कृत-मिश्रित उच्च हिंदी, सामान्य हिंदुस्तानी आदि समाहित हैं।

भाषा-प्रयोक्ता की दृष्टि से विभिन्न शैलियों पर अधिकार रखनेवालों को श्रीवास्तव (1969) ने चार निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया है (देखिए आगे दिया गया चित्र):

(1) मात्र हिंदुस्तानी सक्षम प्रयोक्ता।

(2) हिंदुस्तानी के साथ उच्च हिंदी शैली पर अधिकार प्राप्त प्रयोक्ता।

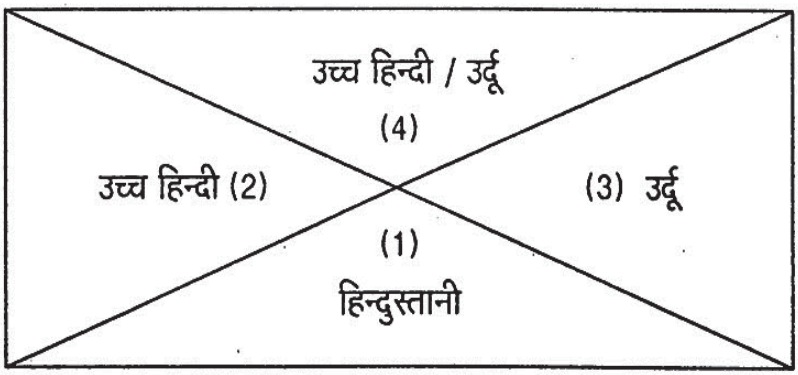


(3) हिन्दुस्तानी के साथ उर्दू शैली पर अधिकार प्राप्त प्रयोक्ता ।

(4) उच्च हिन्दी और उच्च उर्दू दोनो ही शैलियों पर अधिकार प्राप्त प्रयोक्ता।

अपने सीमित अर्थ में हिन्दी' से तात्पर्य इन चारों शैलियों के साथ रहता है। इस नाते उर्दू और उच्च साहित्यिक हिन्दी दोनों ही हिन्दी की मात्र शैलियाँ है।

इस दृष्टि को अपनाने के कारण केलकर ने हिन्दी के लिए एक समुच्चयबोधक शब्द 'हिन्दू' का प्रोग्राम किया है।

अपने संकुचित अर्थ में हिन्दी न केवल खड़ी बोली का पर्याय है, वरंन् भाषा प्रयोक्ता के संदर्भ में वह ऊपर दिये गये चित्र के खंड (2) तक सीमित है, अर्थात इसके भीतर मात्र हिन्दुस्तानी के साथ उच्च हिन्दी शैली पर अधिकार प्राप्त प्रयोक्ता आते हैं। इस संदर्भ में उर्दू हिन्दी की शैली न होकर एक अलग भाषा के रूप में स्वीकृति पाती है।

उर्दू

उर्दू को एक स्तर पर हिन्दी का शैली माना जा सकता है और दूसरे स्तर पर एक विशिष्ट साहित्यिक भाषा।

(क) हिन्दी का शैली रूप : हिन्दी के मूल में अगर हिन्दुस्तानी को माना जाए तब उर्दू भी उसी प्रकार हिन्दी की एक साहित्यिक शैली है, जिस प्रकार संस्कृत परिनिष्ठित उच्च साहित्यिक हिन्दी। भिन्नता इस आधार पर है कि उर्दू में अरबी- फारसी मिश्रित शब्दावली और शब्द निर्माण का आधिक्य रहता है और उसके प्रयोक्ता सामान्यतः अरबी फारसी लिपि का प्रयोग करते है।, जबकि उच्च साहित्यिक हिन्दी भाषा के प्रयोक्ता का आग्रह संस्कृत भर रहता है और वे देवनागरी लिपि का प्रयोग करते हैं । इस दृष्टि से असाहित्यिक (सामान्य व्यवहार) शैली रूप में साहित्यिक हिन्दी और साहित्यिक उर्दू समरूपी हो जाते है।उदाहरण

के लिए सामान्य व्यवहार की क्रियाएँ, यथा-रोना-हँसना, खाना-पीना; समयसूचक शब्द-सुबह-शाम, दोपहर-रात, सर्दी-गर्मी; सामाजिक आर्थिक संकल्पनाएँ, यथा-पैसा-रुपया, सस्ता-महँगा, दुख-दर्द आदि शब्द ही नहीं, वरन् व्याकरणिक संरचनाएँ भी दोनों में एक जैसी मिलती हैं।

(ख) विशिष्ट साहित्यिक रूप : साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्कार के रूप में उर्दू की अपनी विशिष्ट प्रकृति है। उर्दू ने एक विशिष्ट साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्परा का निर्माण किया है, जिसे हिंदी-परम्परा के समानांतर रखा जा सकता है। इस परम्परा के दबाव को महसूस करनेवाले शब्द-निर्माण में संस्कृत को स्रोतवश नहीं स्वीकार करते और पारिभाषिक शब्दावली को एक भिन्न स्तर पर सिद्ध करते देखे जा सकते हैं। यह दबाव एक विशिष्ट सामाजिक अस्मिता को भी जन्म देता है, जिसके फलस्वरूप उर्दू को भारतीय संवैधानिक मान्यता भी मिली है।

हिंदुस्तानी

पारिभाषिक शब्द के रूप में हिंदुस्तानी के दो संदर्भ देखने को मिलते हैं:

(1) सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ : हिंदी और उर्दू के प्रश्न को हिंदू-मुसलमानों की धार्मिक भाषा के संदर्भ में रखनेवालों के विरोध में सामने लाई जानेवाली भाषा की संकल्पना के रूप में 'हिंदुस्तानी' को देखा जा सकता है। महात्मा गाँधी ने साम्प्रदायिक भावना के विरोध के रूप मे ही हिंदुस्तानी को स्वीकार किया। इस दृष्टि से, 'हिंदुस्तानी' हिंदी की सामान्य बोलचाल की वह सामान्य भाषा-शैली है, जिसे उर्दू का भी पर्यायवाची माना जा सकता है और हिंदी का भी। इस दृष्टि से, 'हिंदुस्तानी' हिंदी की वह सामान्य भाषा-शैली है जिसको उत्तर में हिंदू व मुसलमान बोलते हैं और जो नागरी अथवा फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है। साहित्यिक हिंदी और साहित्यिक उर्दू पंडितों और मुल्लाओं की शिक्षित और परिनिष्ठित हिंदुस्तानी' के दो प्रतिफलित रूप हैं।

(2) भाषा वैज्ञानिक संदर्भ : (क) भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से 'हिंदुस्तानी' एक अमूर्त, पर यथार्थपरक संकल्पना है। यह हिंदी और उर्दू भाषा-रूपों का संकल्पित मूलाधार है। पीछे दिए गए चित्र में खंड (2) और खंड (3) के भाषा-प्रयोक्ताओं-हिंदुस्तानी के साथ उच्च हिंदी पर अधिकार प्राप्त प्रयोक्ता और हिंदुस्तानी के साथ उर्दू पर अधिकार प्राप्त प्रयोक्ता- की क्षमता तो यथार्थवत् सिद्ध है और उसे व्यक्ति की भाषायी क्षमता के रूप में देखा जा सकता है, पर इस दृष्टि से मात्र हिंदुस्तानी बोलनेवालों की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

वह तो दोनों ही खंडों के भाषा-प्रयोक्ताओं के समान पक्षों की अवधारणा के रूप में देखी जा सकती है। (ख) अपने व्यावहारिक रूप में 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी और उर्दू के मूल में प्रवाहित होने वाली वह धारा है, जिसका सम्बन्ध भाषा की तदभव प्रकृति से जुड़ा है। यह तदभव प्रकृति हिन्दी भाषा की अपनी सहज और स्वाभाविक शैली से सम्बद्ध रहती है न कि आरोपित और शिष्ट शैली से। इस हिन्दुस्तानी को सीखनेवाला सहज रूप में भाषा को अनौपचारिक रूप से सीखता और बोलता है, जबकि साहित्यिक हिन्दी और उर्दू की शिक्षा के लिए कक्षा तथा अन्य औपचारिक संदर्भों की आवश्यकता पड़ती है।

शामाजिक अस्मिता का सवाल और हिन्दी

भाषा एक सामाजिक यथार्थ है - इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। भाषाविद् उसकी परिभाषा देते हुए यह कहते हैं कि भाषा, शाब्दिक प्रतीकों की व्यवस्था है। और शिक्षाविंद् यह बताते हैं कि वह हमारे विचारों की अभिव्यक्ति एवं सम्प्रेषण का सशक्त माध्यम है। ऐसी परिभाषाएँ भाषा सम्बन्धी यथार्थ के अधूरे पक्ष पर ही प्रकाश डालती है। भाषा को व्याकरणिक व्यवस्था अथवा अभिव्यक्ति का माध्यम बताकर, वस्तुतः हम न केवल उचित संदर्भ से काटकर उसे देखना परखना चाहते हैं, बल्कि भाषा की उस सामाजिक शक्ति से भी आँख बंद कर लेना चाहते हैं, जो किसी एक समुदाय के सभी व्यक्तियों की भावना, चिंतन और जीवन दृष्टि के धरातल पर एक दूसरे से नजदीक लाती हैं

इस सामाजिक अस्मिता के सवाल के संदर्भ में जब हम हिन्दी पर विचार करते हैं, तब उसके कई पहलू स्वयमेंव उभर आते हैं। हम इन समस्याओं के कुछ ऐसे सन्दर्भों पर यहाँ बात करना चाहेंगे जो हमारी भाषा नीति पर आज प्रश्न चिन्ह बने हुए हैं।

हिन्दी की अपनी कई क्षेत्रीय बोलियाँ हैं, क्या ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि। शुद्ध भाषिक रचना की दृष्टि से जिस प्रकार खड़ी बोली के सांस्कृतिक रूप में मान्य हिन्दी, एक 'भाषा' है और उसका एक विशिष्ट व्याकरण है, उसी प्रकार ये बोलियाँ भी 'भाषा' है, क्योंकि इनकी भी अपनी विशिष्ट रचना या व्यवस्था है, इनका भी अपना एक व्याकरण है। पर भारत जैसे बहुभाषिक देश में, भाषा बोली भेद का आधार मात्र व्याकरणिक व्यवस्था नहीं होती। यहाँ भाषा- बोली भेद का आधार वह भाषायी चेतना है जिसकी प्रकृति संस्थागत है : प्रायः यह देखा गया है कि जातीय पुनर्गठन की सामाजिक प्रक्रिया के दौरान कोई बोली व्यापार, राजनीति या संस्कृति के कारण अन्य जनपदीय बोलियों की तुलना में विशेष महत्व पा लेती है, जिसके परिणामस्वरूप अन्य बोलियों के बोलनेवालों के बीच सम्पर्क - साधन का भी काम करने लगती है । बाद में अन्य बोलियों का प्रयोग करने वाले व्यक्ति

भी इस प्रतिष्ठित और सम्पर्क-साधन के रूप में प्रयुक्त बोली के साथ अपनी सामाजिक अस्मिता जोड़ने लगते हैं। भाषा-बोली-भेद के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि विभिन्न बोलियों के बीच सम्पर्क-साधन का काम करनेवाली प्रतिष्ठाप्राप्त बोली ही 'भाषा' कहलाती है, जबकि अन्य जनपदीय बोलियाँ मात्र 'बोली'। आज की स्थिति में 'खड़ी बोली' के पर्याय के रूप में मान्य 'हिंदी' तो भाषा है, पर 'ब्रज', 'अवधी', 'भोजपुरी' आदि मात्र उसकी बोलियाँ।

भाषा-बोली के सम्बन्धों पर विचार करते समय कुछ विद्वानों ने बोधगम्यता के सिद्धांत को सामने रखकर, यह संकेत देना चाहा है कि भाषा और बोली में व्याकरणिक भेद तो होता है, पर इतना नहीं कि उनके बोलनेवाले एक-दूसरे की बात समझ न सकें। इस दृष्टि से दो बोलियाँ जब परस्पर बोधगम्य न होंगी, तब वे एक ही भाषा की दो बोलियाँ कहलाएँगी। भाषा-बोली के व्याकरणिक एवं बोधगम्यता के इन्हीं आधारों पर प्रसिद्ध भाषाशास्त्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने 'मैथिली' को हिंदी से अलग करना चाहा पर भाषा-बोली-भेद के ये आधार नितांत भ्रामक हैं। चीनी भाषा की मान्य कई बोलियाँ (मंडारिन, कैंटोनीज, पेकेगीज़) आपस में बोधगम्य नहीं, जर्मन भाषा की कई ऐसी क्षेत्रीय बोलियाँ हैं, जिनकी व्याकरणिक संरचना एक-दूसरे से नितांत भिन्न है, फिर भी वे एक ही भाषा की भिन्न बोलियाँ कही जाती हैं। इसके विपरीत फ्रेंच और इतालवी अपनी-अपनी भाषा में बात करते हैं और वे एक-दूसरे की बात समझ लेते हैं, फिर भी जातीय इतिहास, साहित्य, संस्कृति एवं राजनीतिक आधार, उन्हें दो भिन्न भाषा-भाषी बना देते हैं।

इन उदाहरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भाषा-बोली का व्याकरणिक या बोधगम्यता का आधार तर्कसंगत नहीं।

हिंदी मात्र व्याकरण नहीं और न ही वह केवल विशिष्ट भाषिक संरचना है। भाषा के रूप में वह एक सामाजिक संस्था भी है, संस्कृति के रूप में भाषायी प्रतीक भी है और साहित्य के रूप में वह एक जातीय परम्परा भी है।

सामाजिक संस्था के रूप में सिद्ध हिंदी ही उसकी विभिन्न बोली बोलनेवालों को 'हिंदीभाषी' मानने की ओर प्रवृत्त करती है। मेरे कई ऐसे भाषाविज्ञान के पंडित मित्र हैं, जो मुझसे यह कहलाना चाहते हैं कि मेरी मातृभाषा 'भोजपुरी' है, 'हिंदी' नहीं। ऐसे ही विद्वान 'मातृभाषा' का हवाला देकर हिंदी की जनपदीय चेतना को खंडित कर उसकी संस्थागत सामाजिक अस्मिता को तोड़ना चाहते हैं। ऐसे कुछ राजनेता भी हैं, जो क्षेत्रीयता के नाम पर एक ओर मैथिली, नेपाली आदि हिंदी की बोलियों को स्वायत्त-भाषा का दर्जा दिलाने

के पक्ष में हैं और दूसरी तरफ भोजपुर, विशाल हरियाणा, बुंदेलखंड आदि के निर्माण सम्बन्धी राजनीतिक आंदोलन के लिए भाषायी आधार ढूँढने में संलग्न हैं। उनका तर्क है कि भोजपुर, बुंदेलखंड आदि एक भाषायी क्षेत्र हैं, जिनके बोलनेवालों की मातृभाषा 'भोजपुरी' और बुंदेली' है, न कि हिंदी।

मातृभाषा का यह तर्क वस्तुत: राजनीतिक कुचक्र का परिणाम है, जिसके पीछे जाने-अनजाने रूप में भाषा के उन पंडितों का भी हाथ माना जा सकता है, जो हिंदी की भाषायी अस्मिता की सामाजिक प्रकृति को उसके उचित संदर्भ में देख नहीं पाते। पेरिस में यूनेस्को द्वारा आयोजित (सन् 1977) भाषाविदों की एक गोष्ठी में मातृभाषा की संकल्पना के संदर्भ में मैंने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था कि मातृभाषा के दो प्रयोजनात्मक अर्थ माने जा सकते हैं। पहले अर्थ में वह एक ऐसी भाषा है, जिसमें उसके बोलनेवाले सबसे पहले अपने भाषायी बोध का निर्माण करते हैं। इस संदर्भ में मातृभाषा, बचपन में सीखी जानेवाली पहली भाषा होती है। इसे हम 'झूले और पालने' की भाषा भी कह सकते हैं अपने दूसरे अर्थ में मातृभाषा सामाजिक अस्मिता की भाषा होती है जिससे व्यक्ति भाव, विचार, संस्कार और अपने जातीय इतिहास एवं परम्परा से जुड़ता है। समाजीकरण की प्रक्रिया से गुजरकर ही व्यक्ति मातृभाषा के इस दूसरे संदर्भ को आत्मसात् करता है। इसे हम 'संस्थागत अस्मिता' की भी भाषा कह सकते हैं।

भाषा-बोली-भेद का एक दूसरा भ्रमात्मक आयाम है-बिहारी, राजस्थानी आदि भाषाओं की संकल्पना। हम सन् 1961 की जनगणना में पाते हैं कि बिहार प्रदेश में अगर हिंदी को वहाँ की कुल आबादी के 44.30 प्रतिशत की मातृभाषा बताया गया है, तो बिहारी को 35.39 प्रतिशत की। इस प्रकार राजस्थान में हिंदी को मातृभाषा के रूप में अपनानेवालों की संख्या 33.32 प्रतिशत है, तो राजस्थानी की 56.49 प्रतिशत। जब इन आँकड़ों की हिंदी जनपद के कुछ अन्य प्रदेशों से तुलना करते हैं, तब एक विचित्र स्थिति सामने उभरती है। उदाहरण के लिए उत्तरप्रदेश या मध्यप्रदेश में हिंदी मातृभाषा-भाषियों की संख्या वहाँ की कुल आबादी का क्रमश: 85.39 और 78.97 प्रतिशत है। इन आँकड़ों के आधार पर क्या हम यह कहें कि उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में हिंदी वहाँ के बहुसंख्यकों की भाषा है और बिहार एवं राजस्थान में अल्पसंख्यकों की?

वास्तविकता तो यह है कि जनगणना में हिंदी का एक गेलत खाका खींचा गया है। अगर ब्रजभाषा और अवधी बोलनेवालों को हिंदीवर्ग में रखा गया है, तब कोई कारण नहीं है कि तथाकथित बिहारी या राजस्थानी बोलनेवालों को हिंदी से अलग कर दिखाया जाए। इस संदर्भ में एक-दो बातों पर ध्यान दिया जा सकता है। सबसे पहले इस बात को साफ कर

लेना जरूरी है कि 'बिहारी' या 'राजस्थानी' जैसी कोई भाषा भारत में नहीं है। ये नाम कुछ बोलियों के समुच्चय के रूप में ग्रहीत हैं, यथा-भोजपुरी, मैथिली और मगही के समुच्चय के रूप में 'बिहारी' और मारवाड़ी, मेवाती, मालवी आदि बोलियों के समुच्चय के रूप में 'राजस्थानी'। इन नामों के सर्वप्रथम प्रयोक्ता जार्ज ग्रियसन हैं, जिन्होंने भाषाओं के वर्गीकरण के लिए उनके इतिहास को अपना आधार बनाकर यह दिखलाना चाहा कि ब्रज, बुंदेली, कन्नौजी, खड़ी बोली, तो शैरसेनी अपभ्रंश से निकली बोलियाँ हैं, पर 'राजस्थानी' के अंतर्गत आनेवाली बोलियों के पीछे नागर अपभ्रंश है और 'बिहारी' का उद्भव-स्रोत मागध आपभ्रंश है।

ऐतिहासिक आधार पर 'राजस्थानी' और 'बिहारी' को हिंदी से अलग स्वायत्त सत्ता दिलानेवाले ग्रियसर्न यह भूल गए कि भाषा-बोली का आधार 'भाषाओं' का शुद्ध भाषावैज्ञानिक इतिहास नहीं होता। उसका आधार तो उन भाषाओं के बोलनेवालों का सामाजिक इतिहास होता है, क्योंकि सामाजिक प्रक्रिया के दौरान जनसमुदाय का जातीय पुनर्गठन होता है।

'बिहारी' के प्रति ग्रियर्सन का अतिरिक्त उत्साह वस्तुतः दुराग्रह की सीमा तक दिखाई पड़ता है। उन्होंने अपने प्रशासनिक जीवन का एक बहुमूल्य समय बिहार प्रदेश में रहकर बिताया था। वहाँ की सात बोलियों का उन्होंने न केवल व्याकरण लिखा था, बल्कि बिहार के कृषक-जीवन पर एक प्रामाणिक पुस्तक की रचना भी की थी। बिहार की धरती से जुड़कर अंतरंग भाव से वहाँ के लोगों से सम्बन्ध बनाया था। 'कलकत्ता रिव्यु' में सन् 1880 के एक अंक में प्रकाशित अपने लेख में उन्होंने यह जोरदार अपील की कि बिहार के न्यायालयों की भाषा वहाँ की जनभाषा (मैथिली, मगही, भोजपुरी आदि) न होकर 'हिंदी' है। कैथीलिपि पर सन् 1881 में प्रकाशित अपनी पुस्तक में उन्होंने अपने विचार को और भी खोलकर रखा। उनके अनुसार बिहार में हिंदी एक 'विदेशी भाषा' है, फिर भी सरकार ने उसे न्यायालयों एवं प्रशासनिक प्रयोजनों की भाषा बना रखी है। उनके मत में हिंदी बिहार में कभी भी जनभाषा का दर्जा नहीं पा सकती।

आज समय ने यह साबित कर दिया है ग्रियर्सन द्वारा हिंदी की खींची हुई तस्वीर कितनी गलत और भ्रामक है।

भारत एक बहुभाषाभाषी और बहुसांस्कृतिक देश है, इस तथ्य को हम सभी स्वीकार करते हैं। पर भाषा-व्यवहार और सांस्कृतिक मूल्य के धरातल पर हम किस प्रकार एक-दूसरे से जुड़े हैं और जुड़कर किस प्रकार हमने 'राष्ट्रीय चेतना' का निर्माण किया है, इस पर हमने गहराई से नहीं सोचा। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सम्प्रेषण तंत्र में अगर

स्थानीय बोलियों का योग है तो लिंगुआ-फ्रेंका के रूप में जनपदीय भाषाओं हिंदी और अंग्रेजी का भी। और अगर भाषाएँ, सामाजिक अस्मिता के निर्माण के साधन और उसके बनने के सूचक के रूप में काम करती हैं, तो हमारी भाषा सम्बन्धी सामाजिक अस्मिता भी स्तरीकृत होगी। इस संदर्भ में हम यह कह सकते हैं कि हिंदीभाषी एक स्तर पर अपनी बोलियों से जुड़ा है और दूसरे स्तर पर अपनी भाषा हिंदी से भी। इसी प्रकार अहिंदी भाषी एक स्तर पर अपनी जनपदीय भाषा से भी जुड़ा है और अखिल भारतीय संदर्भ में हिंदी और अंग्रेजी से भी।

## सामाजिक अस्मिता और हिंदी-उर्दू का सवाल

इसके साथ यह बात भी गौर करने की है कि भाषा के रूप में 'उर्दू' शब्द का प्रयोग हमें अठारहवीं शती तक नहीं मिलता, जबकि मुसलमानों का आगमन और साथ ही फ़ारसी का राजभाषा के पद पर आसीन होने का इतिहास लगभग छह-सात सौ साल पुराना है। उर्दू का जन्म कब हुआ, यह सैयद इंशा की 'दरियाए-लताफ़त' (1808 ई.) और मुहम्मद बाकर 'आगाह' (1743-1805 ई.) की कलम से बहुत कुछ साफ़ हो जाता है, जो यह मानते हैं कि उर्दू 'भाषा' का आविष्कार मुहम्मदशाह रंगीले के शासन-काल में हुआ। बोली के अनुसार 'उर्दू' शब्द का प्राचीनतम प्रयोग मसहफी की रचना में मिलता है, जिनका जीवन-काल 18वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इतिहास बताता है कि 1347 में बहमनी राज्य की स्थापना हुई और अगर 'तारीखे-फरिश्ता' की बात ठीक मानें तो बहमनी बादशाह के राज्य में हिसाब-किताब हिंदी में ही होता था। हिंदी के ऊपर उर्दू का तबका लगाकर जो उसे मुसलमान जाति से जोड़ते हैं, उन्हें बाबूराम सक्सेना के इस प्रमाण-वाक्य को ध्यान से पढ़ने की जरूरत है: "जिस बोलचाल की भाषा में अमीर खुसरो और शेख फ़रीदुद्दीन शकरगंजी आदि प्रारम्भ काल के कलाकारों ने रचना की और जिसका साहित्य उत्तर भारत में लुप्त होकर दक्खिन में 15वीं, 16वीं, और 17वीं सदी में फूट निकला, उसका नाम हिंदवी और हिंदी था और उसी को दक्खिनी साहित्यकार दक्खिनी कहते थे।'' 'उर्दू' नाम दक्खिनी के किसी भी कलाकार के ग्रंथ में नहीं आया। चाहे दक्खिन हो या उत्तर, 18वीं शती के पहले तक हम 'उर्दू' नाम का पता नहीं पाते। अमीर खुसरो से लेकर 'मीर' तक इस जबान को 'हिन्दी' नाम से ही हम लिखा पाते हैं। अमीर खुसरो का कहना है-"मैं हिन्दुस्तानी तुर्क हूँ, और हिंदी में जवाब दे सकता हूँ। मेरे पास मिस्र की शकर नहीं है कि अरब की बात करूँ।'' और 'मीर' सरूरेकल्ब का पता इसलिए नहीं जानते, क्योंकि वह "आया नहीं है लफ्ज ये हिंदी जबाँ के बीच।''

हिंदी-उर्दू एक ही भाषा है, "जिसे पहले उर्दू कहा गया वह वास्तव में हिंदी ही है और हिंदी में लिखनेवाले तुर्क और मुसलमान दोनों ही हैं, तथा 'उर्दू' को जबान और साहित्य के रूप में माननेवाले गैर-मुस्लिम लोग भी हैं-आदि के आधार पर यह अंतिम निर्णय दे देना कि आज हिंदी और उर्दू की चेतना एक ही है और यह चेतना समाज के हर स्तर पर महसूस की जाती है, सच्चाई के एक हिस्से को ही हमारे सामने लाता है। इसका एक दूसरा पहलू भी है।

सच तो यह है कि हिंदी और उर्दू की लड़ाई भाषा की लड़ाई कम, भाषायी अस्मिता की लड़ाई अधिक है। और अगर ऐसा है तो यह देखना अनुचित न होगा कि सामाजिक यथार्थ के धरातल पर कौन 'लोग', 'किसके खिलाफ' और 'किस चीज के लिए' यह लड़ाई लड़ रहे हैं।

हिंदी और उर्दू एक भाषा है; उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं। वह केवल फ़ारसी लिपि में लिखी जानेवाली खड़ी बोली हिंदी का ही एक रूप है, जिसने अरबी-फ़ारसी शब्दावली और काव्य-रूढ़ियों को किसी खास ऐतिहासिक परिस्थिति में विशेष रूप से अपनाया। हिंदी और उर्दू एक ज़बान है, उनके बोलनेवालों की जमीन एक है - इस बात को गाँधीजी जैसे नेता ने भी कहा है, प्रेमचंद ऐसे साहित्यकार ने भी बताया है और केलकर ऐसे भाषाविद् ने भी समझाया है। एक ने उसकी आधारभूत एकता को 'हिंदुस्तानी' नाम से पकड़ना चाहा और दूसरे ने 'हिंदू' शब्द गढ़कर। पर सवाल तो यही है कि जब हिंदी और उर्दू एक हैं तब सामाजिक नेता, चिंतक, साहित्यकार और तटस्थ भाषा-वैज्ञानिक, ये सभी हिंदी-उर्दू को एक साबित करने की जबरदस्त जरूरत क्यों महसूस करते हैं? इसी के साथ एक सवाल यह भी है कि जब 18वीं शती तक हम 'उर्दू' शब्द का प्रयोग नहीं पाते और 'गालिब' को अपना दीवान 'हिंदी का' और 'मीर' को अपनी जबान 'हिंदी' घोषित करते पाते हैं-तो बाद में ऐसी क्या बात हो गई कि हम उसी हिंदी की एक शैली को 'उर्दू' के नाम से जानने-समझने लगे? और यही नहीं, जब हम ब्रज और अवधी में (जो आज बोलियों के रूप में मान्य हैं) रचे साहित्य को भी रिक्त रूप में हिंदी का ही साहित्य समझते है, तब उर्दू को 'हिंदी की एक शैली' के रूप में स्वीकार करने के बावजूद उसके साहित्य को हिंदी के इतिहास से क्यों नहीं जोड़ सके? यह भी सवाल कम अहमियत का नहीं है कि पाकिस्तान रेडियो और हिंदुस्तानी रेडियो पर बोली जानेवाली उर्दू भाषा ('शैली'?) में क्यों आज एक दरार-सी पड़ने लगी है और यह महसूस किया जाने लगा है कि उनके बीच की खाई दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाएगी?

सच तो यह है कि जिस भाषा-शैली को उर्दू नाम से पुकारा गया, वह आम जनता की जबान नहीं थी। वह शाही जबान थी जो राजघरानों में तालीम के द्वारा हासिल की जाती रही है और जिसे अपना कहकर शाही टुकड़ों के मोहताज शायरों ने गुलदस्ते की तरह सजाया। अपनी तौसीफ में वह सूरदास की 'लौकिक' ब्रज के कम और केशवदास की परिनिष्ठित ब्रज के अधिक नजदीक थी। मेहनतकश मजदूरों का जौ-बाजरा बनने की बजाय उसने बादशाहों के बगीचे में उगाए जानेवाले गुलाब का फूल बनना ज्यादा पसंद किया। अन्य लोगों की फ़ारसी-मिश्रित हिंदी को ये 'उर्दू' नहीं, बल्कि 'पुड़दू' कहा करते थे। सैयद अहमद देहलवी की तरह उन लोगों का दिल इन बातों को कभी कबूल नहीं कर सका कि "सरतासर टकसाल बाहर जबान हो और यह बंदा उसकी तौसीफ में हमातन रतबुल्लिसान हो। कोई लफ्ज कबाअते मंजबत से बाहर हो और हमारे दोस्त उसे सराहें।''

अलगाव की इस भाषा-नीति को दूसरा आयाम दिया अंग्रेजों-विदेशियों ने। भाषा-नीति निर्धारण में फोर्ट विलियम कॉलेज की गहरी साजिश रही है। गिलक्राइस्ट ने 'हिंदुस्तानी' के नाम पर 'उर्दू' की तीन शैलियाँ बताईं-(1) हाईकोर्ट की, अर्थात् फ़ारसी शैली, (2) बीच की; अर्थात् मुंशियों की शैली और (3) गँवारू, अर्थात् जन-समाज की हिंदवी। मुंशी लोगों की जिस बीच की हिंदुस्तानी को बढ़ावा देने की बात कही गई, उसके लिए यह कहा जा सकता है कि मुंशी लोग दरबार या हाईकोर्ट से सम्बद्ध थे अत: उनके दैनिक जीवन की भाषा भले ही बोल-चाल की शैली को अपनाने की ओर झुकी हो, पर उनकी सामाजिक अस्मिता का आधार दरबार या हाईकोर्ट की शैली थी। नकल करें, अपनाएँ और वैसा ही दीखने के लिए जन-समाज की बोली बोलनेवालों से अपने को अधिक विशिष्ट सिद्ध करें। इसलिए हिंदुस्तानी फ़ारसी-मिश्रित 'उर्दू' में ढलती गई। अत: डाउसन ने 1872 में जब हिंदुस्तानी भाषा का व्याकरण लिखा, उसे उर्दू का पर्याय माना, रिचर्ड टेम्पल ने हिंदुस्तानी और उर्दू में कोई फर्क नहीं देखा और जैसा मद्रास के गर्वनर विलियम्स ने 1869 में लिखा, फोर्ट विलियम की देख-रेख में जो हिंदुस्तानी पनपी, जिसे मुंशियों ने अपनाया और मुसलमानी मदरसे में वहाँ के लड़कों ने सीखा, वह हिंदुस्तान के किसी भाग में नहीं बोली जाती थी।

अगर हिंदी-उर्दू दोनों इस धरातल पर एक हैं तो उसी भाषा की अन्य प्रयोजनमूलक शैलियाँ भी एक होंगी तो इसी धरातल पर। जरूरत है तो इन भाषा-प्रयोगों और प्रयोजनमूलक शैलियों के उन आधारों को जनता-संदर्भित करने की, जिन पर ये अलग होती हैं, विशिष्ट बनती हैं। जब तक हम अपनी पूरी बौद्धिक चेतना, शिक्षा सम्बन्धी पूरे कार्य, राज्य और व्यापार-सम्बन्धी क्रियाकलाप को आम जनता के लिए सुलभ नहीं बनाते, ऐसी विभाजन-रेखाएँ

उभरती रहेंगी, लोगों के बीच की खाई बढ़ती रहेगी, भाषा-व्यवहार में व्यतिक्रम और गतिरोध आता रहेगा। इसको दूर करने का एक ही रास्ता है-भाषायी अस्मिता को सामाजिक अस्मिता के संदर्भ में बाँधने का रास्ता।

सामाजिक अस्मिता उन सामाजिक सम्बन्धों पर बनती है जो इस सवाल से बँधा है-कौन, किससे और किस विषय पर बोल रहा है। जब तक हम खून में पसीना मिलाकर रोटी-रोजी का इंतजाम करने वालों को स्कूली कमरा न देंगे और कमरे में बंद रहने वालों को खेत की खुली हवा में जीने के लिए बाध्य नहीं करेंगे-एक जाति के आपसी भाषायी भेद खत्म न होंगे।

# 16. मानक हिन्दी वर्णमाला तथा अंक*

भारतीय संघ तथा कुछ राज्यों की राजभाषा स्वीकृत हो जाने के फलस्वरूप हिन्दी का मानक रूप निर्धारित करना बहुत आवश्यक था, ताकि वर्णमाला में सर्वत्र एकरूपता रहे और टाइपराइटर आदि आधुनिक यंत्रों के उपयोग में लिपि की अनेकरूपता बाधक न हो।

इन सभी बातों को ध्यान में रखकर केंद्रीय हिंदी निदेशालय ने शीर्षस्थ विद्वानों आदि के साथ वर्षों के विचार-विमर्श के पश्चात् हिंदी वर्णमाला तथा अंकों का जो मानक स्वरूप निर्धारित किया, वह इस प्रकार है :

## 1. मानक हिंदी वर्णमाला

**स्वर**

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ऐ ओ औ

**मात्राएँ**

ा ि ी ु ू ृ े ै ो ौ

**अनुस्वार**

ं (अं)

**विसर्ग**

ः (अः)

**अनुनासिकता चिह्न**

ँ

**व्यंजन**

क ख ग घ ङ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण ड़ ढ़

त थ द ध न

प फ ब भ

य र ल व ळ

श ष स ह

*केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा प्रवर्तित

संयुक्त व्यंजन

क्ष त्र ज्ञ श्र

हल् चिह्न

(इ)

गृहीत स्वन

ऑ (ॅ) ख़, ज़, फ़ क़, ग़

देवनागरी अंक

१ २ ३ ४ ५

६ ७ ८ ९ ०

भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप

1 2 3 4 5

6 7 8 9 0

संस्कृत के लिए प्रयुक्त देवनागरी वर्णमाला में तो ऋ, ॡ तथा ऌ भी सम्मिलित हैं, किंतु हिंदी में वर्णों का प्रयोग न होने के कारण इन्हें हिंदी की मानक वर्णमाला में स्थान नहीं दिया गया है।

संविधान के अनुच्छेद 343(1) के अनूसार संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होने वाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप होगा, परन्तु राष्ट्रपति संघ के किसी भी राजकीय प्रयोजन के लिए भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप के साथ-साथ देवनागरी रूप का प्रयोग भी प्राधिकृत कर सकते हैं।

परिवर्धित देवनागरी वर्णमाला

केंद्रीय हिंदी निदेशालय ने उपर्युक्त मानक हिंदी वर्णमाला के साथ ही परिवर्धित देवनागरी वर्णमाला भी विकसित की है, ताकि उसके माध्यम से सभी भारतीय भाषाओं का लिप्यंतरण देवनागरी में हो सके।

## 2. हिंदी वर्तनी का मानकीकरण

किसी भी भाषा के सीखने-सिखाने में सहायक या बाधक बनने वाले दो प्रमुख तत्व हैं, उसका व्याकरण और लिपि। लिपि का एक पक्ष है, सामान्य और विशिष्ट स्वनों के पृथक्

प्रतीक-वर्णों की समृद्धि, उनका परस्पर स्पष्ट आकार-भेद, लिखावट में सरलता तथा स्थान-लाघव एवं प्रयत्न-लाघव।

लिपि का दूसरा पक्ष है, वर्तनी। एक ही स्वन को प्रकट करने के लिए विविध वर्णों का प्रयोग वर्तनी को जटिल बना देता है और यह लिपि का एक सामान्य दोष माना जाता है। यद्यपि देवनागरी लिपि में यह दोष न्यूनतम है, फिर भी उसकी कुछ अपनी विशिष्ट कठिनाइयाँ भी हैं।

इन सभी कठिनाइयों को दूर कर हिंदी वर्तनी में एकरूपता लाने के लिए भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने 1961 में एक विशेषज्ञ समिति नियुक्त की थी। समिति ने अप्रैल 1962 में अपनी अंतिम सिफारिशें प्रस्तुत की, जिन्हें सरकार ने स्वीकृत किया। इन्हें 1967 में **हिंदी वर्तनी का मानकीकरण** शीर्षक पुस्तिका में व्याख्या तथा उदाहरण सहित प्रकाशित किया गया था।

वर्तनी संबंधी अद्‌तयन नियम इस प्रकार है :

(1) संयुक्त वर्ण

(क) खड़ी पाई वाले व्यंजन

खड़ी पाई वाले व्यंजनों का संयुक्त रूप खड़ी पाई को हटाकर ही बनाया जाना चाहिए, यथा :

| | |
|---|---|
| ख्याति, लग्न, विघ्न | द्यास |
| कच्चा, छज्जा | श्लोक |
| नगण्य | राष्ट्रीय |
| कुत्ता, पथ्य, ध्वनि, न्यास | स्वीकृति |
| प्यास, डिब्बा, सभ्य, रम्य | यक्ष्मा |
| शय्या | त्र्यंबक |
| उल्लेख | |

(ख) अन्य व्यंजन

(अ) 'क' और 'फ' के संयुक्ताक्षर :

संयुक्त, पक्का, दफ्तर आदि की तरह बनाए जाएँ, न कि संयुक्त पक्का, दफ़्तर की तरह।

(आ) ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ, द और ह के संयुक्ताक्षर हल् चिह्न लगाकर ही बनाए जाएँ, यथा :

वाङ्मय, लट्टू, बुड्ढा, विद्या, चिह्न, ब्रह्मा आदि

(वाङ्मय, लट्टू, बुड्ढा, विद्या, चिह्न, ब्रह्मा नहीं)।

(इ) संयुक्त 'र्' के प्रचलित तीनों रूप यथावत रहेंगे, यथा:

प्रकार, धर्म, राष्ट्र।

(ई) 'श्र' का प्रचलित रूप ही मान्य होगा। इसे 'श्र' के रूप में नहीं लिखा जाएगा। त्+र् के संयुक्त रूप के लिए त्र और त्र दोनों रूपों में से किसी एक के प्रयोग की छूट होगी। किंतु 'क्र' को 'क्र' के रूप में नहीं लिखा जाएगा।

(उ) हल् चिह्न युक्त से बनने वाले संयुक्ताक्षर के द्वितीय व्यंजन के साथ 'इ' की मात्रा का प्रयोग संबंधित व्यंजन के तत्काल पूर्व ही किया जाएगा, न कि पूरे युग्म से पूर्व, यथा : कुट्टिम, द्वितीय, बुद्धिमान, चिह्नित आदि।

(कुट्टिम, द्वितीय, बुद्धिमान, चिह्नित नहीं)।

(ऊ) संस्कृत में संयुक्ताक्षर पुरानी शैली से भी लिखे जा सकेंगे, उदाहरणार्थ:

संयुक्त, चिह्न, विद्या, चञ्चल, विद्वान वृद्ध, अङ्क, द्वितीय, बुद्धि आदि।

(2) विभक्ति-चिह्न

(क) हिंदी के विभक्ति-चिह्न सभी प्रकार के संज्ञा शब्दों में प्रातिपदिक से पृथक् लिखे जाएँ, जैसे-राम ने, राम को, राम से आदि तथा स्त्री ने, स्त्री को, स्त्री से आदि। सर्वनाम शब्दों में ये चिह्न प्रातिपदिक के साथ मिलाकर लिखे जाएँ, जैसे-उसने, उसको, उससे, उसपर आदि।

(ख) सर्वनामों के साथ यदि दो विभक्ति-चिह्न हों तो उनमें से पहला मिलाकर और दूसरा पृथक् लिखा जाए, जैसे-उसके लिए, इसमें से।

(ग) सर्वनाम और विभक्ति के बीच 'ही','तक' आदि का निपात हो तो विभक्ति को पृथक् लिखा जाए, जैसे-आप ही के लिए, मुझ तक को।

(3) क्रियापद

संयुक्त क्रियाओं में सभी अंगभूत क्रियाएँ पृथक्-पृथक् लिखी जाएँ, जैसे- पढ़ा करता है, आ सकता है, जाया करता है, खाया करता है, जा सकता है, कर सकता है, किया करता था, पढ़ा करता था, खेला करेगा, घूमता रहेगा, बढ़ते चले जा रहे हैं आदि।

(4) हाइफ़न

हाइफ़न का विधान स्पष्टता के लिए किया गया है।

(क) द्वंद्व समास में पदों के बीच हाइफ़न रखा जाए, जैसे-

राम-लक्ष्मण, शिव-पार्वती-संवाद, देख-रेख, चाल-चलन, हँसी-मजाक, लेन-देन, पढ़ना-लिखना, खाना-पीना, खेलना-कूदना आदि।

(ख) सा, जैसा आदि से पूर्व हाइफ़न रखा जाए, जैसे-

तुम-सा, राम-जैसा, चाकू-से तीखे।

(ग) तत्पुरुष समास में हाइफ़न का प्रयोग केवल वहीं किया जाए, जहाँ उसके बिना भ्रम होने की संभावना हो, अन्यथा नहीं, जैसे-भू-तत्व। सामान्यत: तत्पुरुष समासों में हाइफ़न लगाने की आवश्यकता नहीं है, जैसे-रामराज्य, राजकुमार, गंगाजल, ग्रामवासी, आत्महत्या आदि।

इसी तरह यदि 'अ-नख' (बिना नख का) समस्त पद में हाइफ़न न लगाया जाए तो उसे 'अनख' पढ़े जाने से 'क्रोध' का अर्थ भी निकल सकता है। अ-नति (नम्रता का अभाव): अनति (थोड़ा), अ-परस (जिसे किसी ने न छुआ हो) : अपरस (एक चर्म रोग), भू-तत्व (पृथ्वी-तत्व): भूतत्व (भूत होने का भाव ) आदि समस्त पदों की भी यही स्थिति है। ये सभी युग्म वर्तनी और अर्थ दोनों दृष्टियों से भिन्न-भिन्न शब्द हैं।

(घ) कठिन संधियों से बचने के लिए भी हाइफ़न का प्रयोग किया जा सकता है, जैसे : द्वि-अक्षर, द्वि-अर्थक आदि।

(5) अव्यय

'तक', 'साथ' आदि अव्यय सदा पृथक् लिखे जाएँ, जैसे- आपके साथ, यहाँ तक।

इस नियम को कुछ और उदाहरण देकर स्पष्ट करना आवश्यक है। हिंदी में आह, ओह, ऐ, ही, तो, सो, भी, न, जब, तब, कब, यहाँ, वहाँ, कहाँ, सदा, क्या, श्री, जी, तक, भर, मात्र, साथ, कि, किंतु, मगर, लेकिन, चाहे, या, अथवा, तथा, यश, और आदि अनेक प्रकार के भावों का बोध कराने वाले अव्यय हैं। कुछ अव्ययों के आगे विभक्ति चिह्न भी आते हैं, जैसे — अब से, तब से, यहाँ से, वहाँ से, सदा से आदि। नियम के अनुसार अव्यय सदा पृथक् लिखे जाने चाहिए, जैसे — आप ही के लिए, मुझ तक को, आपके साथ, गज भर कपडा, देश भर, रात भर, दिन भर, वह इतना भर कर दे, मुझे जाने तो दो, काम भी नहीं बना, पचास रुपए मात्र आदि। सम्मानार्थक 'श्री' और 'जी' अव्यय भी पृथक् लिखे जाएँ जैसे — श्री श्रीराम, कन्हैयालाल जी, महात्मा जी आदि।

समस्त पदों में प्रति, मात्र, यथा आदि अव्यय पृथक् नहीं लिखे जाएँगे, जैसे — प्रतिदिन, प्रतिशत, मानवमात्र, निमित्तमात्र, यथासमय, यथोचित आदि। यह सर्वविदित नियम है कि समास होने पर समस्त पद एक माना जाता है। अत: उसे व्यस्त रूप में न लिखकर एक साथ लिखना ही संगत है।

(6) श्रुतिमूलक — 'य', 'व'

(क) जहाँ श्रुतिमूलक य, व का प्रयोग विकल्प से होता है, वहाँ न किया जाए, अर्थात् किए-किये, नई-नयी, हुआ-हुवा आदि में से पहले (स्वरात्मक) रूपों का ही प्रयोग किया जाए। यह नियम क्रिया, विशेषण, अव्यय आदि सभी रूपों और स्थितियों में लागू माना जाए, जैसे—दिखाए गए, राम के लिए, पुस्तक लिए हुए, नई दिल्ली आदि।

(ख) जहाँ 'य' श्रुतिमूलक व्याकरणिक परिवर्तन न होकर शब्द का ही मूल तत्व हो वहाँ वैकल्पिक श्रुतिमूलक स्वरात्मक परिवर्तन की आवश्यता नहीं है, जैसे - स्थायी, अव्ययीभाव, दायित्व आदि। यहाँ स्थाई, अव्यईभाव, दाइत्व नहीं लिखा जाएगा।

(7) अनुस्वार तथा अनुनासिकता-चिह्न (चंद्रविंदु)

अनुस्वार ( ं ) और अनुनासिकता चिह्न ( ँ ) दोनों प्रचलित रहेंगे।

(क) संयुक्त व्यंजन के रूप में जहाँ पंचमाक्षर के बाद सवर्गीय शेष चार वर्णों में से कोई वर्ण हो तो एकरूपता और मुद्रण/लेखन की सुविधा के लिए अनुस्वार का ही प्रयोग करना चाहिए, जैसे— गंगा, चंचल, ठंडा, संध्या, संपादक आदि में पंचमाक्षर के बाद उसी वर्ग का वर्ण आगे आता है, अत: पंचमाक्षर के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग होगा (गङ्गा चञ्चल; ठण्डा, सन्ध्या, सम्पादक का

नहीं)। यदि पंचमाक्षर के बाद किसी अन्य वर्ग का कोई वर्ण आए अथवा वही पंचमाक्षर दुबारा आए तो पंचमाक्षर अनुस्वार के रूप में परिवर्तित नहीं होगा, जैसे — वाङ्मय, अन्य, अन्न, सम्मेलन, सम्मति, चिन्मय, उन्मुख आदि। अत: वांमय, अंय, अंन, संमेलन, संमति, चिंमय, उंमुख आदि रूप ग्राह्य नहीं हैं।

(ख) चंद्रबिंदु के बिना प्राय: अर्थ में भ्रम की गुंजाइश रहती है, जैसे — हंस : हँस, अंगना : अँगना आदि में। अतएव ऐसे भ्रम को दूर करने के लिए चंद्रबिंदु का प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए। किंतु जहाँ (विशेषकर शिरोरेखा के ऊपर जुड़ने वाली मात्रा के साथ) चंद्रबिंदु के प्रयोग से छपाई आदि में बहुत कठिनाई हो और चंद्रबिंदु के स्थान पर बिंदु (अनुस्वार चिह्न) का प्रयोग किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न न करें, वहाँ चंद्रबिंदु के स्थान पर बिंदु के प्रयोग की छूट दी जा सकती है, जैसे — नहीं, में, मैं। कविता आदि के प्रसंग में छंद की दृष्टि से चंद्रबिंदु का यथास्थान अवश्य प्रयोग किया जाए। इसी प्रकार छोटे बच्चों की प्रवेशिकाओं में जहाँ चंद्रबिंदु का उच्चारण सिखाना अभीष्ट हो, वहाँ उसका यथास्थान सर्वत्र प्रयोग किया जाए, जैसे — कहाँ, हँसना, आँगन, सँवारना, मैँ, मैँ नहीँ आदि।

## (8) विदेशी ध्वनियाँ

(क) अरबी - फ़ारसी या अंग्रेज़ी मूलक वे शब्द जो हिंदी के अंग बन चुके हैं और जिनकी विदेशी ध्वनियों का हिंदी ध्वनियों में रूपांतर हो चुका है, हिंदी रूप में ही स्वीकार किए जा सकते हैं, जैसे — कलम, किला, दाग आदि (क़लम, क़िला, दाग़ नहीं)।

पर जहाँ उनका शुद्ध विदेशी रूप में प्रयोग अभीष्ट हो अथवा उच्चारणगत भेद बताना आवश्यक हो वहाँ उनके हिंदी में प्रचलित रूपों में यथास्थान नुक्ते लगाए जाएँ, जैसे– खाना: ख़ाना, राज: राज़, फन: फ़ाइफ़न। सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि अ़रबी-फ़ारसी एवं अंग्रेज़ी की मुख्यत: पाँच ध्वनियाँ (क़, ग़, ख़, ज़ और फ़) हिंदी में आई हैं जिनमें से दो (क़ और ग़) तो हिंदी उच्चारण (क, ग) में परिवर्तित हो गई हैं, एक (ख़) लगभग हिंदी 'ख' में खपने की प्रक्रिया में है और शेष दो (ज़, फ़) धीरे- धीरे अपना अस्तित्व खोने/बनाए रखने के लिए संघर्षरत हैं।

(ख) अंग्रेजी के जिन शब्दों में अर्धविवृत 'ऑ' ध्वनि का प्रयोग होता है, उनके शुद्ध रूप का हिंदी में प्रयोग अभीष्ट होने पर 'आ' की मात्रा (ा) के ऊपर

अर्धचंद्र का प्रयोग किया जाए (ऑ, ॅ)। जहाँ तक अंग्रेजी और अन्य विदेशी भाषाओं से नए शब्द ग्रहण करने और उनके देवनागरी लिप्यंतरण का संबंध है, अगस्त-सितंबर, 1962 में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली अयोग द्वारा वैज्ञानिक शब्दावली पर आयोजित भाषाविदों की संगोष्ठी में अंतर्राष्ट्रीय शब्दावली के देवनागरी लिप्यंतरण के संबंध में की गई सिफ़ारिश उल्लेखनीय है। उसमें यह कहा गया है कि अंग्रेजी शब्दों का देवनागरी लिप्यंतरण इतना क्लिष्ट नहीं होना चाहिए कि उसके लिए वर्तमान देवनागरी वर्णों में अनेक नए संकेत-चिह्न लगाने पड़ें। अंग्रेजी शब्दों का देवनागरी लिप्यंतरण मानक अंग्रेजी उच्चारण के अधिक-से-अधिक निकट होना चाहिए। उसमें भारतीय शिक्षित समाज में प्रचलित उच्चारण संबंधी थोड़े-बहुत परिवर्तन किए जा सकते हैं। अन्य भाषाओं के शब्दों के संबंध में भी यही नियम लागू होना चाहिए।

(ग) हिंदी में कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनके दो-दो रूप बराबर चल रहे हैं। विद्वत्समाज में दोनों रूपों की एक-सी मान्यता है। फ़िलहाल इनकी एकरूपता आवश्यक नहीं समझी गई है। कुछ उदाहरण हैं– गरदन/गर्दन, गरमी/गर्मी, बरफ़/बर्फ़, बिलकुल/बिल्कुल, सरदी/सर्दी, कुरसी/कुर्सी, भरती/भर्ती, फ़ुरसत/फ़ुर्सत, बरदाश्त/बर्दाश्त, वापिस/वापस, आखीर/आखिर, बरतन/बर्तन, दोबारा/दुबारा, दूकान/दुकान, बीमारी/बिमारी आदि।

## (9) हल् चिह्न

संस्कृतमूलक तत्सम शब्दों की वर्तनी में सामान्यतः संस्कृत रूप ही रखा जाए, परंतु जिन शब्दों के प्रयोग में हिंदी में हल् चिह्न लुप्त हो चुका है, उनमें उसको फिर से लगाने का यत्न न किया जाए, जैसे – 'महान', 'विद्वान' आदि के 'न्' में।

## (10) स्वन-परिवर्तन

संस्कृतमूलक तत्सम शब्दों की वर्तनी को ज्यों-का-त्यों ग्रहण किया जाए। अतः 'ब्रह्मा' को 'ब्रम्हा', 'चिह्न' को 'चिन्ह', 'उऋण' को 'उरिण' में बदलना उचित नहीं होगा। इसी प्रकार ग्रहीत, दृष्टव्य, प्रदर्शिनी, अत्याधिक, अनाधिकार आदि अशुद्ध प्रयोग गाह्य नहीं है। इनके स्थान पर क्रमशः गृहीत, द्रष्टव्य, प्रदर्शनी, अत्यधिक, अनधिकार ही लिखना चाहिए। जिन तत्सम शब्दों में तीन व्यंजनों के संयोग की स्थिति में एक द्वित्वमूलक व्यंजन लुप्त हो गया है उसे न लिखने की छूट है, जैसे – अर्द्ध/अर्ध, उज्जवल/उज्वल, तत्त्व/तत्व आदि।

(11) विसर्ग

संस्कृत के जिन शब्दों में विसर्ग का प्रयोग होता है, वे यदि तत्सम रूप में प्रयुक्त हों तो विसर्ग का प्रयोग अवश्य किया जाए, जैसे – 'दु:खानुभूति' में। यदि उस शब्द के तद्भव रूप में विसर्ग का लोप हो चुका हो तो उस रूप में विसर्ग के बिना भी काम चल जाएगा, जैसे - 'दुख-सुख के साथी'।

(12) ऐं, 'औं' का प्रयोग

हिंदी में ऐ ( ै), औ (ौ) का प्रयोग दो प्रकार की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए होता है। पहले प्रकार की ध्वनियाँ 'है', 'और' आदि में हैं तथा दूसरे प्रकार की 'गवैया', 'कौवा' आदि में। इन दोनों ही प्रकार की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए इन्हीं चिह्नों (ऐ, ै ; औ, ौ) का प्रयोग किया जाए। 'गवय्या', 'कव्वा' आदि संशोधनों की आवश्यकता नहीं है।

13) पूर्वकालिक प्रत्यय

पूर्वकालिक प्रत्यय 'कर' क्रिया से मिलाकर लिखा जाए, जैसे – मिलकर, खा-पीकर, रो-रोकर आदि।

(14) अन्य नियम

(क) शिरोरेखा का प्रयोग प्रचलित रहेगा।

(ख) फुलस्टॉप को छोड़ कर शेष विराम आदि चिह्न वही ग्रहण कर लिए जाएँ, जो अंग्रेज़ी में प्रचलित हैं, यथा –

( - – , ; ? ! : = )

(विसर्ग के चिह्न को ही कोलन का चिह्न मान लिया जाए)

(ग) पूर्ण विराम के लिए खड़ी पाई (।) का प्रयोग किए जाए।

(15) मानक वर्तनी के प्रयोग का उदाहरण

हिंदी एक विकासशील भाषा है। संघ की राजभाषा घोषित हो जाने के बाद यह शनै: शनै: अखिल भारतीय रूप ग्रहण कर रही है। अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के संपर्क में आकर, उनसे बहुत कुछ ग्रहण करके और अहिंदी भाषियों द्वारा प्रयुक्त होते-होते उसका यथासमय एक सर्वसम्मत अखिल भारतीय रूप विकसित होगा–ऐसी आशा है।

यद्यपि यह सही है कि एक विस्तृत भू-खंड में और बहुभाषी समाज के बीच व्यवहृत किसी भी विकासशील भाषा के उच्चारणगत गठन में अनेकरूपता मिलना स्वाभाविक है, उसे व्याकरण के कठोर नियमों में जकड़ा नहीं जा सकता; उसके प्रयोगकर्ताओं को, किसी ऐसे शब्द को जिसके दो या अधिक संमानांतर रूप प्रचलित हो चुके हों, एक विशेष रूप में प्रयुक्त करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता; ऐसे शब्दरूपों के बारे में किसी विशेषज्ञ समिति द्वारा निर्णय दे देने के बाद भी उनकी ग्राह्यता-अग्राह्यता के विषय में मतभेद बना ही रहता है; फिर भी प्रथमत: कम से कम लेखन, टंकण और मुद्रण के क्षेत्र में तो हिंदी भाषा में एकरूपता और मानकीकरण की तत्काल आवश्यकता है ही। क्या ऐसा करना आज के यंत्राधीन जीवन की अनिवार्यता नहीं है ?

भाषाविषयक कठोर नियम बना देने से उनकी स्वीकार्यता तो संदेहास्पद हो ही जाती है, साथ ही भाषा के स्वाभाविक विकास में भी अवरोध आने का थोड़ा-सा डर रहता है। फलत: भाषा गतिशील, जीवंत और समयानुरूप नहीं रह पाती। हिंदी वर्णमाला के मानकीकरण में और हिंदी वर्तनी की एकरूपता विषयक नियम निर्धारित करते समय इन सब तथ्यों को ध्यान में रखा गया है और इसीलिए, जहाँ तक बन पड़ा है, काफी हद तक उदारतापूर्ण नीति अपनाई गई है।

## 3. हिंदी के संख्यावाचक शब्दों की एकरूपता

हिंदी प्रदेशों में संख्यावाचक शब्दों के उच्चारण और लेखन में प्राय: एकरूपता का अभाव दिखाई देता है। शिक्षा मंत्रालय द्वारा प्रकाशित ए बेसिक ग्रामर ऑफ़ मॉडर्न हिंदी में भी इस एकरूपता का अभाव था। अत: निदेशालय में 5-6 फरवरी, 1980 को आयोजित भाषाविज्ञानियों की बैठक मे इस पर गंभीरता से विचार किया गया। तदनुसार एक से सौ तक सभी संख्यावाचक शब्दों पर विचार करने के बाद इनका जो मानक रूप स्वीकृत हुआ, वह इस प्रकार है :

### एक से सौ तक संख्यावाचक शब्दों का मानक रूप

| | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| एक | दो | तीन | चार | पाँच | छह | सात | आठ | नौ | दस |
| ग्यारह | बारह | तेरह | चौदह | पंद्रह | सोलह | सत्रह | अठारह | उन्नीस | बीस |
| इक्कीस | बाईस | तेईस | चौबीस | पच्चीस | छब्बीस | सत्ताईस | अट्ठाईस | उनतीस | तीस |
| इकतीस | बत्तीस | तैंतीस | चौंतीस | पैंतीस | छत्तीस | सैंतीस | अड़तीस | उनतालीस | चालीस |
| इकतालीस | बयालीस | तैंतालीस | चवालीस | पैंतालीस | छियालीस | सैंतालीस | अड़तालीस | उनचास | पचास |
| इक्यावन | बावन | तिरपन | चौवन | पचपन | छप्पन | सतावन | अठावन | उनसठ | साठ |

| | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| इक्सठ | वासठ | तिरसठ | चौंसठ | पैंसठ | छियासठ | सड़सठ | अड़सठ | उनहत्तर | सत्तर |
| इकहत्तर | बहत्तर | तिहत्तर | चौहत्तर | पचहत्तर | छिहत्तर | सतहत्तर | अटहत्तर | उनासी | अस्सी |
| इक्यासी | बयासी | तिरासी | चौरासी | पचासी | छियासी | सतासी | अठासी | नवासी | नब्बे |
| इक्यानवे | बानवे | तिरानवे | चौरानवे | पचानवे | छियानवे | सतानवे | अठनवे | निन्यानवे | सौ |

## 4. परिवर्धित देवनागरी

केंद्रीय हिंदी निदेशाल्य का एक प्रमुख उद्देश्य देवनागरी को भारतीय भाषाओं के लिप्यंतरण का सशक्त माध्यम बनाना भी रहा है। इसके लिए यह आवश्यक था कि देवनागरी में अन्य भाषाओं की ध्वनियों के सूचक प्रतीक विकसित किए जाएँ। अत: निदेशालय ने विशेषज्ञों के साथ विचार-विमर्श के बाद सन् 1966 में **परिवर्धित देवनागरी** नामक एक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमें दक्षिण भारत की भाषाओं तथा कश्मीरी के विशिष्ट स्वरों और व्यंजनों के अतिरिक्त सिंधी और उर्दू की विशिष्ट ध्वनियों के लिप्यंतरण के लिए देवनागरी में अपेक्षित परिवर्धन किया गया। सिंधी को छोड़कर शेष सभी भारतीय भाषाओं में संविधान के एक अंश का लिप्यंतरण इस परिवर्धित देवनागरी में किया गया था।

परिवर्धित देवनागरी की न्यूनताओं पर बाद में भी विचार चलता रहा और इनके निराकरण के लिए प्रयास किया गया और विद्वानों से इस प्रसंग में सम्मतियाँ भी माँगी गई। प्राप्त सम्मतियों और सुझावों के अनुसरण में एक तुलनात्मक सारणी बनाई गई जिसमें संविधान की अष्टम अनुसूची की सभी भाषाओं को समाविष्ट किया गया । वह सारणी निदेशालय की विभिन्न बहुभाषी कोश-योजनाओं में काफी सहायक सिद्ध हुई। कालांतर में इस सारणी में भी संशोधन-परिवर्धन करने की आवश्यकता जान पड़ी। अत: 5-6 फरवरी, 1980 को निदेशालय में भाषा-विशेषज्ञों की एक बैठक हुई, जिसमें परिवर्धित देवनागरी में निम्नलिखित सुधार किया गया :

**(1) हटाए गए लिपिचिह्न :**

(क) कश्मीरी : इ॰, उ॰, ज, ञ

(ख) संस्कृत : ऌ, ॡ

**(2) जोड़े गए लिपिचिह्न**

(क) कश्मीरी : ॲ, ऑ

(ख) हल्चिह्न :

(इ) परिवर्तित लिपिचिह्न

| पूर्व रूप | | परिवर्तित रूप |
|---|---|---|
| (क) कश्मीरी ह्रस्व आ | अं | आं |
| (ख) दक्षिण भारतीय भाषाओं में ह्रस्व ए : | ऍं | एं |
| (ग) सिंधी अंतःस्फोटी | द | ड़ |
| (घ) मलयालम | ष़ | ळ |

(ङ) उर्दू-फ़ारसी अथवा अरबी ऽ (अ़) को व्यंजन मानते हुए इनके साथ अच्छा मात्राएँ इस प्रकार जुड़ेंगी अ़ि, अ़ी, अ़ु आदि।

इस प्रकार परिवर्धित देवनागरी वर्णमाला सारणी का जो रूप स्वीकृत हुआ है, वह निम्नलिखित है :

## परिवर्धित देवनागरी वर्णमाला

देवनागरी वर्णमाला

स्वर : अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ए ऐ ओ औ

मात्राएँ : ा ि ी ु ू ृ ॄ े ै ो ौ

अनुस्वार : ं (अं)

विसर्ग : ः (अः)

अनुनासिकता चिह्न ँ

व्यंजन : क ख ग घ ङ
च छ ज झ ञ
ट ठ ड ढ ण ड़ ढ़
त थ द ध न
प फ ब भ म
य र ल व ळ
श ष स ह

सयुक्त व्यजन : क्ष त्र ज्ञ श्र

हल् चिहन :-

विशेषक चिह्न :

स्वर : (1) ह्रस्व ए और औ ऍ ऑ

मात्राएँ ॅ ॉ

(2) कश्मीरी के विशिष्ट स्वर उं ऊं अं आं ऍं ऑं

मात्राएँ ु ू ं ा ॅं ॉं

व्यंजन :(1) कश्मीरी चवर्ग च़ छ़

(2) सिंधी अंत:स्फोटी व्यंजन ग़ ज़ ड़ ब़

(3) तमिळ ழ और मलयाळम ഴ ऴ

(4) बंगला-असमिया य़

(5) दक्षिण भारतीय भाषाओं

के 'र' का कठोर उच्चारण ऱ

(6) तमिळ ன न

(7) मलयाळम का वर्त्स्य उच्चारण ऩ

(8) फ़ारसी-अरबी और

अंग्रेजी से गृहीत स्वन क़ ख़ ग़ ज़ झ़ फ़

(9) उर्दू ऐन (ع) अ

स्थिति के अनुसार अ़ा (अ़ादत), अ़ि (अ़िबादत)

अ़ी (अ़ीद), अ़ु (अ़ुमर),

अ़ै (अ़ैब), अ़ौ (अ़ौरत), आदि

5. पैराग्राफों आदि के विभाजन में सूचक वर्णों तथा अंकों का प्रयोग

देखने में आया है कि अंग्रेज़ी-हिंदी अनुवादों में तथा अन्य प्रशासनिक साहित्य

विषय में विभाजन, उपविभाजन तथा पैराओं-उपपैराओं का क्रमांकन करते समय अंग्रेजी के A, B, C, a, b, c के लिए कही क, ख, ग तथा कहीं अ, आ, इ और कहीं अ, ब, स का प्रयोग किया जाता है। यह अनेकता भी हिन्दी के मानक स्वरूप के विकास में बाधक रही हैं। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय में इस विषय पर भाषा विशेषज्ञों की दिनांक 5-6 फरवरी 1990 की बैठक में विचार विमर्श के बाद यह निर्णय किया है कि A, B, C अथवा a, b, c के लिए हिन्दी में सर्वत्र क, ख, ग का प्रयोग किया जाय। जहाँ रोमन वर्ण ज्येष्ठक में हो, वहाँ देवनागरी वर्णों की भी कोष्ठकों में रखा जाय। विषय के विभाजन उपविभाजन, पैराओं या उपपैराओं के लिए अंतर्राष्ट्रीय अंकों अर्थात् 1, 2, 3 के प्रयोग के साथ साथ आवश्यकता के अनुसार रोमन i, ii, iii आदि का भी प्रयोग किया जा सकता है। उपर्युक्त पद्धति को निम्नलिखित नमूने में उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है।

पैराग्राफों के विभाजन में सूचक वर्णों तथा अंकों का प्रयोग

| **GRAMMAR** | व्याकरण |
|---|---|
| I. The Alphabet | I. वर्णविचार |
| A. Vowels | क. स्वर |
| 1. Definition of Vowel | 1. स्वर की परिभाषा |
| 2. Kinds of Vowels | 2. स्वर भेद |
| (I) According to form | (i) रचना के अनुसार |
| (i) basic (Monophthong) | (ii) मूल (एकस्वरक) |
| (ii) lengthened | (ii) दीर्घीकृत |
| (a) long | (क) दीर्घ |
| (b) protracted | (ख) प्लुत |
| (iii) dipthong | (iii) संध्यक्षर |
| (2) According to nasality | (2) अनुनासिकता के आधार पर |
| (i) oral/non-nasal | (i) मौखिक/निरनुनासिक |
| (ii) nasal | (ii) अनुनासिक |
| B. Consonants | ख. व्यंजन |
| II. The Word | II. शब्दविचार |
| III. The Sentence | III. वाक्यविचार |
| IV. Composition | IV. रचना |

# हिंदी वर्णमाला : लेखन विधि

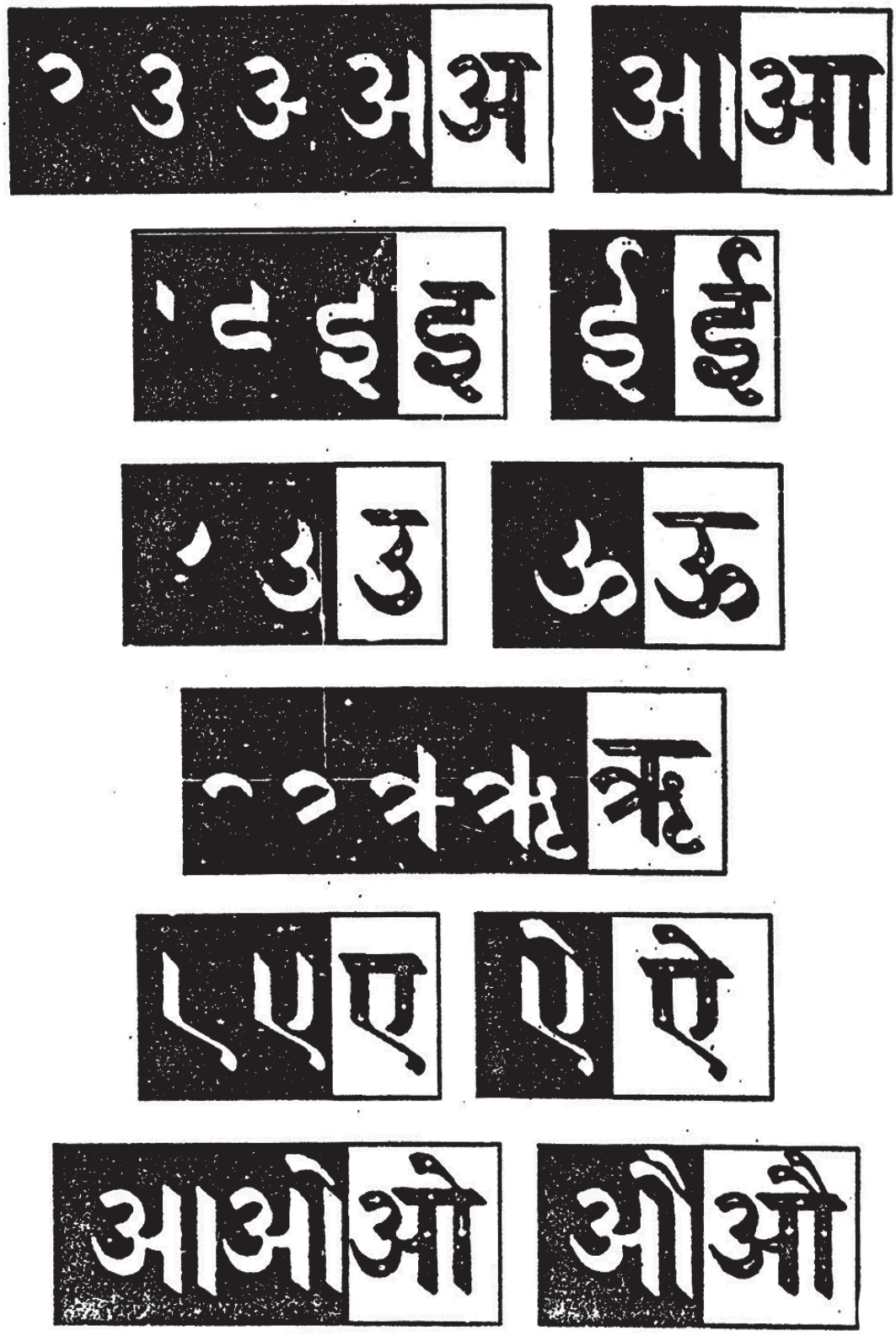

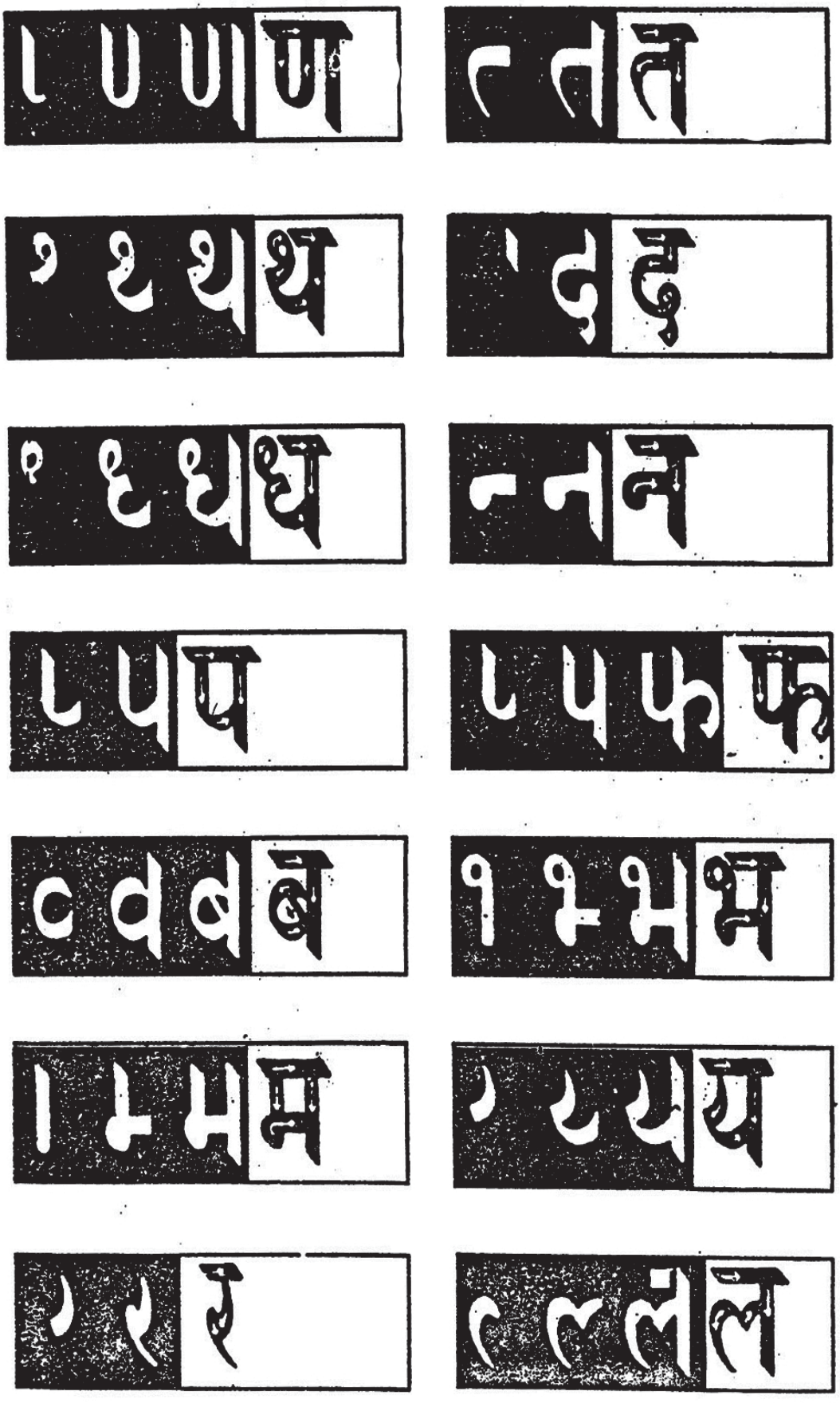
ट ठ ड ढ ण
त थ द ध न
प फ ब भ म
य र ल ळ व